अपनी मृत्यु के पूर्व सन् १५१५ मे हरमुज पर उसने पुर्तगाली पताक
फहरा दी। इस तरह थोड़े ही काल मे एलबुकर्क की दूरदर्शिता, चतुरत
और वीरता से पूर्व मे पुर्तगाल एक बड़ी शक्ति बन गया।

पुर्तगालियों का पतन—परन्तु यह शक्ति बहुत दिन तक क़ायम
रह सकी। एलबुकर्क के मरने पर इसका संचालन ऐसे लोगो के हाथ
आया, जिन्हें वास्तविक अवस्था का पूरा ज्ञान न था। पुर्तगाली कट्टर ईस
थे, पोप के आज्ञा पत्र के बल पर उन्होने भारतवर्ष मे अपना राज्य जमान
चाहा था। वास्कोडगामा पहली बार जब भारतवर्ष मे आया था, उस
अनुमान था कि मुसलमानो को छोड़कर सब भारतवासी ईसाई है। इ
विश्वास पर कालीकट के निकट एक हिन्दू-मन्दिर मे पुर्तगालियो ने पूजन भ
किया था। हिन्दू-मूर्तियों को वे ईसाई-सन्तो की मूर्तिया समझते थे। पुर्तगा
के राजा भी इसी भुलावे मे थे, केब्राल को आज्ञा-पत्र देते समय इन 'पथभ्र
ईसाइयो को 'सदुपदेश' देने के लिए कहा गया था[1]। वास्कोडगामा कु
लोगो को पकड ले गया था, वे पक्के ईसाई बनकर वापस आये। कालीक
निवासियो ने उनके साथ खाना-पीना अस्वीकार किया, तब पुर्तगालियो
आँखें खुली, और उनको अपनी भूल का पता लगा। तभी से ईसाई-
के प्रचार का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

धर्म-प्रचार की धुन मे व्यापार और साम्राज्य का ध्यान जाता
एलबुकर्क सा दूरदर्शी शासक भी इसी धुन मे पड गया। गैर-ईसाई ज
को तरह तरह की पीडाएँ दी जाने लगीं। संन्यासियो का रूप धारण
भोली भाली जनता को धोखा दिया जाने लगा, और 'ज्ञानोपदे
नाम से ईसाई-मत का प्रचार होने लगा। पादरी लोग राज-काज
हस्तक्षेप करने लगे। ये लोग उत्तरी भारत भी जा पहुँचे और
सम्राट् अकबर तक को ईसाई बनाने का स्वप्न देखने लगे।
भारतवर्ष ईसाई न बन सका, पर इस धर्म-प्रचार का यह फल अवश्य हु

---

१ डाडवे, राइज ऑफ दि पोर्चुगीज पावर इन इंडिया, पृ० ३०।

ईस्ट इंडिया कम्पनी—सन १५८८ में अंगरेजों ने स्पेन के एक बड़े भारी जहाजी बेड़े 'आर्मेडा' को नष्ट कर डाला। इस विजय के आनन्द में अंगरेजों को सागर-साम्राज्य का स्वप्न दिखलाई देने लगा। अंगरेज-जहाज स्पेन और पुर्तगाली जहाजों को लूटने लगे। इन दोनों जातियों के व्यापार में भी हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर मिल गया। सन् १६०० में लन्दन के व्यापारियों की एक कम्पनी स्थापित हुई, जिसको पूर्व में व्यापार करने के लिए महारानी एलिजबेथ ने आज्ञा दी। कुछ दिनों तक तो मसाले के टापुओं में व्यापार जमाने का प्रयत्न होता रहा, पर सन् १६०३ में मिल्डन हाल नामक अंगरेज फिर सम्राट् अकबर के पास भेजा गया। इस बार भी पुर्तगालियों ने सम्राट् के कान भर दिये, और मिल्डन हाल को कोरे ही विलायत वापस जाना पड़ा।

हाकिंस और सर टामस रो—सन् १६०८ में इंगलैंड के राजा जेम्स का एक पत्र लेकर हाकिंस सम्राट जहांगीर के दरबार में पहुँचा, और विचित्र कहानियां सुना सुनाकर उसने मन-मौजी सम्राट् पर अपना खूब रंग जमाया। जहांगीर उसको 'इंगलिश-खां' कहा करता था, परन्तु पुर्तगालियों के षड्यंत्र से उसे भी शीघ्र ही दरबार छोड़ना पड़ा। सन् १६१२ में गुजरात के मुगल सूबेदार के अनुग्रह से जैसे तैसे सूरत में अंगरेजों की सबसे पहली कोठी खोली गई। भारतवर्ष के पश्चिमी तट पर सूरत उन
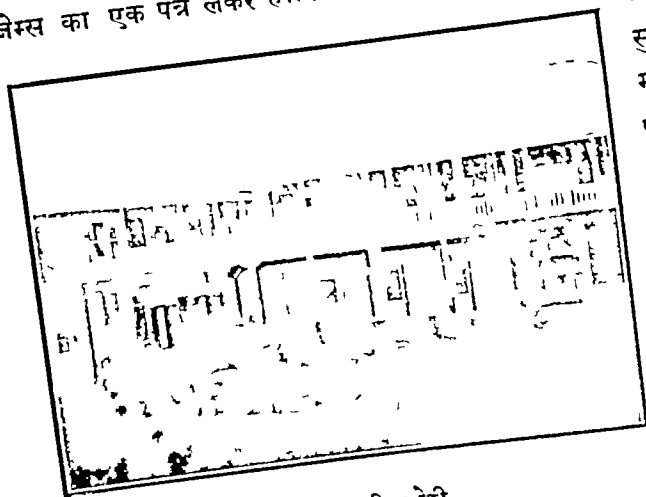
सूरत की कोठी

दिनों सबसे मुख्य स्थान था। यहां सब तरह का व्यापार होता था, और पूर्वीय द्वीपों के जहाज़ ठहरते थे। यहां भी पुर्तगालियों ने अँगरेजों का पीछा न छोड़ा, वे मुगल सूबेदार को अगरेजों के विरुद्ध बहकाने लगे, परन्तु अगरेजों ने समुद्र पर इनकी अच्छी खबर ली। फारस की खाडी में ईरानियों की सहायता से इन्होंने उरमुज छीन लिया, और पुर्तगाली जहाजों को अच्छी तरह लूटा। हाकिंस के चले जाने पर कुछ दिनों तक मुगल दरबार में अंगरेजों की कोई सुनवाई न हुई। सन् १६१५ में कम्पनी की प्रार्थना पर इंग्लैंड के राजा पहले जेम्स ने सर टामस रो को अपना राजदूत बनाकर जहांगीर के दरबार में भेजा। टामस रो तीन वर्ष तक मुगल दरबार में रहा, सब तरह से इसने सम्राट् को रिझाया, पर इँग्लेंड से छोटे द्वीप के राजा के साथ मुगल सम्राट् बराबर की सन्धि करने के लिए राजी न हुआ। अन्त में रो को शाही फरमान पर ही सन्तोष करना पडा। इसके द्वारा गुजरात के सूबेदारों को आज्ञा दी गई कि वे सूरत और अहमदाबाद के अगरेज कोठीवालों को तग न किया करें साथ ही उन्हें देश भर में व्यापार करने तथा अपने धर्मानुसार रहने के अधिकार दिये गये। चलते समय रो ने कम्पनी को सदा व्यापार में लगे रहने की सलाह दी, और राजनैतिक झगडों में पडने से मना किया। उसका मत था कि व्यापार और युद्ध दोनों एक साथ नहीं हो सकते।

मदरास, कलकत्ता और बम्बई—पश्चिमी तट पर कई एक कोठिया खोलकर अंगरेज पूर्व की ओर बढने लगे। सन् १६२५ में नीलोर जिले में अरमगांव में इन्होंने एक कोठी खोली, पर यहां के शासकों से तग आकर सन् १६३९ में पूर्वी तट पर इन्होंने कुछ जमीन भाडे पर ली। बाद को यहां के नायक से समझौता करके चन्द्रगिरि के राजा की आज्ञानुसार इन्होंने भारत-भूमि पर सेंट जार्ज नाम का पहला किला बनाया। यह किला और इसके आस-पास की आबादी ही आधुनिक मदरास है। सूरत के अगरेज डाक्टर बाउटन के इलाज से सम्राट् शाहजहां की लडकी जहांनारा अच्छी हो गई, इस पर अगरेजों को बंगाल में भी व्यापार करने की अनुमति मिल गई। सन् १६३३ में पहले बालासोर में एक कोठी बनी फिर सन् १६५१ में हुगली के

पास एक बस्ती बसाई गई। सन १६९० में कम्पनी के एक गुमाश्ता जोब चार्नक ने वर्तमान कलकत्ता नगर की नींव डाली, यहीं पर फोर्ट-विलियम किला बना। सन १६६१ में इँगलैंड के राजा दूसरे चार्ल्स को बम्बई का द्वीप दहेज में मिला। यह द्वीप पुर्तगालियों के पास था, डच लोगों के विरुद्ध

मदरास किले का एक भीतरी दृश्य

अँगरेज़ी सहायता लेने की आशा से पुर्तगाल ने इस स्थान को दहेज में दि था। उस समय चार्ल्स इस स्थान के महत्त्व को न समझ सका, और केव दस पौंड सालाना पर उसने यह द्वीप कम्पनी को दे दिया। जैसे जै अँगरेजों की बढ़ती होती गई, इन स्थानों में अधिक भूमि मिलती गई, औ अन्त में ब्रिटिश भारत के ये तीन मुख्य प्रान्त होगये। ये तीनों प्रान् प्रेसीडेंसी कहलाते हैं। प्रेसीडेंसी पहले उस जगह का नाम था, जह कम्पनी की किसी कोठी का अध्यक्ष अथवा प्रेसीडेंट और उसकी कौंसिल मेम्बर रहते थे।

मुगलों के साथ युद्ध—सन् १६८२ में जोशिया चाइल्ड सूरत की कोठी का अध्यक्ष नियुक्त हुआ। इस समय भारतवर्ष में औरंगजेब का शास

था, उनकी नीति से प्रजा असन्तुष्ट हो रही थी। दक्षिण में मराठों ने बगावत कर दी थी, दूसरे प्रान्तों मे भी अशान्ति की आग सुलग रही थी। ऐसी दशा में अँगरेजों को भी अपना राज्य स्थापित करने की सूझने लगी। वे बंगाल के सूबेदार से लड़ बैठे। फल यह हुआ कि मुगल सम्राट् की आज्ञा से पटना कासिम-बाजार और मछली-पट्टन की कोठियाँ अँगरेजों से छीन ली गई। सूरत से भी अँगरेजों को निकाल बाहर करने की आज्ञा हो गई। अँग-

पुराना कलकत्ता
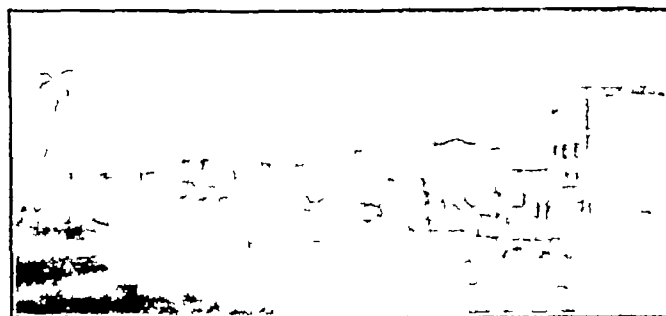
रेजों की इस समय क्या शक्ति थी कि वे मुगल सम्राट् का सामना कर सकते। बिना सोचे-समझे उन्होंने सेना भेजने के लिए विलायत लिख दिया था। अब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। परन्तु उन्होंने इस समय पर बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया। पश्चिमी तट पर जो मुगल जहाज थे उन्हें लूट लिया, और हज्ज के लिए मक्का शरीफ जानेवाले मुसलमान यात्रियों को तंग करना शुरू किया। इस पर औरंगजेब ने अपनी नीति बदल दी, १५ हजार पौंड जुरमाना लेकर कम्पनी को क्षमा कर दिया, और फिर से व्यापार करने की आज्ञा दे दी।

संयुक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी—सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में इंग्लैंड में कम्पनी के बहुत से विरोधी उत्पन्न होगये। इसका मालामाल देखकर और व्यापारी भी भारतवर्ष में व्यापार करने का विचार करने

लगे। थोड़े दिन बाद उन्होंने एक नई कम्पनी बनाई। पुरानी कम्पनी क
सचालक इसे सहन न कर सके, फल यह हुआ कि दोनो मे खूब झगड़ा
चल पडा। इँग्लेड और भारत दोनो देशो मे दोनो कम्पनियो के कर्म
चारी आपस मे लडने लगे। इस परस्पर की फूट मे व्यापार को बहुत
धक्का पहुँचा, और दोनो कम्पनियो को ज्ञात होगया कि इससे किसी क
भी लाभ न होगा। इस पर दोनो ने समझौता कर लिया और सन् १७०८
मे ये दोनो कम्पनियाँ एक मे मिला दी गई। आगे चल कर इसी संयुक्त
ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारतवर्ष मे राज्य हुआ।

अन्य विदेशी कम्पनियो की तरह इसका सचालन इँग्लेड क
सरकार के हाथ मे न था। पाच सौ पौंड के हिस्सेदारो की एक सभ
थी, जो 'कोर्ट आफ प्रोप्राइटर्स' कहलाती थी, कम्पनी के सम्बन्ध की सा
बातो का अन्तिम निर्णय इस संस्था के हाथ मे था। इसमे से चुने हु
कुछ मेम्बरो की एक छोटी समिति थी, जो 'कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स' के नाम
से प्रसिद्ध थी। कम्पनी का सचालन और साधारण प्रबन्ध इस समि
के हाथ में था। इन दोनो संस्थाओ मे बडी खटपट रहती थी। भ
वर्ष मे बम्बई, मदरास और कलकत्ता ये तीन मुख्य स्थान थे, जहाँ
इसके अध्यक्ष रहते थे। इन अध्यक्षों की एक छोटी सी कौंसिल भी रह
थी। इँग्लेड के राजा दूसरे चार्ल्स के एक आज्ञा-पत्र से इनको अप
रक्षा के लिए कुछ सेना रखने और गैर-ईसाई शक्तियो से युद्ध तथा सन्धि
करने के भी अधिकार मिल गये थे। इनका व्यापार बनियो के द्वारा हो
था। हर एक बनिये के कई एक गुमाश्ते रहते थे, जो अध्यक्ष का परवाना
लेकर माल खरीदने के लिए जमीन्दारो के पास जाते थे। गाँवो मे इन
रहने का स्थान कचहरी कहलाता था। हरकारो के द्वारा यहाँ वह दलाल
और जुलाहो को बुलाता था, और उनको कुछ पेशगी देकर लिखा ले
था कि अमुक समय तक इतना माल उनको इतने दाम पर देना होगा।

इन दिनो कम्पनी के कर्मचारियो का वेतन बहुत कम होता
कोठियो के अध्यक्षो को पचास रुपया माहवार से अधिक न मिलता थ

निजी लाभ के लिए वे किसी प्रकार का व्यापार न कर सकते थे इसका एक-मात्र अधिकार केवल कम्पनी को था। ऐसी दशा में अनुचित उपायों से वे अपना काम चलाते थे। इँग्लेंड से इनका निरीक्षण असम्भव सा था, क्योंकि कम से कम एक वर्ष में तो वहा से पत्र ही आता था। सारा काम बड़े बड़े अध्यक्षों के हाथ में था। कम्पनी के सचालक, डाइरेक्टरो को, इनकी कार्रवाइयों का पता तक भी न लगता था।

फ्रांसीसी कम्पनी—पुर्तगाल, हालेंड और इँग्लेंड की देखादेखी सत्रहवीं शताब्दी में फ्रास ने भी भारतवर्ष से व्यापार प्रारम्भ किया। सन् १६४२ में फ्रासीसी मत्री रीशलू के उद्योग से एक कम्पनी स्थापित हुई पर इसका काम नही चला, इसलिए सन् १६६४ में एक दूसरी कम्पनी स्थापित की गई। इस कम्पनी ने एक कोठी सूरत में और दूसरी मछली-पट्टन में खोली। इसके दस वर्ष बाद पाडुचेरी की नींव पड़ी। कलकत्ता के पास चन्द्रनगर में भी इन लोगो ने एक कोठी खोली। इन दिनो यूरोप में हालेंड और फ्रास में युद्ध छिड़ा हुआ था, इसका प्रभाव भारत-वर्ष में भी पड़ा। यहाँ भी फ्रासीसी और डच लोगो में झगड़ा होने लगा। सन् १६६५ में डच लोगो ने पाडुचेरी पर अधिकार कर लिया, परन्तु बाद को सन्धि हो जाने पर लौटा दिया। फ्रासीसियो ने भी डच व्यापार को सब क्षति पहुँचाई। इन दोनो की अनबन से इँग्लेंड ने मनमाना लाभ उठाया। मुगल साम्राज्य का पतन होने पर फ्रास को भी भारत में राज्य स्थापित करने की सूझी, पर इस उद्योग में उसको इँग्लेंड से घोर लड़ाई करनी पड़ी, जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा।

अन्य कम्पनियाँ—सन् १६१६ में डेन्मार्क-निवासियो ने भी एक कम्पनी बनाई। सन १६७६ में कलकत्ता के निकट श्रीरामपुर में इनकी कोठी खुली। सन १७३१ में स्वेडनवालो ने भी इसके लिए प्रयत्न किया। सन १७४४ में प्रशिया के राजा, और सन १७८१ में आस्ट्रिया के सम्राट् ने भी कम्पनियाँ स्थापित कीं। प्रशिया की कम्पनी के साथ ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारी अपना निजी व्यापार करते थे। जब सचालकों को पता चला

लगा, तब उन्होंने इसको रोकने के लिए बड़ी कड़ी आज्ञा दी। यूरोप के राजनैतिक झगड़ों और डच तथा अँगरेजों के प्रबल विरोध के कारण, इन कम्पनियों को सफलता प्राप्त न हुई, और थोड़े ही दिनों में इनका काम बन्द होगया।

अँगरेज़ों की सफलता—सत्रहवीं शताब्दी में भारत की अतुल सम्पत्ति देखकर यूरोप की सभी जातियाँ ललचा रही थीं। इसके व्यापार में सभी ने हिस्सा लगाना चाहा, पर अन्त में अँगरेजों के सिवा और किसी की दाल न गली। इसके कई कारण थे। पुर्तगाली सबसे पहले आये, पर वे भारत की परिस्थिति को न समझ सके। धर्मप्रचार की धुन में पड़कर उन्होंने अपना व्यापार अपने हाथ चौपट कर डाला। उनकी संकीर्ण नीति और उसके परिणामों का उल्लेख किया जा चुका है। अलमिडा की सलाह पर न चलकर उन्होंने भारी भूल की। उनकी जहाजी शक्ति सदा कमज़ोर रही। पुर्तगालियों के बाद डच लोग आये। ये बड़े साहसी और वीर थे, इनके पास धन की कमी न थी, और राज्य की ओर से भी पूरी सहायता मिलती थी। परन्तु इनका ध्यान भारत की अपेक्षा मसाले के टापुओं की ओर अधिक था, इसके अलावा जहाजी ताक़त में अँगरेजों का मुक़ाबला करना सहज न था। फ्रांसीसी औरों की अपेक्षा देर में आये। उनकी कम्पनी सरकारी कम्पनी थी, उसके कारबार में वहाँ के राजकर्मचारी बराबर हस्तक्षेप किया करते थे। फ्रांसीसी व्यापार-कला में दक्ष न थे, इसीलिए व्यापार में उन्होंने कोई विशेष उन्नति नहीं की। अँगरेजों ने प्रारम्भ से ही अपनी जहाजी ताक़त बढ़ाने का प्रयत्न किया। भारत के व्यापार में वे सागरों का महत्त्व भली भाँति समझते थे। उनके नाविक चतुर और साहसी थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज्य से विशेष सम्बन्ध न था। प्रसिद्ध व्यापारियों के उद्योग से ही उसकी स्थापना हुई थी। इस समय इसका संगठन ऐसा था कि राजकर्मचारियों को मनमाना हस्तक्षेप करने का अवसर बहुत कम मिलता था। इँग्लेंड के राजा रुपये के लालच से सदा इसकी सहायता करने के लिए उद्यत रहते थे। कम्पनी के कर्मचारी बड़े व्यापार-कुशल

परिच्छेद २

फ़्रांसीसी और अँगरेज़

राजनैतिक अशान्ति—मुगल सम्राट् औरंगजेब के जीवनकाल में ही उसकी अनुदार नीति के कारण देश भर में अशान्ति की आग सुलग रही थी, उसके मरने पर तो वह पूर्ण रूप से भभक उठी। थोड़े ही दिनों में मराठों का दिल्ली तक आतंक जम गया। पंजाब में सिक्ख बिगड़ पड़े। राजपूत साम्राज्य से अलग होगये। चतुर मुसलमान सरदार भी स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। सन् १७२२ में दक्षिण का सूबेदार आसफ़शाह वज़ीर बनाया गया, दो ही वर्ष में उसने दिल्ली दरबार की दुर्दशा देख ली और सन् १७२४ में वापस जाकर हैदराबाद में निजाम राज्य की नींव डाली। अवध के सूबेदार सादतखाँ ने दिल्ली से सम्बन्ध तोड़ दिया। बंगाल के सूबेदार अलीवर्दीखाँ ने राज्य-कर भेजना बन्द कर दिया। गंगा के उत्तरी भाग में रुहेलों ने रुहेलखण्ड का राज्य स्थापित कर लिया। इस तरह कुल ही पचीस वर्ष में सारा मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, सूबे स्वतन्त्र हो गये, और अकबर के उत्तराधिकारी नाम-मात्र के लिए सम्राट् रह गये। सारे देश में अशान्ति फैल गई, और आपस ही में युद्ध छिड़ गया। ऐसी दशा में यूरोप के लोगों को भारत में अपनी शक्ति दृढ़ करने का अच्छा अवसर मिल गया। इनमें इस समय केवल अंगरेज़ और फ़्रांसीसियों का ही अधिक ज़ोर था। इन दोनों ने पहले दक्षिण

में कभी एक का और कभी दूसरे का पक्ष लेकर राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया।

फ्रांसीसी शक्ति की वृद्धि—सन् १७०१ में पाडुचेरी की नींव डालनेवाला मार्टिन फ्रासीसियो के अधिकृत स्थानो का मुख्य अध्यक्ष बनाया गया। इस समय पाडुचेरी के अतिरिक्त मछलीपट्टन, सूरत, कालीकट, बालेश्वर, ढाका, पटना, चन्द्रनगर और कासिमबाजार मे फ्रासीसियो की थोड़ी बहुत जमीन थी। मार्टिन की अध्यक्षता मे पाडुचेरी की बहुत कुछ उन्नति हुई, उसकी आबादी बढ गई, और उसमे अच्छी अच्छी इमारतें बन गई। मार्टिन देशी शासको से बहुत मेल रखता था और उनके अधीन रह-कर ही फ्रासीसी शक्ति को दृढ करना चाहता था। सन् १७२३ मे कम्पनी की आर्थिक दशा सुधर जाने से इसके व्यापार मे भी बहुत कुछ उन्नति हुई। दस ही पन्द्रह वर्ष मे इसका व्यापार इतना बढ गया कि अँगरेज घबडा उठे। अँगरेजी कम्पनी के संचालको ने इँग्लेंड से लिख भेजा कि फ्रासीसी व्यापार की पूरी देख-रेख रखनी चाहिए, और उनको इसका बराबर पता मिलना चाहिए। अँगरेजो को इस बात की बडी शिकायत थी कि फ्रासीसी उनके जुलाहो को बहका ले जाते थे। इसको रोकने के लिए उन्हे देशी शासको से सहायता लेनी पडती थी।

ड्यूमा की सफलता—सन् १७३५ मे ड्यूमा पाडुचेरी का अध्यक्ष बनाया गया। यह बडा दूरदर्शी और चतुर मनुष्य था, मार्टिन की नीति पर चलकर इसने देशी शासको से बडा मेल-जोल पैदा किया। कर्नाटक के नवाबो का यह बडा मित्र था। जब मराठो ने आक्रमण किया, तब इसने नवाब के कुटुम्ब को पाडुचेरी मे स्थान दिया। इस पर मराठे बहुत बिगडे, पर इसने बडी चतुरता से राघोजी भोंसला का क्रोध शान्त किया। माही इसके पहले ही फ्रासीसियो के हाथ मे आगई थी, तजोर के राजा को कुछ रण-सामग्री देकर इसने कारीकल पर भी अपना अधिकार जमा लिया। इसकी प्रशसा दूर दूर तक पहुँचने लगी। मुगल सम्राट् ने प्रसन्न होकर सिक्का डालने का अधिकार फ्रासीसियो को दे दिया, और ४,५०० सवारो का

प्रारम्भ कर दिया। इस पर डूप्ले ने मदरास के अध्यक्ष को उदासीन रहने के लिए लिख भेजा पर वहाँ से जवाब मिला कि सरकारी बेड़ा उनके अधीन नहीं है। पांडुचेरी सुरक्षित स्थान न होने से डूप्ले लड़ाई के लिए तैयार न था, इसलिए उसने अर्काट के नवाब अनवरुद्दीन से फ्रांसीसियों की रक्षा करने की प्रार्थना की। नवाब ने अँगरेजों को लिख भेजा कि यदि वे पांडुचेरी पर हमला करेंगे तो उनके लिए अच्छा न होगा। इस पर अँगरेजों ने मदरास पर आक्रमण करने से फ्रांसीसियों को रोकने के लिए भी कहा

मदरास पर फ्रांसीसियों का अधिकार

इधर डूप्ले ने भी फ्रांसीसी सरकार के एक जहाजी बेड़े को बुला भेजा। इस बेड़े का अध्यक्ष लाबरडोने था। यह पहले भी भारतवर्ष आ चुका था।

इसने आते ही मदरास पर धावा कर दिया, और बिना लड़े-भिड़े अँगरेजों को निकाल बाहर किया। इस तरह सन १७४६ में मदरास पर फ्रांसीसी पताका फहराने लगी।

डूप्ले और लाबरडोने की आपस में न पटती थी, ये दोनों बड़े घमंडी और उद्दंड स्वभाव के आदमी थे। डूप्ले भारतवर्ष में फ्रांसीसियों का अध्यक्ष था, लाबरडोने फ्रांस के सरकारी जहाजों का अफसर था, इसलिए ये दोनों एक दूसरे को अपने अधीन समझते थे। लाबरडोने जब से पांडुचरी आया था, तभी से उसका डूप्ले से झगड़ा चल रहा था। वह डूप्ले की आज्ञा प्राप्त किये बिना ही एक बड़ी रकम के बदले में तीन महीने के अन्दर अँगरेजों को मदरास लौटा देने का वचन देकर फ्रांस वापस चला गया। डूप्ले ने इस समझौते को मानने से इनकार कर दिया।

सेंट टोम की चढ़ाई—फ्रांसीसियों ने अर्काट के नवाब की आज्ञा के विरुद्ध मदरास पर धावा किया था, इस पर अँगरेजों ने नवाब का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। परन्तु डूप्ले ने नवाब को मदरास दे देने का वादा कर दिया, तब नवाब ने अँगरेजों को टाल दिया। किन्तु जब नवाब ने देखा कि डूप्ले का विचार मदरास छोड़ने का नहीं है और वह उसे बातों ही में टाल रहा है तब उसने अपने लड़के की अध्यक्षता में एक सेना भेजी। मदरास के निकट अदयार नदी के तट पर मेलापुर नामक स्थान में इस सेना का फ्रांसीसी सेना से सामना हुआ। फ्रांसीसी सेना खूब कवायद जानती थी और उसके पास बन्दूकें भी अच्छी थीं, इसलिए थोड़ी संख्या होते हुए भी बात की बात में उसने अव्यवस्थित बड़ी भारी मुगल सेना को परास्त कर दिया। जिस स्थान पर यह लड़ाई हुई थी, वहां पर सेंट टोम नाम का एक पुर्तगाली किला था, इसीलिए यह लड़ाई सेंट टोम की लड़ाई के नाम से प्रसिद्ध है। इतिहासकारों ने इस लड़ाई को बड़ा महत्व दिया है। उनका कहना है कि इससे भारतीय सेना की कमजोरियों का पता यूरोपियनों को अच्छी तरह मिल गया और पाश्चात्य युद्ध-प्रणाली की श्रेष्ठता सिद्ध हो गई। फ्रांसीसियों के लिए यह बड़ी भारी विजय थी

इस समय तक वे अपने को नवाब के अधीन मानते थे, अब वही नवाब उनसे सन्धि की प्रार्थना करने लगा। इस युद्ध से दक्षिण में डूप्ले का भी सब रोब जम गया।

एलाशपल की सन्धि—इस पर फ्रांसीसियों ने अँगरेजों के दूसरे किले सेंट डेविड को जीतने का प्रयत्न आरम्भ किया, परन्तु अँगरेजी अफसर लारेंस की वीरता और चतुरता के कारण डूप्ले का सारा प्रयत्न निष्फल गया। इधर अँगरेजों के तेरह जहाज और आ पहुँचे और उन्होंने पांडुचेरी पर धावा बोल दिया। सुरक्षित स्थान न होने पर भी डूप्ले ने बड़ी बुद्धिमानी और चतुरता के साथ पांडुचेरी की रक्षा की। इतने ही में यूरोप से एलाशपल[1] की सन्धि के समाचार आगये, जिससे दोनो दलो को युद्ध बन्द करना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार सन् १७४८ में डूप्ले को मदरास अँगरेजों को वापस कर देना पड़ा।

दूसरा युद्ध—इस सन्धि से यूरोप मे तो कुछ काल के लिए अँगरेज और फ्रांसीसियो में शान्ति स्थापित होगई, पर भारतवर्ष मे ऐसा न हो सका। दोनो के पास काफी सेनाएँ थीं, दोनो को लड़ाई का चस्का लगा हुआ था। दोनो ने समझ लिया था कि किसी एक को नष्ट किये बिना दूसरे का गुजर नहीं है, इसलिए युद्ध जारी रखने का उन्होंने एक दूसरा ही ढंग निकाल लिया। इन दिनो देशी शासको मे बड़ा झगड़ा चल रहा था। ऐसी दशा मे विरुद्ध पक्ष लेकर उन्होंने एक दूसरे की शक्ति नष्ट करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया।

निज़ाम की मृत्यु—सन् १७४८ मे दक्षिण के सूबेदार वृद्ध आसफ जाह की मृत्यु हो गई। यह नाम-मात्र को मुगल सम्राट् के अधीन था, वास्तव मे इसका दिल्ली से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। इसके कई लड़के थे। सबसे बड़ा लड़का दिल्ली मे रहता था, उसको दक्षिण के राज्य की पर्वाह न थी, इसलिए उसका दूसरा भाई नासिरजंग

---

[1] यह एक स्थान का नाम है, जो हालैंड में है।

जिसमें फ्रांसीसी सेना की सहायता से चान्दा साहब की विजय हुई, और कर्नाटक का नवाब अनवरुद्दीन मारा गया। दूसरे ही दिन अर्काट पहुँच कर चान्दा साहब कर्नाटक की गद्दी पर बैठ गया और मुजफ्फरजंग ने अपने निजाम होने की घोषणा कर दी। सहायता के बदले में चान्दा साहब ने फ्रांसीसियों को अस्सी गांव दिये। इस सफलता से डूप्ले का हौसला खूब बढ़ गया। अब उसको व्यापार से ही सन्तोष न रहा और वह भारतवर्ष में फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा। उसने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि व्यापार में अँगरेज़ों का मुकाबला करने की अपेक्षा यूरोपीय ढंग से संगठित सेना द्वारा निर्बल तथा असमर्थ देशी शासकों का विध्वंस करना कहीं सहज है। इसलिए उसने अब अपना मार्ग ही बदल दिया। परन्तु उसके इस मार्ग में भी अँगरेज़ बाधक बन बैठे।

अँगरेज़ों का प्रयत्न—अम्बर की लड़ाई से अनवरुद्दीन का एक लड़का मुहम्मदअली भाग निकला और त्रिचनापल्ली पहुँचकर उसने अँगरेजों से सहायता मांगी। इधर निजाम नासिरजंग ने भी मुजफ्फरजंग के विरुद्ध अँगरेजों से सहायता की प्रार्थना की। डूप्ले की उन्नति से जले हुए अँगरेज ऐसे अवसर की प्रतीक्षा ही कर रहे थे, इसलिए उन्होंने दोनों को सहायता देना स्वीकार कर लिया। डूप्ले का मत था कि जब तक मुहम्मदअली त्रिचनापल्ली में है तब तक चान्दा साहब सुरक्षित नहीं रह सकता, इसलिए वह त्रिचनापल्ली से मुहम्मदअली को निकालना चाहता था। परन्तु इस समय उसके फौजी अफसर उसका साथ नहीं दे रहे थे, दूसरे चान्दा साहब तंजोर के राजा के पीछे पड़ा था, ऐसी दशा में उसको सफलता न हुई। उधर अँगरेजों की सहायता से नासिरजंग ने मुजफ्फरजंग को हरा दिया। इसलिए डूप्ले का बना बनाया काम बिगड़ गया, पर उसका साहस नहीं छूटा। उसने ऐसी चाल चली कि नासिरजंग की सेना में फूट फैल गई और उसी के आदमियों ने उसको मार डाला। इस पर मुजफ्फरजंग निज़ाम बन गया।

फ्रांसीसियों की सफलता—डूप्ले गया। क्लाइव ने जैसा कुछ
ी। दक्षिण के सूबेदार और कर्नाटक के नवा... समाचार सुनते ही चान्दा
ाये थे। जिस स्थान पर नासिरजंग मारा गया था, वहाँ पर उसने एक
वेजयस्तम्भ खड़ा किया और उस स्थान का नाम डूप्ले-फतेहाबाद रक्खा।
ुज़फ्फरजंग ने प्रसन्न होकर फ्रांसीसियों को कई गाँव और बहुत सा
ाकद रुपया दिया। कहा जाता है कि उस समय डूप्ले को भी एक बड़ी
कम और जागीर मिली। डूप्ले को वह दक्षिण का स्वामी समझने लगा और
सने कृष्णा नदी से लेकर कुमारी अन्तरीप तक उसका आधिपत्य स्वीकार कर
लेया। चान्दा साहब भी फिर अर्काट पहुँच गया और इस बार भी उसने
ासीसियों को बहुत धन दिया। इसी समय एक छोटी सी लड़ाई में
ुज़फ्फरजंग मारा गया। इसका फल यह हुआ कि सूबेदारी के लिए फिर
ागड़ा चल पड़ा। इस पर भी फ्रांसीसी घबराये नहीं। उनके सेना-पत
सी की सहायता से आसफजाह का तीसरा लड़का सलाबतजंग सन् १७५१
सूबेदार बन गया। बुसी उसका संरक्षक नियुक्त हुआ और बहुत दिनों
क हैदराबाद में बना रहा। निज़ाम से निश्चिन्त होकर डूप्ले ने त्रिचनापल्ली
ने का फिर से प्रयत्न प्रारम्भ किया। फ्रांसीसी सेना के साथ चान्दा साहब
त्रिचनापल्ली को घेर लिया।

क्लाइव की चाल—अब अंगरेजों ने देखा कि मुहम्मदअली की सहायता
रके किसी न किसी तरह त्रिचनापल्ली की रक्षा करनी चाहिए। कर्नाटक भर
यहीं एक ऐसा स्थान रह गया था, जिस पर फ्रांसीसियों का अधिकार न
ा, और मुहम्मदअली ही तब तक उनके अधीन न बन पाया था। पर
सका कोई ठीक उपाय उनकी समझ में न आ रहा था। इस समय क्लाइव
दिमाग ने उनकी सहायता की, उसने एक ऐसी चाल ढूँढ़ निकाली, जिससे
ारा घटना-चक्र ही बदल गया। सन् १७४४ में वह भारतवर्ष आया था,
ार मदरास में लेखक के पद पर काम करता था। जब सन् १७४६ में
ासीसियों ने मदरास छीन लिया, तब वह अन्य कर्मचारियों के साथ सेंट
डिड के किले में चला गया। फ्रांसीसियों के आक्रमण करने पर

जिसमें फ्रांसीसी सेना की सहायता से चान्दा साहब की अध्यक्षता में कर्नाटक का नवाब अनवरुद्दीन ... में भाग लिया। तंजोर के ... अपनी वीरता और चतुरता का परिचय दिया। इस प अँगरेज़ी सेना में उसको एक छोटा सा पद मिल गया। इसने सोच कि चान्दा साहब त्रिचनापल्ली घेरे हुए हैं, उसकी राजधानी अर्काट खाली है

क्लाइव

इसलिए यदि अर्का पर आक्रमण किया जाय तो चान्दा साह त्रिचनापल्ली छोड़ कर अर्काट की र के लिए दौड़ेगा, औ मुहम्मदअली का संक दूर हो जायगा।

अर्काट का घेरा—मदरास अध्यक्ष साउर्स उसकी इस सलाह मान लिया, औ थोड़ी सी सेना साथ अर्काट पर आ मण करने की अ मति देदी। वह ती सौ हिन्दुस्तानी सिपा और दो सौ अँगरे सैनिकों के साथ चल पड़ा। मार्ग में उसने सिपाहियों को कवायद का ख अभ्यास कराया, और सरल व्यवहार से उन सबको अच्छी तरह अपने व में कर लिया। उसके पहुँचते ही अर्काट के संरक्षकों ने हिम्मत हार

और बिना लड़े-भिड़े अरकाट—क्लाइव के हाथ आ गया। क्लाइव ने जैसा कुछ सोचा था, वैसा ही हुआ। अंगरेज़ी विजय का समाचार सुनते ही चान्दा साहब ने अपनी सेना का एक बड़ा भारी भाग अपने लड़के रज़ा साहब की अध्यक्षता मे अर्काट के छीनने के लिए भेज दिया। रज़ा साहब ५३ दिन तक अर्काट को घेरे पड़ा रहा, पर क्लाइव को न निकाल सका। क्लाइव और उसके सैनिकों ने बड़ी वीरता और धैर्य से दुर्ग की रक्षा की। सिपाहियों ने अपनी अनुपम स्वामि-भक्ति का परिचय दिया, अन्न की कमी होने पर अँगरेज़ों को भात खिलाकर मांड से अपना पेट भरा पर साहस नहीं छोड़ा। अन्त मे तंग आकर रज़ा साहब ने धावा किया, पर बुरी तरह हार कर भागा। अँगरेज़ों ने पीछा किया और आर्नी मे उसको फिर से हराया। बाद को मराठों की सहायता से क्लाइव [illegible] क में भी [illegible] ी और

मुहम्मदअली

का आदमी था। उसकी प्रशंसा उन दिनों के अँगरेज़ भी करते थे। उसके मत है कि यदि फ्रांसीसी सेना बराबर उसके अधीन रहती, तो उसकी यह दशा न होती। चान्दा साहब की मृत्यु पर अँगरेजों ने मुहम्मदअली को कर्नाटक का नवाब बनाया, जो इस पद के लिए सर्वथा अयोग्य था। इस तरह अँगरेज़ों की धाक जमाकर क्लाइव अस्वस्थ होने के कारण इँग्लैंड वापस चला गया।

बुसी और उत्तरी सरकार—कर्नाटक निकल जाने पर भी फ्रांसीसियों का प्रभुत्व नष्ट नहीं हुआ। हैदराबाद मे वीर सेनापति बुसी का आतंक जमा हुआ था। उसने मराठों से निजाम सलाबतजंग की रक्षा की थी, इसलिए निजाम उसको खूब मानता था। उसकी सेना के खर्च के लिए निजाम ने उत्तरी सरकार का इलाका दे दिया था। बराबर युद्ध के कारण यह इलाका बहुत तबाह हो गया था, पर तब भी बुसी ने यहां से डूप्ले को भी रुपये की मदद दी। थोडे ही दिनो मे वह स्वयं भी बहुत धनी होगया।

डूप्ले का पतन—इतने दिन के युद्ध से सारा व्यापार चौपट हो गया था, इलाक़ो की आमदनी काफी न थी, फ्रांसीसी सरकार से कोई सहायता न मिलती थी, इसलिए डूप्ले को रुपये की बडी कमी हो रही थी। फ्रांस-सरकार से उसका बहुत दिनो से मतभेद था। वहाँ के अधिकारी उसकी नीति को पसन्द न करते थे। वे व्यापार की दृष्टि से लडाइयो को हानिकारक समझते थे। इधर क्लाइव की सफलता से अँगरेजों का पक्ष प्रबल हो रहा था, और उनको धन की कोई कमी न थी। ऐसी दशा मे डूप्ले को अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि उसकी मनोकामना का सिद्ध होना असम्भव है। इसलिए उसने अँगरेजों से सन्धि करने का प्रस्ताव किया। परन्तु उन्होंने डूप्ले का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। सन् १७५४ मे फ्रांस-सरकार ने डूप्ले को भारतवर्ष से हटाने की आज्ञा दे दी। वह बिना किसी विरोध के फ्रांस वापस चला गया। वहाँ उस पर सरकार की ओर से अभियोग चलाया गया। इस तरह अपमानित होकर सन् १७६३ मे वह मर गया।

उसकी नीति—डूप्ले इन दिनों की राजनैतिक अशान्ति से लाभ उठाना चाहता था। वह दक्षिण के राजा और नवाबों को खूब पहचानता था। देशी सेना की कमजोरियों को उसने अच्छी तरह समझ लिया था। उसका विश्वास था कि पाश्चात्य रण-प्रणाली कहीं श्रेष्ठ है, और उसको हिन्दुस्तानी सहज ही में सीख सकते हैं। कोई विदेशी शक्ति भारतवर्ष में अपने ढंग की सेना पर निर्भर नहीं रह सकती है, इसलिए भारतवासियों की सेना बनाना आवश्यक है। उसका खर्चा चलाने के लिए देशी राजा और नवाबों की सहायता करनी चाहिए। देश की तत्कालीन स्थिति में केवल व्यापार ही पर भरोसा करना ठीक नहीं है। स्थायी आय के लिए कुछ भूमि पर भी अधिकार होना आवश्यक है। इस तरह अपनी शक्ति बढ़ाकर भारतवर्ष में विदेशी साम्राज्य स्थापित करना असम्भव नहीं है। देशी शासक पाश्चात्य ढंग पर संगठित सेनाओं का सामना करने में असमर्थ हैं। इनको परास्त करना कठिन नहीं है। परन्तु यदि इस कार्यक्रम में किसी से बाधा पड़ने का भय है, तो वे अँगरेज़ हैं, इसलिए देशी शासकों की सहायता से या सीधे सीधे लड़कर उनकी शक्ति को पहले नष्ट कर डालना चाहिए।

प्राय कहा जाता है कि भारतवर्ष के यूरोप-सम्बन्धी इतिहास में इस नीति को डूप्ले ही ने सबसे पहले ढूँढ निकाला, और बाद को अँगरेज़ों ने उसी का अनुकरण किया। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं जान पड़ता है। हिन्दुस्तानी सेना रखना, उसको कवायद सिखाना कोई नई बात नहीं थी। पुर्तगालियों ने सैकड़ों वर्ष पहले हिन्दुस्तानियों को सेना में रखना प्रारम्भ कर दिया था। बन्दूक और तोप का काम सिखाने के लिए मुगल सेनाओं में विदेशी शिक्षक रहते थे। देशी सेना की कमजोरियों को बर्नियर ऐसे यात्रियों ने सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही समझ लिया था। उसका कहना था कि अव्यवस्थित मुगल सेना को परास्त करना कोई कठिन काम नहीं है। देशी शासकों की सहायता से अपनी सेना का खर्च चलाना डूप्ले ने अँगरेज़ों से ही सीखा था। तत्कालीन राज

नैतिक अशान्ति में फ्रासीसी साम्राज्य का स्वप्न देखना कोई बडी भारी बात थी। मुग़लों का पतन होने पर छोटी बडा सभी शक्तियाँ इसी धुन में थीं।

डूप्ले ने पहले से ही अपनी कोई नीति स्थिर नहीं की थी, वरन चक्र मे पडकर वह बराबर आगे क़दम बढाता गया था। पहले उसका ध्यान केवल व्यापार की ओर था, राजनीति में वह मार्टिन और ड्यूमा की नीति का ही अनुयायी था। सन् १७४६ के बाद, जब उसका प्रभुत्व अच्छी तरह जम गया तब, उसने अपनी नीति मे परिवर्तन करना उचित समझा। अँगरेजों ने उसकी नीति का अधिक अनुकरण तो नहीं किया, पर उसकी भूल से लाभ अवश्य उठाया। इस नीति में जो कुछ कमी थी, उसकी पूर्ति कर अँगरेजों ने उसको सफल बना दिया।

असफलता के कारण—डूप्ले की असफलता के कई कारण थे। सबसे मुख्य बात तो यह थी कि उसके पास कोई जहाजी सेना न थी। यूरप से सम्बन्ध रखने का रास्ता अँगरेजों के हाथ में था। डूप्ले को अपनी हिन्दुस्तानी सेना पर ही निर्भर रहना पडता था। फ्रास से उसको किसी प्रकार की सहायता न मिलती थी। वहाँ की सरकार मे भी उसका मतभेद था। रुपये की उसके पास बडी कमी थी। व्यापार चौपट हो गया था, कर्नाटक और उत्तरी सरकार के जिले निर्धन थे, नवाबों के वादे बडे बडे होते थे, पर उतना रुपया न मिलता था। फ्रास-सरकार लडाई के लिए रुपया भेजने पर राजी न थी। उसकी सेना मे फूट थी, अफसर स्वार्थी थे और एक दूसरे से जलते थे, उनको अपने देश के लाभ का कुछ भी ध्यान न था। डूप्ले स्वयं योद्धा न था, उसको ऐसे अफसरो पर निर्भर रहना पडता था, जो कभी कभी उसकी आज्ञा भी न मानते थे।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि यदि वह भारतवर्ष में बना रहता तो क्या फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित होने की कोई सम्भावना थी? उत्तर में कहा जाता है कि इसमें बहुत सन्देह है, क्योंकि उसके चले जाने के बाद अगरेजों के हाथ मे बगाल सा धनी सूबा आगया था और क्लाइव सरीखा चतुर सेनाध्यक्ष मिल गया था। परन्तु यहाँ पर एक बात ध्यान

पता लगा कि डूप्ले की नीति न मानने में बड़ी भूल हुई। इस भूल को सुधारने के लिए फिर से प्रयत्न किया गया। इस बार लेली सेनापति और अध्यक्ष बनाकर भेजा गया। यह सन् १७५८ में भारतवर्ष पहुँचा, परन्तु अब फ्रांसीसियों का पासा पलट चुका था, उनकी शक्ति को फिर से स्थापित करना बड़ा कठिन था। डूप्ले के जाने के बाद से इस समय तक अँगरेज़ों की स्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन होगया था। दक्षिण में उनकी पूरी धाक जम गई थी, बंगाल में एक तरह से उनका राज्य ही हो गया था, वहाँ के नवाब उनके हाथ की कठपुतली थे। पर तब भी लेली ने अँगरेज़ों को नष्ट करने का दृढ़ निश्चय किया।

लैली का उद्योग—इस बार फ्रांस-सरकार ने कोई बात उठा न रखी। लैली को काफ़ी सेना और धन दिया गया। पर उसके भाग्य में सफलता बदी न थी। वह तेज मिज़ाज का आदमी था, उसके आते ही पांडुचेरी में उसका विरोध प्रारम्भ हो गया। वहाँ के कर्मचारी अब फिर से लड़ाई-झगड़े में पड़ना न चाहते थे, उन्हें केवल अपने मतलब का ध्यान था। परन्तु लैली ने इसकी कुछ भी पर्वाह न की, और अँगरेजों से सेंट डेविड का किला छीनकर मदरास पर चढ़ाई कर दी। इस अवसर पर पांडुचेरीवालों ने उसको सहायता देना बिलकुल बन्द कर दिया। रसद कम पड़ गई, और उसके सिपाही भूखों मरने लगे। इधर अँगरेज़ों की जहाज़ी सेना भी आगई। इस पर लैली को पांडुचेरी भागना पड़ा।

लैली ने आते ही निजाम-दरबार से बुसी को बुला लिया था, इसका फल यह हुआ कि हैदराबाद से फ्रांसीसियों का प्रभुत्व जाता रहा। निजाम भी उन दिनों यही चाहता था। इधर क्लाइव ने कर्नल फ़ोर्ड की अध्यक्षता में सेना भेजकर उत्तरी सरकार पर कब्ज़ा कर लिया। यहाँ से भी आमदनी बन्द हो जाने पर लैली ने तंजोर के राजा पर चढ़ाई करके रुपया लेना चाहा, पर वह राजा पहले ही से तैयारी कर चुका था, इसलिए लैली का यह प्रयत्न भी निष्फल गया। उधर बंगाल में क्लाइव ने चन्द्रनगर पहले से ही छीन लिया था। इसलिये आमदनी का अब कोई भी द्वार बाकी न रह गया।

वांडवाश की लड़ाई—लैली अब बिलकुल हताश हो गया पर तब भी वह जैसे-तैसे अँगरेजों का मुकाबला करता रहा। सन १७६० में वांडवाश के निकट सर आयरकूट ने उसको अच्छी तरह हराया। वीर बुसी पकड़ लिया गया और लैली पांडुचेरी भाग गया। अँगरेजों ने उसका बराबर पीछा किया, और पांडुचेरी को घेर लिया। आठ महीने तक लैली ने बड़े धैर्य और साहस के साथ पांडुचेरी की रक्षा की। रसद की ऐसी कमी हो गई थी कि एक कुत्ता भी चौबीस रुपये में बिकता था। अन्त में, परेशान आकर लैली ने शस्त्र डाल दिये और वह कैद करके इंग्लेंड भेज दिया गया, जहाँ से वह फ्रांस चला गया। परन्तु फ्रांस-सरकार ने उसके साथ भी

आधुनिक पांडुचेरी
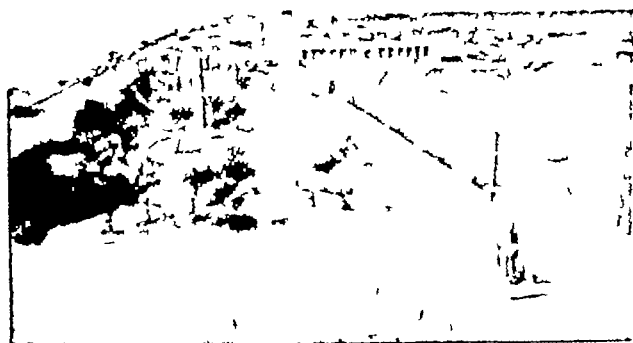
अन्याय किया। उस पर भी अभियोग चलाया गया और अन्त में उसे प्राण दंड दिया गया।

पांडुचेरी पर भी अंगरेजों का अधिकार हो गया। इन्होंने मदरास और फोर्ट सेंट डेविड का पूरा बदला लिया। पांडुचेरी की विशाल इमारतें गिरवा दी गईं और सारा नगर उजाड़ कर दिया गया। नगर-निवासियों को तंग

महीने के अन्दर नगर छोड देने की आज्ञा दे दी गई। इतिहासकार ऑर्म लिखता है कि कुछ ही महीनों में उस विशाल सुन्दर नगर में एक भी साबुत हुई छत न रह गई।

फ्रांसीसियों की पराजय—पाण्डुचेरी के पतन से फ्रांसीसी हताश हो गये। थोड़े दिन बाद जिंजी और माही भी उनके हाथ से निकल गये। सन् १७६१ में सूरत और कालीकट की कोठियों को छोड़कर उनके पास कोई भी स्थान नहीं रह गया। इस तरह भारतवर्ष में फ्रांसीसी साम्राज्य का अन्त हो गया। सन् १७६३ में यूरोप का युद्ध समाप्त हो गया और पेरिस की सन्धि से पाण्डुचेरी, चन्द्रनगर और माही फ्रांसीसियों को लौटा दिये गये। ये स्थान अब भी फ्रांसीसियों के पास हैं।

अन्त में अँगरेजों की ही पूरी विजय हुई। इसका मुख्य कारण यह था कि इस समय उनका जहाजी बेडा प्रबल था। समुद्र के सब रास्ते उनके हाथ में थे। उनके जहाजी बेड़े को नष्ट करके भारतवर्ष से सम्बन्ध रखना फ्रांस की शक्ति के बाहर था। इसके अतिरिक्त अँगरेजों को धन का अभाव न था। उनकी कम्पनी का सगठन अच्छा था। फ्रांस-सरकार की तरह इँग्लेंड-सरकार उसके काम में बाधा न डालती थी। उसके कर्मचारियों में एका था और वे सबके सब फ्रांस की शक्ति को नष्ट करने पर तुले हुए थे। इसके प्रतिकूल फ्रांसीसियों की दशा थी, जिसका वर्णन किया जा चुका है। ऐसी दशा में फ्रांसीसियों की हार निश्चित थी।

सन् १७५१ में भारत
रा ज पू ता ना
दिल्ली
जयपुर
जोधपुर
पटना
म रा ठा म ण्ड ल
नागपुर
नि जा म
मैसूर

परिच्छेद ३

साम्राज्य की नींव

बंगाल के नवाब—पहले बंगाल मुगल साम्राज्य का एक सूबा था, परन्तु औरंगजेब के मरने पर नवाब मुर्शिदकुलीखाँ स्वाधीन हो गया था। यह पहले हिन्दू था। सन् १७०४ में मकसूदाबाद को इसने अपनी राजधानी बनाया और इसका नाम मुर्शिदाबाद रखा। सन् १७४१ में इसके वंशजों को हटाकर अलीवर्दीखाँ नाम का एक सरदार नवाब बन गया। यह बड़ा चतुर शासक था। इसका सारा जीवन मराठों से अपने राज्य की रक्षा करने में व्यतीत हुआ।

इन नवाबों के समय के बंगाल की दशा का वर्णन करते हुए गुलाम हुसैन लिखता है कि पिछले साठ वर्ष से साम्राज्य का पतन हो रहा था, सम्राट् अयोग्य थे, सरदार और उमरा बिगड़ रहे थे, परन्तु तब भी इनमें से कोई भी उन नियमों से हटना नहीं चाहता था, जिनसे साम्राज्य की उन्नति हुई थी। इनके राज्य की दशा अच्छी थी, प्रजा सन्तुष्ट थी और आराम से रहती थी। बहुत कम ऐसे लोग थे, जिनको दुख या कष्ट था। अलीवर्दीखाँ के समय तक यही दशा रही। उसने चुन चुनकर अपने योग्य कुटुम्बियों और मित्रों को बड़े बड़े ओहदे दिये। वह सदा प्रजा का ध्यान रखता था। युद्धप्रिय और महत्वाकांक्षी होने पर भी प्रजा और जमीन्दारों के साथ, जो पूर्ण रूप से अपना कर्तव्य पालन करते थे, उसका व्यवहार बड़ा अच्छा और उदार होता

था। प्रजा के लिए वह सचमुच पिता-तुल्य था। अपने फौजदारों प[र] उसकी बराबर निगाह रहती थी और वह उनको कभी अत्याचार न करने दे[ता] था। वह अपनी सारी प्रजा को बिना किसी धार्मिक भेदभाव के एक ही माता-पिता की सन्तान समझता था और योग्य हिन्दू तथा अन्य गैर-मुस[ल]मान व्यक्तियों को उच्च पदों पर नियुक्त करता था। इसके शासन में प्रान्त [का] रुपया प्रान्त ही में रहता था, जिससे इसी के राज्य की उन्नति होती थी। जनता को जीवन-निर्वाह की चिन्ता न थी, इसके शासन-काल में वह 'शान्ति और सुख' से रही। कहीं कहीं एक आध जमीन्दार बिगड जाता था, पर[न्तु] बाकी राज्य मे 'पूर्ण शान्ति और समृद्धि' थी।[1]

विदेशियों के प्रति नीति—बंगाल के शासक शुरू से ही विदे[शी] व्यापारियों पर तीव्र दृष्टि रखते थे। शायस्ताखाँ ने तो अँगरेजों को निका[ल] ही दिया था, परन्तु मुर्शिदकुलीखाँ के समय में बहुत सा रुपया देकर उन्हों[ने] अपना व्यापार फिर से जमा लिया था। सम्राट् फर्रुखसियर का उनको एक नया फरमान भी मिल गया था, जिसके अनुसार बिना चुंगी के व्यापार कर[ने] का अधिकार दे दिया गया था। अँगरेजों के अतिरिक्त फ्रांसीसी और हाले[ण्ड] निवासी डच भी बंगाल में व्यापार करते थे। इनकी कोठियाँ चन्द्रनगर और चिनसुरा में थीं। नवाब अलीवर्दीखाँ इन व्यापारियों को अच्छी तरह पहचा[न]ता था, और उनसे खूब रुपया ऐंठता था। सन् १७४४ में मराठों से र[क्षा] करने के लिए उसने अँगरेजों को कलकत्ता में एक खाई बनाने की आज्ञा [तो] दी थी, परन्तु अँगरेजों को अपना किला अधिक दृढ करने की इजाज़त उस[ने] कभी नहीं दी। जब कभी अँगरेज इसके लिए प्रार्थना करते थे, तब वह कहा करता था कि तुम लोग व्यापारी हो तुम्हे किले से क्या काम, मेरी संरक्ष[ता] में तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं है। दक्षिण की दशा वह सुन चुका था, विदेशियों की शक्ति और एकता का उसे सदा ध्यान रहता था। वह प्राय: कहा करता था कि विदेशी व्यापारी शहद की मक्खियों का एक छत्ता है,

---

१ सियर-उल-मुताखरीन, अंगरेजी अनुवाद, जि० ३, पृ० १७९-८०।

[उ]नमें शहद तो निकाल लेना चाहिए, पर मक्खियों को छेड़ना न चाहिए, [छे]ड़ने से वे काट काट कर जान ले डालेंगी।[1]

इन दिनों इसके कर्मचारियों और अँगरेज़ों में बराबर खटपट हुआ करती

अलीवर्दीखाँ

। अँगरेज़ बिना महसूल के व्यापार करने के लिए नवाब की दस्तके

[1] स्क्रैफ्टन, रिफ्लेक्शन्स ऑन दि गवर्नमेंट ऑफ़ इन्दोस्तान, पृ० [illegible]।

बनियों को दे देते थे और उनसे स्वयं लाभ उठाते थे। इतना ही नहीं, अब
आबादियों में माल लाने पर वे चुंगी लगाते थे, और विवाह के अवसरों पर
या जमीन बेचने पर भी टैक्स लेते थे। नवाब के दरबार में इसकी बराबर
शिकायतें होती थीं। अँगरेज अपने पक्ष के समर्थन में मुगल सम्राट
फ़रमान पर जोर देते थे, नवाब फरमान के इस उलटे अर्थ को कभी न मानता
था। इस तरह उसके जीवन-काल ही में यह झगड़ा चलता रहा, परन्तु उसके
मरने पर इसने प्रचंड रूप धारण कर लिया।

सिराजुद्दौला की नवाबी—सन् १७५६ में अलीवर्दीखां के मरने
पर उसका पोता सिराजुद्दौला नवाब हुआ। बचपन के बहुत लाड़-प्यार से
इसका स्वभाव बिगड़ गया था। मुसाहिब लोग जो कुछ समझा देते थे
बिना सोचे-विचारे यह वही करने लगता था। अलीवर्दीखां इसकी कमजो-
रियों को अच्छी तरह जानता था। उसने पहले ही कह दिया था कि
जब यह नवाब होगा तब भारतवर्ष के सभी तटों पर 'टोपवालों' का
अधिकार हो जायगा[1]।

अँगरेज़ों से झगड़ा—नवाब अँगरेजों से पहले से ही चिढ़ा हुआ
था। उन्होंने उसका कई बार अपमान किया था। उन्होंने कासिमबाजार की
कोठी और बँगलों में उसको ठहराने से इनकार कर दिया था। अलीवर्दी
के दरबार में वे उसको कभी भी न पूछते थे। जब वह मसनद पर
बैठा तब भी उन्होंने बहुमूल्य उपहार नहीं भेजे। सिराजुद्दौला कुछ समय
तक इन सब बातों को सहन करता रहा, परन्तु अँगरेज बराबर ढीठ होते
गये। अपने एक मुसाहिब राजवल्लभ पर नवाब नाराज हो गया, उसका
लड़का कृष्णदास कलकत्ता भाग गया। जब नवाब ने उसको भेज देने के लिए
अँगरेजों को लिखा, तब कलकत्ता के गवर्नर ड्रेक ने कोरा जवाब दे दिया।
नवाब को अपने जासूसों से यह भी पता चला कि पुर्णिया के नवाब को
अँगरेज उसके विरुद्ध बहका रहे हैं। दस्तकों का दुरुपयोग पहले से ही

---

१ सियर-उल-मुताख़रीन, जि० २, पृ० १६३।

रहा था और इससे नवाब की आमदनी को बहुत कुछ हानि पहुँच रही थी। इधर सन् १७५६ में इँग्लेंड और फ्रांस में युद्ध छिड़ गया। यह समाचार मिलते ही नवाब से बिना पूछे बताये अँगरेज और फ्रांसीसियों ने अपने अपने किलों को ठीक कराना प्रारम्भ कर दिया। इस पर नवाब बहुत बिगड़ा और दोनों को यह काम बन्द कर देने के लिए लिख भेजा। फ्रांसीसियों ने तो एक बहाना बना दिया, पर कलकत्ता के गवर्नर ड्रेक ने बड़ा कड़ा उत्तर लिख भेजा और जो दूत पर्वाना लेकर आया था, उसको कलकत्ते से बाहर निकलवा दिया। उत्तर पाते ही नवाब आगबबूला हो गया और उसने अँगरेजों को नष्ट करने का प्रण कर लिया।

कलकत्ता पर आक्रमण—सन् १७५६ के मई महीने में नवाब ने कासिमबाजार की कोठी छीन ली। इस अवसर पर उसने सिपाहियों को कोठी का माल लूटने से मना कर दिया और सिवा युद्ध-सामग्री के कोई सामान नहीं लिया।[१] यहाँ से वह बड़ी तेजी के साथ कलकत्ता पहुँचा। मई जून की कड़ी धूप में, ग्यारह दिन में, उसने १६० मील का सफर तय कर डाला। कलकत्ता में लड़ाई के लिए काफी सेना न थी, पर तब भी गवर्नर ड्रेक ने लड़ना ही निश्चित किया। सबसे पहले उसने सेठ अमीरचन्द और शरण में आये हुए कृष्णदास को गिरफ्तार कर लिया। उसका अनुमान था कि इन्हीं दोनों ने नवाब को बुलाया है। अमीरचन्द के भाई ने गोली चलाने की आज्ञा दे दी। उसे पकड़ने के लिए गोरे लोग जनाने मकान में घुसने लगे, इस पर सेठ के एक जमादार ने घर की १३ स्त्रियों को मारकर उनके सम्मान की रक्षा की।[२]

इधर अमीरचन्द के आदमियों से नवाब को कलकत्ता में घुसने का रास्ता मालूम हो गया। अँगरेजों ने किले की रक्षा की पर अन्त में वे घबड़ा गये। गवर्नर ड्रेक और बहुत से अँगरेज अपने प्राण लेकर नदी के मार्ग से भाग निकले। किले में कुछ सैनिकों के साथ हालवेल रह गया। उसने अमीरचन्द

[१] हिल, बंगाल इन १७५६-५७, भूमिका पृ० २८।

[२] वही, पृ० ७८।

को बीच में डालकर पहले सन्धि करने का प्रयत्न किया, परन्तु कोई फल न हुआ। अन्त में लाचार होकर ता० २० जून को हालवेल ने किला नवाब को सौंप दिया। उसके सिपाहियों ने लूट-पाट मचा दी पर किसी अँगरेज को तंग नहीं किया।

कालकोठरी—उसी दिन सन्ध्या समय अँगरेज कैदी नवाब के सामने लाये गये। नवाब ने हालवेल की हथकड़ियों को खुलवा दिया और उसको कष्ट न देने का वचन दिया। कैदियों पर कोई कड़ी देख रेख न थी। कई एक यूरोपियन किले से चले भी गये, पर किसी ने रोका नहीं। इसी समय गोरे सैनिकों ने शराब पीकर हिन्दुस्तानी सिपाहियों को तंग करना शुरू कर दिया। शरारत करने पर गोरे जिस कोठरी में बन्द कर दिये जाते थे, उसी में उन्हें बन्द करने की आज्ञा देकर नवाब आराम करने चला गया। कहा जाता है कि इस पर उसके सिपाहियों ने १४६ गोरों को उस छोटी सी कोठरी में भर दिया। रात को गरमी में प्यास से तड़प तड़प कर इनमें से १२३ आदमी मर गये।

हालवेल ने इस घटना का बड़ा हृदय-विदारक वर्णन किया है, परन्तु उसकी सत्यता में बहुत कुछ सन्देह है। कोठरी की जितनी लम्बाई चौड़ाई बतलाई जाती है,[1] उतने में १४६ आदमियों का किसी तरह अटना सम्भव नहीं है। मरे हुए आदमियों में ५६ से अधिक के नाम का पता नहीं लगता है। उस समय के हिन्दुस्तानियों द्वारा लिखे हुए इतिहास या कम्पनी के कागजात में इसका कोई उल्लेख नहीं है।[2] जान पड़ता है कि इस घटना के वर्णन में हालवेल ने बहुत कुछ नमक मिर्च मिलाया है। उसकी कई बातों में यह दोष पाया गया है। यदि इसमें कुछ सत्यता भी हो तब भी नवाब उसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। रात की घटना उसकी जानकारी में नहीं हुई थी। यह बात ठीक है कि बाद में उसने इसके लिए किसी को

१ विल्सन का कहना है कि यह कोठरी १८ फीट लम्बी और १४ फीट १० इंच चौड़ी थी।

२ मिस्टर लिटिल का लेख, बंगाल पास्ट ऐंड प्रेज़ेंट, जि० ९।

दण्ड नहीं दिया। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कम्पनी के कर्मचारियों ने इसके लिए अनुरोध भी नहीं किया। सन्धि की शर्तों में इसकी कोई भी चर्चा नहीं थी। इसी से सिद्ध होता है कि यह एक साधारण घटना थी और इसमें नवाब निर्दोष था।

सिराजुद्दौला

अलीनगर की सन्धि—कलकत्ता का नाम अब अलीनगर रखा गया। राजा माणिकचन्द को वहाँ का किलेदार बनाकर नवाब मुर्शिदाबाद

वापस चला गया। ड्रेक सहित भागे हुए अँगरेज फल्ता पहुँचे और व से उन्होंने कुल हाल मदरास लिख भेजा। यहाँ इन लोगो को नवाब की ओर से कोई विशेष कष्ट नहीं दिया गया। बंगाल की दुर्घटना का समाचार मिलने पर बहुत कुछ बहस के बाद मदरास कौंसिल ने क्लाइव और वाटस को स्थल और जल-सेना का अध्यक्ष बनाकर बंगाल भेजा। इन दोनो जनवरी सन् १७५७ मे बिना अधिक लडे भिडे कलकत्ता फिर से छीन लिया इतिहासकार ऊर्म लिखता है कि क़िले मे नवाब के सैनिको ने कम्पनी सामान को कोई विशेष हानि न पहुँचाई थी। इसके बाद अँगरेज़ों ने हुग की रसद को नष्ट कर डाला। यह समाचार मिलने पर नवाब फिर कलक पहुँचा और सन्धि की बातचीत प्रारम्भ हुई। यह बातचीत हो ही रही थी तभी एक दिन रात को अँगरेज़ो ने नवाब के पडाव पर धावा कर दिया, जिस नवाब बहुत घबड़ा गया और फरवरी सन् १७५७ मे उसने सन्धि-पत्र प हस्ताक्षर कर दिये।

इस सन्धि के अनुसार नवाब ने अँगरेजो के व्यापारसम्बन्धी अधिका को मान लिया और क़िले की मनमानी मरम्मत करने की अनुमति दे द। बंगाल, बिहार और उडीसा में अँगरेज़ी दस्तकवाले माल पर महसूल ले बन्द कर दिया गया और सिक्का चलाने का अधिकार भी अँगरेजो को दिया गया। नवाब ने हरजाना देना भी मंज़ूर किया, पर हरजाने की ठीक रक़म का कोई निर्णय नहीं हुआ। इसी तरह फ्रासीसियो की कोई स यता न करने का भी उसने वचन दिया, पर सन्धि-पत्र मे इस विषय की शर्त रखना मंज़ूर नहीं किया।

चन्द्रनगर पर अँगरेज़ों का अधिकार—फ्रासीसी शक्ति को न करने पर क्लाइव तुला ही हुआ था। नवाब के साथ सन्धि हो जाने पर उस चन्द्रनगर छीनने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। बिना नवाब की अनुमति ऐसा करना सम्भव न था, इसलिए बहुत सी चालें चली गई और मुस हिबो को घूस देकर फ्रांसीसियो के विरुद्ध नवाब के कान भरे गये। इधर मुग सम्राट् के आने का समाचार सुनकर नवाब कुछ घबडाया हुआ था और अँ

...अँगरेज़ों का विरोध न करना चाहता था। एक दिन वह फ्रांसीसियों से ...बहुत रुष्ट हो गया और अँगरेज़ों को उन पर आक्रमण करने की उसने अनुमति ... दी। पटना में नवाब से मिलने का बहाना करके एक बड़ी सेना ... साथ क्लाइव चन्द्रनगर पहुँच गया। फ्रांसीसी बड़ी वीरता से लड़े, ... परन्तु उनके पास अधिक सेना न थी, इसलिए अन्त में उन्होंने हार ...कर, मार्च सन् १७५७ में, चन्द्रनगर अँगरेज़ों को दे दिया। दो ... बाद पाण्डुचेरी की तरह यहाँ की भी विशाल इमारतों को अँगरेज़ों ... नष्ट कर डाला।

... **नवाब के विरुद्ध षड्यंत्र**—क्लाइव मदरास से जब चला था तभी ... यह निश्चित कर लिया था, कि नवाब को बिना पदच्युत किये हुए बंगाल ... अँगरेज़ों की रक्षा होनी कठिन है। इसलिए बंगाल में भी उसने दक्षिण ... नीति से ही काम लिया। सन्धि हो जाने के बाद कासिमबाज़ार की ...ठी का अध्यक्ष वाट्स नवाब के दरबार में अँगरेज़ों का प्रतिनिधि बनाया ...या। वाट्स हिन्दुस्तानी अच्छी तरह बोल सकता था और वह नवाब तथा ... मुसाहिबों की कमज़ोरियों को खूब पहचानता था। धन के लालच में ... अमीरचन्द अपने अपमान को भूल गया था और वह भी अँगरेज़ों की ...हायता करने के लिए तैयार था। सिराजुद्दौला के बड़े बड़े मुसाहिब ... व्यवहार के कारण सदा असन्तुष्ट रहते थे। वाट्स और अमीरचन्द ने ... सबको धन का लालच देकर अपने पक्ष में गाँठ लिया। ये लोग नवाब ... उलटी सलाह देने लगे। अँगरेज़ों ने भी अपनी माँगें बढ़ा दीं, वे अपने ...ायालय खोलने और नवाब के कर्मचारियों को अँगरेज़ी दस्तूर न मानने के ... दंड देने का अधिकार चाहने लगे। हरजाना की रकम के लिए भी ... झगड़ा होने लगा। सन्धि की शर्तों को न मानने और दक्षिण में ...सीसी सहायता माँगने के लिए नवाब दोषी ठहराया जाने लगा। अन्त में ... इन लोगों ने नवाब को गद्दी से उतारकर उसकी जगह पर मीरजाफ़र को ... बनाना निश्चित किया। मीरजाफ़र अलीवर्दीख़ाँ का बहनोई और ... फ़ौज का बख्शी था।

मीरजाफ़र के साथ सन्धि—मीरजाफर श्रौर श्रँगरेजों ने एक गुप्त सन्धि की, जिसमें मीरजाफर ने श्रँगरेजों के सब अधिकारों को मान लिया श्रौर फ्रासीसियों को व्यापार न करने देने का वचन दिया। कलकत्ता के हरजाने में एक करोड़ रुपया देना मंजूर किया श्रौर श्रँगरेजों को कलकत्ता तथा चौबीस परगना की जमीन्दारी देने का वादा किया। इसके बदले में श्रँगरेजो ने उसकी सहायता श्रौर रक्षा करने का भार उठाया।

मीरजाफर के साथ सन्धि

श्रमीरचन्द को धोखा—श्रमीरचन्द बड़ा लालची था। इस षड्यंत्र मे वह अपना पूरा फायदा उठाना चाहता था। उसने कहा कि यदि मुझे

नवाब के जवाहरात का चौथाई हिस्सा और नकद रुपये पर पाँच प्रति सैकड़ा कमीशन न दिया जायगा तो मैं यह हाल सबसे कह दूँगा। अपना कमीशन पक्का करने के लिए वह यह चाहता था कि मीरजाफर और अँगरेजों के बीच जो सन्धि हो, उसमें यह शर्त लिख दी जाय। इस अवसर पर क्लाइव ने उसको खूब छकाया। उसने एक नकली सन्धि-पत्र बनाकर अमीरचन्द को दिखला दिया। वाटसन ने इस पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया, इसलिए उसके हस्ताक्षर बना दिये गये। बाद को जब यह भेद खुला तब अमीरचन्द को बड़ा दुख हुआ। अमीरचन्द ऐसे धूर्त के साथ ऐसा ही व्यवहार उचित था यह कहने से क्लाइव और उसके साथियों के आचरण पर जालसाजी का जो धब्बा लगता है, वह मिट नहीं सकता। अमीरचन्द ने अँगरेजों को कोई धोखा न दिया था। ता० १० अप्रैल सन् १७५७ को 'सिलेक्ट कमेटी' की जो बैठक हुई थी, उसमें कहा गया था कि हमें इस "उदार और धनी" व्यापारी का कृतज्ञ रहना चाहिए। इस कृतज्ञता का बदला उसको इस प्रकार दिया गया पर तब भी मरते समय वह बहुत सा धन लन्दन के एक अस्पताल को दे गया।

पलासी का युद्ध—फ्रांसीसियों के सचेत करने पर भी नवाब को इस षड्यन्त्र पर विश्वास नहीं हुआ। एक दिन जब वाट्स उसके दरबार से छिपकर भाग गया तब उसे इसका पता लगा। परन्तु मीरजाफर ने कुरान की शपथ लेकर स्वामिभक्त रहने का वचन दिया और जैसे तैसे नवाब को सन्तुष्ट किया। इन दिनों नवाब की ५० हजार सेना का पड़ाव पलासी में पड़ा हुआ था। यह स्थान मुर्शिदाबाद से २२ मील है। तीन हजार सिपाही लेकर क्लाइव वहाँ आ पहुँचा। ता० २३ जून सन् १७५७ को उसने सन्ध्या समय हमला किया। पहले ही धावे में नवाब का वीर सेनानायक मीरमदन मारा गया। मीरजाफर ने युद्ध में कोई भाग न लिया, वह दूर से खड़े हुए यही देखता रहा कि किस पर की विजय होती है। मीरमदन की मृत्यु और मीरजाफर की धोखेबाजी देखकर नवाब हताश हो गये। उसी समय रायदुर्लभ ने उसको भागने की सलाह दी। उसके भागते ही सारी सेना तितर-बितर हो गई और अँगरेजों की पूर्ण विजय हुई।

पलासी युद्ध-क्षेत्र से भागकर नवाब मुर्शिदाबाद पहुँचा, और अपने खजाने का बहुत सा धन लुटाकर सेना को अपने पक्ष में करना चाहा, पर सफल न हुआ। दूसरे ही दिन अँगरेजी सेना के साथ मीरजाफर भी मुर्शिदाबाद पहुँच गया और सिराजुद्दौला को वहाँ से भागना पड़ा। रास्ते में वह पकड़ लिया गया और मीरजाफर के लड़के मीरन ने उसको बड़ी निर्दयता से मरवा डाला। सिराजुद्दौला के विषय में इतिहासकार सलेमन लिखता है कि "उसमें चाहे जो कुछ दोष रहे हों, पर उसने देश को बेचा न था। ता० ६ फ़रवरी से २३ जून तक की घटनाओं पर विचार करनेवाले प्रत्येक निष्पक्ष अँगरेज को यह मानना पड़ेगा कि ईमानदारी में सिराजुद्दौला का पद क्लाइव से कहीं उच्च है। इस दु:खमय नाटक के प्रधान पात्रों में वही एक पात्र था, जिसने धोखा देने का प्रयत्न नहीं किया था"।[1]

युद्ध का परिणाम—सैनिक दृष्टि से पलासी का युद्ध कोई युद्ध न था, परन्तु अँगरेजों की दृष्टि में यह युद्ध बड़े महत्त्व का है। इसकी विजय ने भारतवर्ष में अँगरेजी साम्राज्य की नींव डाल दी। नवाब उनके हाथ का खिलौना बन गया और बंगाल सा धनी प्रान्त उनके अधिकार में आ गया। यहाँ की आय से अन्य राजाओं के साथ लड़ने का खर्चा चलने लगा और उत्तरी भारत में उनका आतंक जम गया। इस विजय से अँगरेज जाति का ही लाभ नहीं हुआ बल्कि कम्पनी और उसके प्रधान कर्मचारियों को भी बहुत सा धन मिला। क्लाइव को ३० लाख रुपया नकद मिला और कौंसिल के अन्य मेम्बरों को १२ लाख तथा सैनिकों को ४० लाख रुपया दिया गया। इस समय करीब एक करोड़ रुपया नावों में भरकर मुर्शिदाबाद के खजाने से कलकत्ता लाया गया।[2]

मीरजाफ़र की नवाबी—मीरजाफर ने अँगरेजों को इतना रुपया देने का वादा कर दिया था कि सिराजुद्दौला का कुल खजाना खाली हो जाने पर भी वह रकम पूरी नहीं हुई। इसलिए तीन चार साल तक राज्य की आमदनी से उसने बाकी रुपया देना स्वीकार किया। दूरदर्शी नवाब अलीवर्दी

१ हिस्टारिकल हिस्टरी आफ इंडिया, पृ० ७१।

२ टाटवेल, दूप्ले एन्ड क्लाइव, पृ० १३६।

खाँ ने अच्छी तरह समझ लिया था कि बिना हिन्दुओं के सहयोग के शासन करना सम्भव नहीं है, इसलिए उसने बड़े बड़े पदों पर हिन्दुओं को नियुक्त कर रखा था। जगतसेठ से धनी हिन्दू धन से नवाब की पूरी सहायता करते थे। सिराजुद्दौला भी इसी नीति पर चलता रहा पर अँगरेजों का सहारा मिल जाने से मीरजाफर ने इस नीति को त्याग दिया। वह बिहार के हाकिम रामनारायण और राज्य के दीवान दुर्लभराय से लड़ बैठा। हिन्दुओं के विरोध का फल यह हुआ कि उसको आर्थिक सहायता मिलनी बन्द हो गई, जिसके कारण वह अँगरेजों के पंजे में बराबर फँसता चला गया।

अलीगौहर की चढ़ाई—बंगाल की दशा देखकर आसपास के सभी राजा और नवाबों को लाभ उठाने की इच्छा होने लगी। इन दिनों मुगल सम्राट् का लड़का अलीगौहर बेकार घूम रहा था। इन सब ने मिलकर उसको खड़ा किया। अवध के नवाब की सहायता से सन् १७५९ में उसने बंगाल पर हमला किया। मीरजाफर बड़ा व्यसनी और आलसी नवाब था। उसको अफीम खाने की भी आदत पड़ गई थी, इस नई आफत को देखकर वह घबरा गया और उसने क्लाइव से, जो सन् १७५८ में बंगाल का गवर्नर बना दिया गया था, रक्षा करने की प्रार्थना की। क्लाइव थोड़ी सी सेना को लेकर पटने की ओर बढ़ा। इधर अवध के नवाब ने अवसर पाकर इलाहाबाद पर कब्जा कर लिया और शाहजादा को अकेला ही छोड़ दिया। शाहजादा बंगाल और बिहार का सूबेदार बनकर आया था, परन्तु अब उसे क्लाइव के सामने गिड़गिड़ाना पड़ा। इस समय तक मुगल सम्राट् का नाम बना हुआ था और उसको अपमानित करने का साहस अँगरेजों को न था इसलिए क्लाइव ने ५०० अशर्फियाँ भेंट करके उसको वापस कर दिया। क्लाइव के इस कार्य से प्रसन्न होकर मीरजाफर ने उसको एक जागीर दे डाला, जिसकी सालाना आमदनी ३०,००० पौंड थी। इसी के कहने पर बंगाल में शोरा के व्यापार का ठेका भी कम्पनी को दे दिया गया।

डच लोगों की पराजय—"क्लाइव का गधा" होने पर भी कुछ दिन बाद मीरजाफर को अँगरेजों का भार असह्य होने लगा। उसने बिल्कुल

के डच लोगों से बातचीत शुरू की। उन्होंने बिना सोचे-विचारे जावा में सेना बुला भेजी। फ्रांसीसी नष्ट हो ही चुके थे, यूरोप की शक्तियों में केवल यही अँगरेजों का सामना करने के लिए भारतवर्ष में रह गये थे। इंगलैंड और हालेंड में वैर न था, इसलिए इन लोगों के साथ किसी प्रकार की छेड़ खानी न की जा सकती थी। इस बहाने से इनको भी नष्ट करने का क्लाइव को अच्छा अवसर मिल गया। उसने उनके जहाजों को पकड़ लिया और विदेरा की लडाई में उन्हें हरा दिया। इस तरह अँगरेजों के मार्ग से यूरोप का एक और कंटक भी दूर हो गया।

क्लाइव की वापसी—फरवरी सन १७६० में बहुत सा धन लेकर क्लाइव इंग्लैंड वापस चला गया। चार वर्ष में कम्पनी की स्थिति में उसने आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिया, फ्रांसीसी और डच लोगों की शक्ति को नष्ट कर डाला तथा दक्षिण और बंगाल के नवाबों को अपने हाथ में कर लिया। इस तरह उसने अँगरेजों को व्यापारी से शासक बना दिया। उसके जाने पर वैनसिटार्ट बंगाल का गवर्नर नियुक्त हुआ।

शासन का अभाव—मीरजाफर में शासन की योग्यता न थी, वह नाम मात्र को नवाब था। सारा शासन अँगरेजों के हाथ में था। इसका परिणाम यह हुआ कि शासन की जिम्मेदारी किसी पर भी न रही और बड़े बड़े कर्मचारी मनमानी करने लगे। शाहजादा और मराठों के भय से नवाब को बार बार अंगरेजों से सहायता माँगनी पडती थी। इस सहायता के लिए नवाब को अँगरेजी सेना का भार उठाना पडता था और कम्पनी के कर्मचारियों को प्रसन्न रखना पडता था। इसके लिए उसके पास धन न था, क्योंकि अँगरेज उसकी आमदनी में बराबर हस्तक्षेप करते थे। अँगरेज गुमाश्ता हिन्दुस्तानी व्यापारियों को बिना महसूल व्यापार करने के लिए अँगरेजी दस्तकें दे देते थे, जिससे नवाब की आमदनी में बडा घाटा होता था। ढाका के कुछ अंगरेज व्यापारियों ने नमक और सुपाडी का कुल व्यापार अपने हाथ में ले रखा था। वे न तो किसी हिन्दुस्तानी को इसमें भाग लेने देते थे और न नवाब को एक पैसा देते थे। महसूल माँगने पर वे नवाब के कर्मचारियों के साथ

बड़ा बुरा बर्ताव करते थे। ऐसी दशा में सरकारी खजाना भरने के लिए प्रजा पर तरह तरह के अत्याचार होते थे। कई सालों से सेना का वेतन बाकी पड़ा था, जिसके लिए सिपाही नवाब को बराबर तंग किया करते थे। इस तरह नवाब का खजाना खाली था और उसका कोई शासन न था।

दूसरी ओर कम्पनी की भी ऐसी ही दशा थी। उसके कर्मचारी अपने निजी व्यापार में लगे थे, कम्पनी के लाभ की ओर कुछ भी ध्यान न देते थे, और नवाब से बड़ी बड़ी रकमें ऐंठते थे। क्लाइव ऐसे बड़े बड़े अफसरों ने जब इस तरह बहुत सा धन कमाया था, तब फिर साधारण कर्मचारियों का कहना ही क्या था। वे तो अपने अफसरों का ही अनुकरण कर रहे थे। खूब रुपया मिल जाने से वे इन दिनों बड़ी शान से रहते थे और कम्पनी के हानि या लाभ की कुछ भी पर्वाह न करते थे। कम्पनी को खूब सम्पत्ति मिलने का समाचार पहुँचने पर इंग्लैंड से धन की सहायता आनी बन्द हो गई थी। बम्बई और मदरास से बराबर धन की माँग आ रही थी। इतिहासकार मिल के शब्दों में इन दिनों कलकत्ता का खजाना खाली था। सेना में वेतन न मिलने के कारण बड़ी अशान्ति फैल रही थी। कम्पनी की आय से कलकत्ता का खर्च तक नहीं चलता था।

दूसरा षड्यंत्र—कम्पनी की इस अवस्था को देखकर कलकत्ता के अधिकारियों ने दूसरा षड्यन्त्र रचना प्रारम्भ किया। मीरजाफर अंगरेजों की लूट-खसोट से परेशान आ गया था। उसका लड़का मीरन जैसे तैसे काम चला रहा था। सेना उसके काबू में थी। सन् १७६० में उसके एकाएक मरने से सेना में बड़ी अशान्ति फैल गई और नवाब बिलकुल हताश हो गया। इस अवसर पर उसके दामाद मीरकासिम ने उसकी सहायता की। उसने तीन लाख रुपया अपनी जेब से देकर सिपाहियों को शान्त किया। इससे सेना पर उसका बड़ा रोब जम गया। अंगरेजों ने अब इसी को नवाब बनाना चाहा। मीरकासिम ने भी बहुत सा धन देने का लालच दिया और सेना का खर्च चलाने के लिए एक लाख रुपया माहवार देने का वादा किया। पहले तो कलकत्ता के गवर्नर ने मीरजाफर को धमकाकर इस बात पर राजी किया कि वह

मीरकासिम को नायब बना दे, पर बाद में थोड़ी सी सेना भेजकर मीरजाफर को गद्दी से उतार दिया और मीरकासिम को नवाब बना दिया। इस तरह बिना लड़े भिड़े अक्तूबर सन् १७६० में मीरकासिम बंगाल का नवाब बन गया। कौंसिल के कई एक सदस्यों की राय में पहले सहायता का वचन देकर फिर मीरजाफर को गद्दी से उतारना एक ऐसा कलंक का धब्बा था जो मिट नहीं सकता।

मीरक़ासिम की नवाबी—मीरकासिम एक योग्य शासक था। उसने शासन में बहुत कुछ सुधार किया। एक लाख रुपया मासिक के बदले में उसने अँगरेजी फौज का खर्चा चलाने के लिए बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले कम्पनी को दे दिये। इन जिलों की आमदनी बहुत अधिक थी। मीरजाफर के समय में कई एक जमीन्दारों ने रुपया देना बन्द कर दिया था। मीरकासिम ने इन सबसे रुपया वसूल किया। फौज का बहुत सा वेतन बाकी था, उसको भी चुकाने का उसने प्रयत्न किया। कम्पनी के माल को छोड़कर बाकी लोगों के माल पर चुंगी वसूल करने के लिए उसने अपने
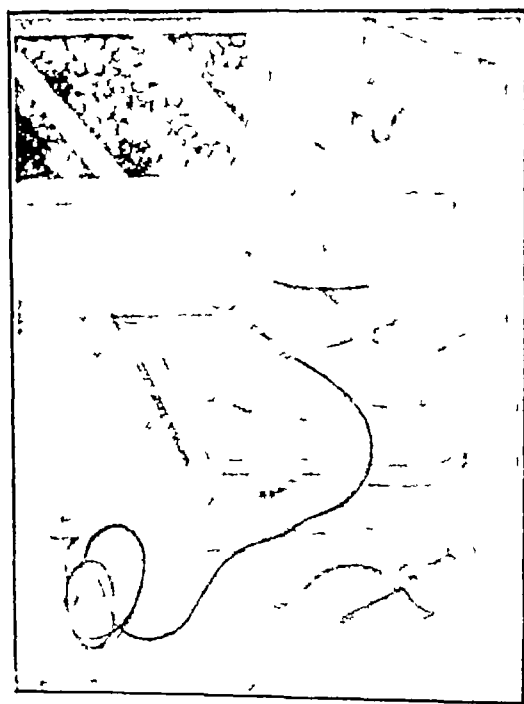
मीरकासिम

फौजदारों को कड़ी ताकीद की। वह अपने को बंगाल का मुख्य शासक समझता था और अँगरेजों के हाथ का खिलौना बनकर न रहना चाहता था।

अँगरेज़ों से झगड़ा—मीरकासिम के सुधार अँगरेजों को बहुत खटके, इसलिए वे तरह तरह की बाधाएँ डालने लगे। पटना के जमीन्दार रामनारायण से जब नवाब ने हिसाब माँगा, तब वहाँ की कोठी के अध्यक्ष कूट ने उसको बहका दिया। मीरकासिम बंगाल की सूबेदारी के लिए मुगल सम्राट् की सनद चाहता था परन्तु कूट ने यह भी न होने दिया। पटना में खुले तौर से उसने नवाब का अपमान किया। कूट के बाद पटना में एलिस नियुक्त हुआ। यह बड़े उद्दण्ड स्वभाव का आदमी था। इसने नवाब को और भी तंग किया। नवाब ने कुछ अँगरेज अपराधियों को मुँगेर में छिपा रक्खा है ऐसा समझकर इसने मुँगेर किले की तलाशी लेने का उद्योग किया। अँगरेज अफसरों के घृणित व्यवहार से परेशान होकर मीरकासिम ने कई बार कलकत्ता लिख भेजा कि इससे तो यही अच्छा है कि मेरे हाथ से शासन-भार ले लिया जाय।

दस्तकों का दुरुपयोग—कम्पनी के गुमाश्ते दस्तकों का दुरुपयोग बहुत दिनों से कर रहे थे। वे हिन्दुस्तानी व्यापारियों से रुपया लेकर उनको बिना महसूल के व्यापार करने देते थे। इससे नवाब को २५ लाख रुपया साल का नुकसान होता था। अँगरेज व्यापारी केवल कपड़े का ही काम नहीं करते थे, उन्होंने नमक, सुपारी, तमाखू, चीनी, घी, तेल, चावल, शोरा सभी का काम अपने हाथ में ले रखा था और इन चीजों पर वे एक पैसा भी महसूल देने के लिए तैयार न थे। हिन्दुस्तानियों से इन वस्तुओं को सस्ते दाम पर खरीदकर वे मनमाने भाव से बेचते थे। इससे जनता को बड़ा कष्ट मिलता था। नवाब तक को शोरा मिलना मुश्किल हो गया था। इसका व्यापार अँगरेजों के हाथ में था, इसलिए वे किसी को हस्तक्षेप न करने देते थे। अँगरेज गुमाश्तों ने जगह जगह पर अपनी कचहरियाँ खोल रक्खी थीं। वहाँ वे लोगों को दण्ड देते थे और तरह तरह के नजराने वसूल करते थे। नवाब के फौजदारों को कोई पूछता तक न था।

था, जिन्होंने जिस दिन से वह नवाब हुआ, ज़रा ज़रा सी बात से उसके शासन को रौंदने तथा उसके अफ़सरों को अपमानित करने और धमकाने में कोई कसर उठा न रखी ।[1]

मीरजाफ़र की दूसरी नवाबी—मीरजाफर को दूसरी बार मसनद पर बिठलाने के समय अँगरेजों ने उसके साथ एक नई सन्धि की। इसके अनुसार मीरकासिम की बिना चुंगी के व्यापार की आज्ञा रद कर दी गई। यह अधिकार केवल अँगरेजों के ही हाथ में रह गया। केवल नमक पर ढाई सैकड़ा चुंगी देना अँगरेजों ने स्वीकार किया। कम्पनी का सिक्का जायज मान लिया गया और महाजनों को उस पर बट्टा लेने से मना कर दिया गया। नवाब की सेना घटा दी गई। उसको
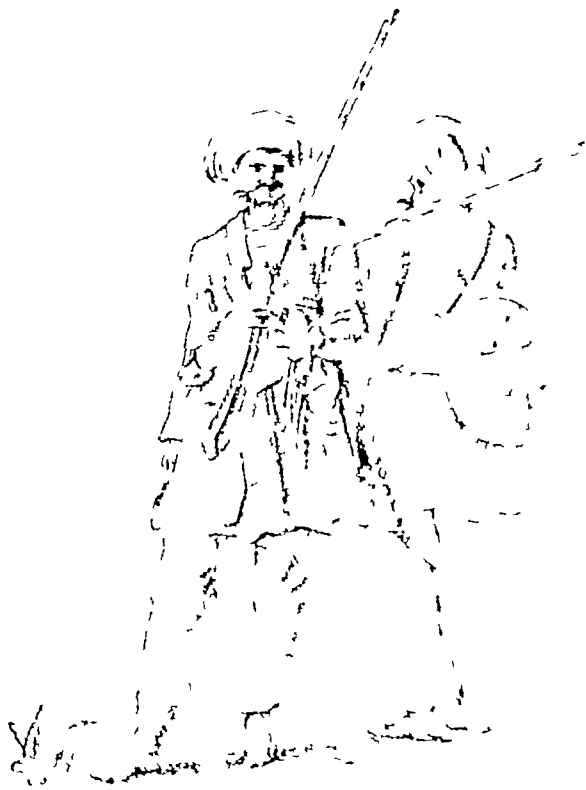
बंगाल के बन्दूकची

केवल १२ हजार सवार और १२ हजार पैदल रखने की आज्ञा मिली। उसके दरबार में एक अँगरेज रेजीडेंट भी नियुक्त कर दिया गया। नवाब

[1] वन्सिटार्ट, नेरेटिव जि० ३ पृ० ३८१—८३ ।

ने कम्पनी को ३० लाख रुपया हरजाना देने का वादा किया और कम्पनी के अफसरों का जो कुछ नुकसान हुआ था, उसको भी पूरा करने का वचन दिया। थोड़े दिन बाद अंगरेजी सेना के खर्च के लिए नवाब ने ५ लाख रुपया माहवार देना भी स्वीकार कर लिया।

आर्थिक दुर्दशा—दस्तकों के दुरुपयोग से व्यापार को जो हानि पहुँच रही थी, उसका उल्लेख किया ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त देश की कलाओं को भी नष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा था। बोल्ट्स लिखता है कि जुलाहों को दादनी देकर मुचलका लिखवा लिया जाता था, इसके अनुसार उसे कुल माल कम्पनी को देना पड़ता था। मुचलके पर जबरदस्ती हस्ताक्षर करवा लिये जाते थे और दादनी का रुपया कोड़े लगा लगाकर जुलाहों के मत्थे मढ़ दिया जाता था। वे गुमाश्तों के गुलाम बन जाते थे और किसी दूसरे के हाथ अपना माल बेच न सकते थे। उन पर बराबर पहरा रहता था, जिसका खर्चा भी उन्हीं को देना पड़ता था और थान पूरा होते ही करघे से उतार लिया जाता था।[1] इस माल का दाम कम्पनी मनमाना देती थी। सन् १७८६ के एक पत्र में संचालकों ने भी इसको माना है। वे लिखते हैं कि जुलाहे कम्पनी के अधीन काम करना पसन्द नहीं करते, क्योंकि उनको पूरा दाम नहीं मिलता है। अन्य विदेशी हमसे २० से ३० सैकड़ा अधिक दाम देते हैं। इसका फल यह हुआ कि बहुत से जुलाहों ने अपना काम छोड़ दिया।

खेती की भी यही दशा थी। बोल्ट्स का कहना है कि रैयत खेती के साथ साथ कताई बुनाई का काम भी करती थी, पर गुमाश्तों के अत्याचार के कारण खेती में भी बाधा पड़ने लगी। किसानों को लगान तक देना मुश्किल हो गया, जिसके लिए उन्हें मालविभाग के अफसर तंग करने लगे। इनका अत्याचार कभी कभी इतना बढ़ जाता था कि बेचारे किसानों को अपने बच्चे बेचकर लगान चुकाना पड़ता था या देश छोड़कर भाग जाना पड़ता था। व्यापार और खेती की यह दशा होने के कारण जनता की आर्थिक

---

[1] बोल्टस, कन्सीडरेशन आन इंडियन अफेयर्स, पृ० १९१–९४।

दशा बड़ी शोचनीय हो गई। इसके अतिरिक्त बहुत सा धन इंग्लैंड चला गया। नवाबी शासन के पतन से बहुतों की रोजी मारी गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश में बेकारी बहुत बढ़ गई और लूट-मार होने लगी।

बक्सर की लड़ाई—मीरकासिम भागकर अवध पहुँचा। वहाँ के नवाब शुजाउद्दौला ने उसका बहुत आदर किया। इन दोनों ने एक बड़ी सेना एकत्र की और मुगल सम्राट् शाहआलम को साथ लेकर, दिसम्बर सन् १७६४ में, बिहार तथा बंगाल पर धावा कर दिया। मुगल सम्राट् वही शाहजादा था, जो पहले बिहार पर हमला कर चुका था। इन लोगों की सेना ४० से ६० हजार तक कही जाती है। मीरकासिम ने इस सेना को अच्छी शिक्षा दी थी। ता० २३ अक्तूबर सन् १७६४ को बक्सर में अँगरेजों से लड़ाई हुई। उनकी सेना में ७०७२ सिपाही थे, जिनमें ८५७ गोरे और २० तोपें थीं। मेजर मनरो इस सेना का सेनापति था। सबेरे ९ बजे से तीसरे पहर तक घोर युद्ध हुआ। नवाब की सेना बड़ी वीरता से लड़ी, पर सम्राट् की सेना ने पूरा साथ नहीं दिया और शुजाउद्दौला से भी भूल हुई, इसलिए अन्त में अँगरेजों की ही विजय हुई। शुजाउद्दौला तथा मीरकासिम मैदान से भाग निकले और शाहआलम अँगरेजों की शरण में आ गया। अँगरेजों ने शुजाउद्दौला का पीछा किया और चुनार तथा इलाहाबाद के किले छीन लिये। बक्सर की विजय ने पलासी का काम पूरा कर दिया।

मीरजाफ़र की मृत्यु—सन १७६५ में वृद्ध नवाब मीरजाफर मर गया और उसका लड़का नजमुद्दौला गद्दी पर बैठा। इसके साथ अँगरेजों ने फिर एक नई सन्धि की। इसके अनुसार नवाब को अपनी सेना और [illegible] घटानी पड़ी और अँगरेजी सेना को बराबर ५ लाख रुपया माहवार देना मंजूर करना पड़ा। मुहम्मदरिजा खाँ नायब बनाया गया और नवाब के बड़े बड़े अफसरों को नियुक्त करने या निकालने का अधिकार अँगरेजों को दिया गया। [illegible] की मालगुजारी वसूल करने के लिए मुतसद्दियों का रखना और निकालना भी अँगरेजों के ही हाथ में रखा गया। व्यापार के विषय में मीरकासिम

प्रधान सेनापति का पद भी दिया गया और शासन के दोषों को दूर करने के लिए बहुत से अधिकार दिये गये।

क्लाइव के सुधार—भारतवर्ष पहुँचकर क्लाइव ने पहले कम्पनी के कर्मचारियों को ठीक करने की ओर ध्यान दिया। सञ्चालकों ने इसके आने के बहुत पहले नवाबों से इनाम न लेने और निजी व्यापार न करने के लिए लिख भेजा था परन्तु कलकत्ता की कौंसिल ने इस पर कुछ भी ध्यान न दिया था। सञ्चालकों की आज्ञा के विरुद्ध कौंसिल तक के मेम्बर नवाबों से खूब धन लेते थे। कम्पनी के प्रायः सभी कर्मचारी घूस खाते थे। इस दशा का वर्णन करते हुए स्वयं क्लाइव, ता० ३० सितम्बर सन् १७६५ के पत्र में, सञ्चालकों को लिखता है कि भारतवर्ष पहुँचने पर मैंने देखा कि शासन का कहीं नाम तक नहीं रह गया है। खूब धन मिलने से अफसर लोग बड़ी शान से रहते हैं और उनके मातहत भी उन्हीं का अनुकरण करते हैं। सेना-विभाग को भी इसका चस्का लग गया है और व्यवस्था का बन्धन ढीला हो गया है। घूसखोरी और आरामतलबी अधिक बढ़ जाने से कोई शासन कायम नहीं रह सकता है। कम्पनी के गुमाश्ता रैयत पर अत्याचार करते हैं। मुझे भय है कि इस देश में अँगरेजों के नाम पर यह ऐसा धब्बा लग गया है जो कभी न छूटेगा। महत्त्वाकांक्षा, सफलता और आराम-तलबी से एक नई शासन-व्यवस्था उत्पन्न हो गई है, जिससे अँगरेजों की प्रतिष्ठा घट रही है तथा कम्पनी में विश्वास उठ रहा है। यह साधारण न्याय और मानवता के भी विरुद्ध है।

इस दशा को सुधारने के लिए उसने कर्मचारियों से एक नया प्रतिज्ञा-पत्र लिखवाया जिसमें उन्होंने भेंट या नजराना न लेने का वचन दिया। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि यह प्रथा बन्द हो गई। नये प्रतिज्ञा-पत्र का आशय केवल इतना ही था कि चार हजार से कम की रकम के लिए कौंसिल की अनुमति लेनी पड़ेगी और अधिक होने से उस रकम को कम्पनी को दे देना पड़ेगा। इसका फल यह हुआ कि कर्मचारियों के नजराना लेने से कम्पनी को जो हानि होती थी, वह बन्द हो गई। इस पर इतिहासकार मिल

ने ठीक लिखा है कि नजराने की रकम अब बजाय कर्मचारियों के कम्पनी की जेब में जाने लगी। इस सुधार में क्लाइव को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु अन्त में उसने सबको दबा लिया।

कर्मचारियों के निजी व्यापार को वह बन्द न कर सका, इसका मुख्य कारण यह था कि उन दिनों इसके बन्द करने की उपयोगिता में उसको स्वयं विश्वास न था। उसका कहना था कि कर्मचारियों को अच्छा वेतन नहीं मिलता है, उनका नजराना लेना भी बन्द करा दिया गया है, ऐसी दशा में बिना निजी व्यापार के उनका खर्चा पूरा नहीं पड़ता है। इसलिए उसने बड़े बड़े अफसरों की एक सोसायटी को नमक, सुपारी, अफीम और तमाखू के व्यापार का ठेका दे दिया। इसके लाभ का कुछ हिस्सा कम्पनी को मिलता था और बाकी हिस्सेदारों में बँट जाता था। कम्पनी के संचालक इसके विरुद्ध थे, पर तब भी उसने इसका प्रबन्ध कर दिया।

इन दिनों कलकत्ता की कौंसिल में बड़ा गोलमाल था। कम्पनी का सारा प्रबन्ध और शासन इस कौंसिल के हाथ में था। कौंसिल के सदस्य प्राय बड़ी बड़ी कोठियों के अध्यक्ष होते थे। जब उनके प्रबन्ध की आलोचना कौंसिल में होती थी, तब वे निष्पक्ष भाव से विचार नहीं करते थे। क्लाइव को यह भी पता लगा था कि कई एक सदस्यों ने नवाब नजमुद्दौला और नायब मुहम्मदरिजा खाँ से बड़ी बड़ी रकमें ली हैं। इस कौंसिल में जब जगहें खाली हुई तब क्लाइव ने मदरास से चार आदमियों को बुलाकर मेम्बर बनाया। वह मदरास के कर्मचारियों को अधिक ईमानदार समझता था। कौंसिल को न्याय में निष्पक्ष रखने के लिए उसने यह भी नियम बना दिया कि कौंसिल के मेम्बरों को कोई और पद न दिया जाय।

क्लाइव ने सेना के सगठन में भी बहुत कुछ सुधार किया। मेजर कार्नक को उसने सेनापति बनाया और पैदल सेना के तीन बड़े बड़े दल कर दिये। इनका भार योग्य अफसरों को दिया गया। इन दिनों सेना का खर्च खूब बढ़ा हुआ था। कम्पनी की कुल आमदनी इसी में खर्च हो जाती थी। अफसरों को वेतन के अतिरिक्त भत्ता मिलता था। मीरजाफर ने इस भत्ते की रकम

को दुगना किया था। जब तक नवाबों से यह रकम मिलती रही, तब तक तो कोई हानि न थी, पर लड़ाई बन्द हो जाने से यह रुपया इस समय कम्पनी को देना पड़ता था। दुगुने भत्ते का नियम बंगाल ही में था, मदरास में इतना भत्ता न मिलता था, इसलिए वहाँ के अफसर बहुत असन्तुष्ट थे। कम्पनी का खर्चा कम करने और मदरास के अफसरों को शान्त करने के लिए क्लाइव ने 'डबल भत्ते' के नियम को उठा दिया। इसके विरुद्ध अफसरों ने बड़ा आन्दोलन मचाया पर उसने सबको शान्त कर दिया।

राजनैतिक प्रबन्ध—क्लाइव के आने के पूर्व बक्सर का युद्ध हो चुका था, परन्तु इस समय तक कोई सन्धि नहीं हुई थी। बक्सर से भागकर शुजाउद्दौला ने मराठों और रुहेलों को मिलाने का प्रयत्न किया, परन्तु इसमें उसको सफलता न हुई। इधर अंगरेजों ने उसके कई अफसरों को फोड़ लिया।[1] इसलिए शुजाउद्दौला इस समय सन्धि के लिए तैयार था। शाहआलम की कोई गिनती ही न थी। बक्सर की विजय पर अंगरेजों को उसने स्वयं बधाई दी थी। मीरकासिम भागा हुआ था।

इलाहाबाद की सन्धि—अगस्त सन् १७६५ में इलाहाबाद की सन्धि हुई। शुजाउद्दौला से कड़ा और इलाहाबाद के जिले लेकर शाहआलम को दिये गये। अंगरेजों के प्रार्थना करने पर उसने कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की 'दीवानी' अर्थात् कर वसूल करने का अधिकार दे दिया। उसे "अपनी इच्छा के विरुद्ध" ऐसा करना पड़ा।[2] अंगरेजों ने सूबा की आमदनी से २६ लाख रुपया सालाना सम्राट् को देना स्वीकार किया और बाकी रुपया अपने हाथ में लिया। शुजाउद्दौला ने अंगरेजों को ५० लाख रुपया हरजाना देना स्वीकार किया और अवध में बिना महसूल के व्यापार करने की अनुमति दे दी। अंगरेज अवध में भी अपनी कोठियाँ खोलना चाहते थे, परन्तु बंगाल की दशा देखकर शुजाउद्दौला ने इस शर्त को [illegible]

---

१ कैलेंडर आफ पर्शियन कारस्पान्डेन्स, जि० १, पृ० [illegible]।

२ सियर-उल-मुताखरीन, जि० ३, पृ० ९।

उद्देश्य रखा। इसी उद्देश्य से उसने शुजाउद्दौला के साथ सन्धि की। मराठे इस समय दिल्ली तक पहुँच चुके थे और पूर्व की तरफ बराबर बढ़ रहे थे। इधर रुहेले जोर पकड़ रहे थे। शुजाउद्दौला इन दोनों को मिलाकर अँगरेजों की शक्ति नष्ट करना चाहता था। ऐसी दशा में शुजाउद्दौला से मित्रता कर लेने ही में क्लाइव ने अँगरेजों का हित देखा। अब कोई शक्ति उत्तर-पश्चिम की ओर से बिना शुजाउद्दौला से लड़े हुए बंगाल पर आक्रमण न कर सकती थी। इस तरह बंगाल की पश्चिमी सीमा को उसने दृढ़ बना दिया। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक अँगरेजों ने अवध के सम्बन्ध में इसी नीति से काम लिया। अवध इस समय बंगाल की बड़ी भारी आड़ था, इसको [illegible] बुद्धिमानी न थी।

शाहआलम से दीवानी लेने में भी एक बड़ा भारी रहस्य था। सम्राट् को २६ लाख रुपया सालाना देना क्लाइव ने योंही स्वीकार नहीं कर लिया था। वह अँगरेजों की शरण में था और नवाब वजीर ने उसका साथ छोड़ दिया था। क्लाइव यह अच्छी तरह जानता था कि मुगल सम्राट् [illegible] बना हुआ है। स्वतंत्र होते हुए भी देशी शासक उसी से साम्राज्य के [illegible]धिकारी होने में अपना मान समझते हैं। ऐसी दशा में बिना [illegible] अँगरेजों का सम्मान नहीं हो सकता, साधारण जनता में वे व्यापारी [illegible]। इसके अतिरिक्त बंगाल में फ्रांसीसी और डच लोगों का [illegible] हो गया था। उनकी सरकारों को देश की वास्तविक स्थिति का [illegible] था, वे इस समय भी मुगल सम्राट् को भारतवर्ष का सच्चा [illegible] थीं। ऐसी दशा में बिना मुगल सम्राट् की आज्ञा के बंगाल की [illegible] में हस्तक्षेप करना उचित नहीं जान पड़ता था। विदेशी सरकारों की दृष्टि में अपने कार्यों को नियमानुसार सिद्ध करने के लिए शाही [illegible] की आवश्यकता थी।[1]

बंगाल के नवाब के साथ भी इसी नीति का अवलम्बन करके दोहरे शासन की प्रथा चलाई गई। यदि अँगरेज चाहते तो बंगाल के नवाब [illegible]

[1] [illegible] १२६।

तथा अन्य यूरोपियनों को जलन होती है, अब भी सदा की भाँति नवाब के हाथ में है।"[1]

अपनी नीति में डूप्ले की भूलों को सुधारते हुए इसने इसका बहुत कुछ अनुकरण किया। इसके दोहरे शासन को आगे चलाना असम्भव हो गया, परन्तु इस समय इसके अतिरिक्त और कोई उपाय न था। भारतवर्ष में वह यूरोपियनों से बड़ा घबड़ाता था और उनके नष्ट करने का [illegible] प्रयत्न किया करता था।

उसका चरित्र—अमीरचन्द को धोखा देने और मीरजाफर से बड़ी बड़ी रकमें लेने का उसके चरित्र पर बड़ा भारी कलंक लगाया जाता है। इतिहासकार स्मिथ की राय में जाली सन्धि का समर्थन "धार्मिक या राजनैतिक दोनों में से किसी दृष्टि से नहीं किया जा सकता है। नजराना और जागीरें लेना उन दिनों साधारण बात थी। फ्रांसीसियों ने भी ऐसा ही किया था, अँगरेज कम्पनी के और कर्मचारी भी यही करते थे। यदि क्लाइव के साथ कोई भेद था, तो इतना ही कि वह स्वार्थ के वश होकर कम्पनी के हित को बिलकुल न भूल जाता था। जब इंगलैंड वापस जाने पर उस पर [illegible] चलाया गया, तब पार्लामेंट की कामन्स सभा ने यही [illegible] किया कि नजराना लेने के "साथ ही साथ राबर्ट लार्ड क्लाइव ने देश की बड़ी भारी और योग्य सेवा की।"

कम्पनी के संचालकों की आज्ञा के विरुद्ध उसने कर्मचारियों को निजी व्यापार जारी रखने दिया, इसकी इतिहासकार मिल ने बड़ी निन्दा की है। वह उसकी बनाई हुई 'सोसायटी' के कार्यों को "लज्जाजनक" बतलाता है। उसके इस मत का इतिहासकार स्मिथ भी समर्थन करता है। वह लिखता है कि किसी निष्पक्ष इतिहासकार के लिए यह कहना असम्भव है कि वह [illegible] एशियाई लोगों के साथ उन्हीं के छल-कपट की चालों को न चलता था, उसको लालच न था, और बिना किसी सोच-विचार के उनकी [illegible] न करता था। इस निर्णय से उसकी स्तुति पर [illegible]

[1] [illegible] पार्लमेण्टरी हिस्ट्री ऑफ इण्डिया [illegible]

परिच्छेद ८

देश की दशा

पानीपत का प्रभाव—पहले तीन पेशवाओं के समय में मराठों की उन्नति देखकर जान पड़ता था कि किसी दिन सारे भारत में इनका साम्राज्य स्थापित हो जायगा, परन्तु सन् १७६१ में पानीपत के मैदान में [illegible] सदा के लिए विलीन हो गई। मुगल साम्राज्य का पतन हो ही चुका था, मराठों की हार के साथ साथ अँगरेजों का मार्ग साफ हो गया। [illegible] क्लाइव ने जिस साम्राज्य-वृक्ष का आरोपण किया था उसके [illegible] पनपने में, परन्तु अँगरेजों के सौभाग्य से कुछ काल के लिए मराठों [illegible] गति रुक गई और इस अवसर में उस वृक्ष की जड़ बंगाल की [illegible] अच्छी तरह धँस गई। इसी लिए कुछ इतिहासकारों का मत है कि [illegible] भारत के इतिहास में पलासी के युद्ध की अपेक्षा पानीपत का युद्ध अधिक महत्त्व का है। इस युद्ध ने उत्तरी भारत में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि जिससे अँगरेजों को उत्तर-पश्चिम की ओर से कोई भय न रह गया।

कर लेने ही में अपना हित समझा और तब से बराबर उनका साथ देता रहा। अँगरेज़ों की नीति को वह खूब समझता था, इसी लिए उनके बहुत कुछ कहने सुनने पर भी उसने उनको अवध में कोठियाँ खोलने की अनुमति नहीं दी। इलाहाबाद की सन्धि से उसको अवध तो वापस मिल गया, पर वह बिलकुल तबाह हो गया। कहा जाता है कि इस समय पर उसने अपनी बेगम की नथनी तक बेचकर अँगरेज़ों को रुपया दिया था।[1]

रुहेलों का राज्य—रुहेलखण्ड में जो पहले 'कटेहर' कहलाता था [illegible] अफ़ग़ानी बसते थे। ये बड़े वीर और लड़ाकू थे। औरंगज़ेब के मरने पर अलीमुहम्मद नाम के एक सरदार ने यहाँ अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। कुछ लोगों का कहना है कि पहले वह एक जाट हिन्दू था। उसने अपनी सेना का अच्छा संगठन किया और अपनी [illegible] में [illegible] के [illegible] सरदारों को मिला लिया। आँवला में इसकी राजधानी थी। सन् [illegible] में यहीं उसकी मृत्यु हुई। मरने के पूर्व वह अपना राज्य [illegible] को बाँट गया और हाफ़िज़ रहमतख़ाँ को उनका [illegible] सेनाध्यक्ष बना गया।

हाफ़िज़ रहमतख़ाँ ने शासन में कई एक सुधार किये। [illegible] के लिए उसने सब प्रकार के महसूल उठा दिये। सरदारों ने इसका बड़ा विरोध किया, क्योंकि इससे उनकी आय को बड़ी हानि पहुँची, परन्तु उसने प्रजाहित की दृष्टि से इस विरोध की कुछ भी परवाह नहीं की। इस स्वतंत्र व्यापार से रुहेलखण्ड को बड़ा लाभ हुआ। उसके शासन-काल में हिन्दू प्रजा की भी रक्षा होती थी और उसके साथ कोई पक्षपात न होने पाता था।[2] हाफ़िज़ रहमतख़ाँ पीलीभीत में रहता था। वह स्वयं विद्वान् था। उसके पास पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह था जो उसके [illegible] इंग्लैण्ड चला गया। रुहेलखण्ड की पश्चिमोत्तर सीमा पर मराठों का ज़ोर [illegible] था और पूर्व की ओर अवध का राज्य था। इन दोनों के बीच [illegible]

[1] [illegible]

[2] [illegible]

कर लेने ही में अपना हित समझा और तब से बराबर उनका साथ देता रहा। अँगरेजों की नीति को वह ख़ूब समझता था, इसी लिए उनके बहुत कुछ कहने सुनने पर भी उसने उनको अवध में कोठियाँ खोलने की अनुमति नहीं दी। इलाहाबाद की सन्धि से उसको अवध तो वापस मिल गया, पर वह बिलकुल तबाह हो गया। कहा जाता है कि इस समय पर उसने अपनी बेगम की नथनी तक बेचकर अँगरेजों को रुपया दिया था।[1]

रुहेलों का राज्य—रुहेलखंड में, जो पहले 'कठेर' कहलाता था बहुत से अफ़गानी बसते थे। ये बड़े वीर और लड़ाकू थे। औरंगजेब के मरने पर अलीमुहम्मद नाम के एक सरदार ने यहाँ अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। कुछ लोगों का कहना है कि पहले वह एक जाट हिन्दू था। उसने अपनी सेना का अच्छा संगठन किया और अपनी उदारता से प्रान्त के सब सरदारों को मिला लिया। आँवला में इसकी राजधानी थी। सन् १७४९ में यहीं उसकी मृत्यु हुई। मरने के पूर्व वह अपना राज्य अपने लड़कों को बाँट गया और हाफ़िज रहमतखाँ को उनका संरक्षक तथा दुंदीखाँ को सेनाध्यक्ष बना गया।

हाफिज रहमतखाँ ने शासन में कई एक सुधार किये। व्यापार की उन्नति के लिए उसने सब प्रकार के महसूल उठा दिये। सरदारों ने इसका बड़ा विरोध किया, क्योंकि इससे उनकी आय को बड़ी हानि पहुँची, परन्तु उसने प्रजाहित की दृष्टि से इस विरोध की कुछ भी पर्वाह नहीं की। इस स्वतंत्र व्यापार से रुहेलखंड को बड़ा लाभ हुआ। उसके शासन-काल में हिन्दू प्रजा की भी रक्षा होती थी और उसके साथ कोई अत्याचार न होने पाता था।[2] हाफिज रहमतखाँ पीलीभीत में रहता था। वह बड़ा विद्वान् था। उसके पास पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह था, जो उसके मरने पर लखनऊ चला गया। रुहेलखंड की पश्चिमोत्तर सीमा पर मराठों का जोर रहता था और पूर्व की ओर अवध का राज्य था। इन दोनों की अति को

[1] सियर-उल-मुताखरीन, जि० २, पृ० ५८५।

[2] स्ट्रेची, हेस्टिंग्ज ऐंड दि रुहेला वार, पृ० ३०-३१।

रोकने के लिए रुहेले कभी मराठों से मित्रता करते थे और कभी नवाब वजीर से।

सिखों का सगठन—इधर पजाब मे सिखो का ज़ोर बढ रहा था। अपने बल का ज्ञान होने पर धीरे धीरे इनमे भी जमीन के मालिक बनने की इच्छा हो रही थी। इनके कई एक दल बन गये थे, जो 'मिसल' कहलाते थे। इनमे १२ मिसले मुख्य थीं। जो सरदार जिस मिसल को स्थापित करता था, वह मिसल उसी के नाम से प्रसिद्ध हो जाती थी। एक मिसल को स्थापित करनेवाला सरदार भाग बहुत पीता था, इसलिए उसकी मिसल 'भगी' कहलाती थी। इन मिसलो को जहाँ जो जमीन मिल गई, उसी पर उन्होने अधिकार कर लिया। इसका फल यह हुआ कि थोडे ही काल मे पजाब मुगल बादशाहो के हाथ स जाता रहा। सरदार जसासिह ने लाहोर जीत लिया और वह अपना सिक्का चलाने लगा। अहमदशाह दुर्रानी कई बार आक्रमण करके भी सिखो को दबा न सका, उन्होने सरहिन्द छीन लिया और मुसलमानी अत्याचार का भरपूर बदला लिया। अन्त मे दुर्रानी ने पटियाला के एक सरदार को सरहिन्द का हाकिम बना दिया।

इन भिन्न भिन्न मिसलो को एकता मे बाँधनेवाले दो बन्धन थे, एक तो सिख धर्म की रक्षा और दूसरे खालसा की उन्नति। इन दो के सिवा मिसलो में और कोई परस्पर का सम्बन्ध न था। कोई बाहरी शत्रु न होने पर ये दल आपस ही मे लडा करते थे। इन मिसलो के अतिरिक्त अमृतसर मे 'अकालियो' का दल था, जिसके हाथ मे गुरुद्वारो का प्रबन्ध था। ये अकाली हर समय लडने मरने के लिए तैयार रहते थे। खालसा की नीति निर्धारित करने के लिए एक सभा रहती थी, जो 'गुरुमाता' कहलाती थी। अकालियो के आमन्त्रित करने पर अमृतसर मे प्रतिवर्ष दो बार इसकी बैठक होती थी। सर जान मालकम लिखता है कि इस अवसर पर सिख सरदारो को परस्पर के वैर को भूलकर एकता की शपथ लेनी पडती थी। वे किसी एक योग्य सरदार को अपना नेता मान लेते थे और उसी की अध्यक्षता मे बाहरी शक्ति का सामना करते थे। पर भय की आशंका दूर

हो जाने पर फिर सब मिसलें अलग अलग हो जाती थीं और आपस में ही लड़ने लगती थीं। सिख साम्राज्य स्थापित करने के लिए इन मिसलों का एक होना बड़ा आवश्यक था।

जाट और राजपूत—आगरा और जयपुर के मध्य का भाग जाटों के हाथ में था। सूरजमल इनका राजा था, जो भरतपुर में रहता था। पानीपत के युद्ध के अवसर पर पहले इसने मराठों का साथ दिया था, पर सदाशिवराव भाउ के उद्दण्ड व्यवहार से रुष्ट होकर यह वापस चला आया था। इतिहासकार गुलामहुसेन का कहना है कि शासन की योग्यता में इससे बढ़कर उस समय कोई दूसरा हिन्दू राजा न था।[1] इसके मरने पर मराठों ने जाटों को भी दबाना प्रारम्भ कर

सूरजमल

[1] सियर-उल्-मुताख़रीन, जि० ४, पृ० ७७।

रखा।[1] इस तरह मैसूर से निश्चिन्त होकर उसने सन् १७६३ में बेदनूर का किला जीत लिया। उन दिनों बेदनूर व्यापारिक दृष्टि से बड़ा प्रसिद्ध नगर था और आठ मील के घेरे में बसता था। इस अवसर पर बहुत सा धन हैदरअली के हाथ लगा। वास्तव में उसकी भावी प्रसिद्धि का प्रारम्भ यहीं से हुआ जैसा कि वह स्वयं कहा करता था। सन् १७६६ में हिन्दू राजा के मरने पर वह एक प्रकार से मैसूर का राजा ही बन गया। कालीकट पर आक्रमण करके उसने मलाबार पर भी अधिकार कर लिया। उसका राज्य मराठों और निजाम के राज्य से मिला हुआ था, इसलिए उन दोनों से उसका बराबर युद्ध हुआ करता था। मराठों ने कई बार उस पर आक्रमण किया, पर समय के अनुसार कभी वह उनसे लड़ता था और कभी उनको धन तथा भूमि देकर अपनी रक्षा करता था। इस तरह तीन चार बार मराठों ने उससे बहुत सा धन लिया। दूसरी ओर निज़ाम में कोई दम न था, इसलिए हैदर ने उसके कई एक जिलों को दबा लिया।

अँगरेज़ों के साथ युद्ध—हैदरअली की बढ़ती देखकर अँगरेज चिन्तित हो रहे थे और हैदरअली भी जानता था कि बिना अँगरेजों को नष्ट किये वह निश्चिन्तता से राज्य न कर सकेगा। इसलिए दोनों युद्ध का अवसर ढूँढ रहे थे। अँगरेजों से युद्ध करने के पहले हैदरअली के लिए यह आवश्यक था कि वह निजाम और मराठों को अपने पक्ष में मिला लेवे। इन्हीं दिनों मराठों ने निजाम और मैसूर पर आक्रमण किया। निजाम ने पूर्व समझौते के अनुसार अँगरेजों से सहायता माँगी। हैदरअली ने बहुत सा धन देकर मराठों को लौटा दिया और कर्नाटक का लालच देकर निजाम को फोड़ लिया। जब अँगरेजी सेना कर्नल स्मिथ की अध्यक्षता में मराठों के विरुद्ध निजाम की सहायता करने को पहुँची, तब उसको निजाम और हैदर की सेना से सामना करना पड़ा। सन् १७६७ में चगामा और त्रिनोमली

[1] कहा जाता है कि खाण्डेराव के कैद होने पर मैसूर की रानी ने उसकी प्राण-रक्षा की प्रार्थना की, उत्तर में हैदरअली ने कहा कि मैं उसको तोते की तरह पालूँगा। इसी लिए वह उसको दूध भात खिलाकर एक पिंजड़े में बन्द रखता था।

की लडाइयो मे हैदरअली की हार हुई। निज़ाम से उसको कोई सहायता न मिली, उसने अँगरेजो से फिर सन्धि कर ली, पर हैदरअली अकेले ही लडता रहा।

मद्रास की सन्धि—सन् १७६८ मे हैदरअली ने कप्तान निक्सन के दल को नष्ट कर डाला और अपने कई एक स्थान अँगरेजों से छीन लिये। वह बराबर अँगरेजो को दबाता हुआ मद्रास के निकट तक पहुँच गया। अँगरेजो ने सन्धि का प्रस्ताव किया, उत्तर मे हैदरअली ने दूत से कहला भेजा कि "मै मद्रास के द्वार पर आ रहा हूँ, वहाँ पहुँचकर गवर्नर और कौंसिल की शर्तों को सुनूँगा।" इस पर अँगरेज घबड़ा गये और सन् १७६९ में उन्हे मजबूर होकर सन्धि करनी पडी। इस सन्धि के अनुसार दोनो दलो ने जीते हुए देश लौटा दिये और अँगरेजो ने किसी के हमला करने पर हैदरअली की सहायता करने का वचन दिया। इसमे मद्रास के गवर्नर ने बडी भूल की। अब उसको समय पडने पर हैदरअली की सहायता करने के लिए वचनबद्ध हो जाना पडा। इस तरह हैदरअली की पूर्ण विजय हुई और मैसूर का पहला युद्ध समाप्त हुआ।[1]

मराठों की शक्ति—पानीपत के युद्ध मे मराठो की शक्ति नष्ट नहीं हुई, उत्तरी भारत मे उनकी तीव्र गति कुछ काल के लिए अवश्य रुक गई, परन्तु इस क्षति को दक्षिण मे पूरा करके वे शीघ्र ही दिल्ली फिर जा पहुँचे। युद्ध के बाद बालाजी के मरने पर उसका दूसरा लडका माधवराव बल्लाल पेशवा हुआ। योग्यता, साहस, वीरता और राजनीतिज्ञता मे वह पहले

[1] कहा जाता है कि इस अवसर पर हैदरअली ने मदरास के किले के फाटक पर एक व्यंगचित्र लटकवा दिया था, जिसमें कौंसिल के मेम्बर और गवर्नर हैदरअली के सामने घुटन टेके खड़े थे। हैदरअली गवर्नर की लम्बी नाक को, जो हाथी की सूँड की तरह थी, पकडे हुए था और उसमे मोहरें गिर रही थी। पासही कर्नल स्मिथ सन्धिपत्र को हाथ मे लिये हुए अपनी तलवार के दो टुकडे कर रहा था। एम० डी० एल० टी० हिस्ट्री ऑफ हैदरशाह, पृ० २४६।

तीन पेशवाओं से किसी प्रकार कम न था। गद्दी पर बैठने के समय उसकी अवस्था १६ वर्ष की थी। उसके चचा रघुनाथराव ने सोचा था कि पूना का शासन-भार उसी के हाथ में रहेगा। परन्तु माधवराव अपने चचा का खिलाना बनकर न रहना चाहता था, साल ही भर में सब राजकाज वह स्वयं करने लगा। उसने कई बार मसूर और निजाम पर आक्रमण किया और दोनों से बहुत सा धन तथा देश छीन लिया। सन १७६६ से उसने एक सेना उत्तरी भारत की ओर भेजी। इस सेना के साथ

माधवराव बल्लाल

माहादजी सिन्धिया और तुकोजी होलकर थे। इन दोनों ने पहले राजपूताना से दस लाख रुपया वसूल किया, फिर भरतपुर के निकट जाटों को हराकर और उनसे ६५ लाख रुपया लेकर वे दिल्ली जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर माहादजी ने शाहआलम को फिर से दिल्ली

भी माधवराव ने इनको सिर उठाने नहीं दिया, परन्तु अँगरेजों की शक्ति बढ़ जाने से मराठा-मंडल में भी एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई।

मराठा और अँगरेज़—अँगरेजों पर शिवाजी का कितना भारी दबदबा था, इसका उल्लेख ईस्ट इंडिया कम्पनी के इतिहास में जगह जगह पर मिलता है। बंगाल के अँगरेज व्यापारियों को तो शिवाजी अमर प्रतीत होते थे। उनकी मृत्यु का समाचार मिलने पर वे लिखते हैं कि "हम उसे तब मरा हुआ समझेंगे जब उसके समान साहस-पूर्ण काम करनेवाला मराठों में कोई न होगा और हमें मराठों के पंजे से छुटकारा मिलेगा"। शम्भाजी तथा राजाराम का अँगरेजों से अधिक सम्बन्ध नहीं रहा, परन्तु इतने ही में कान्होजी आंग्रे का प्रताप बहुत बढ़ गया और कोंकण प्रान्त के किनारे पर अँगरेजों से उसकी मुठभेड़ होने लगी। यह पहले शिवाजी की जहाजी सेना में खलासी का काम करता था। अपने पराक्रम के कारण राजाराम के समय में उसका मुख्य सेनापति हो गया था। शाहू महाराज ने कुलाबा, सुवर्णदुर्ग, विजयदुर्ग तथा अन्य कई किलों के साथ उसको 'सरखेल' की उपाधि प्रदान की थी। उसके पास दस बड़े जहाज थे, जिन पर १६ से ३० तक, और ५० छोटे छोटे जहाज़ थे, जिनपर ४ से १० तक तोपें चढ़ी रहती थीं। उसने कम्पनी के कई एक जहाजों को पकड़कर लूट लिया। बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी अँगरेज उसको दबा न सके।

पहले तो पुर्तगालियों को दबाने के लिए अँगरेज मराठों का साथ देते रहे, पर जब पुर्तगालियों की शक्ति नष्ट हो गई और बेसीन (बसई) के किले पर मराठों का अधिकार हो गया, तब अँगरेजों को बम्बई के लिए चिन्ता होने लगी और वे मराठों के साथ भी कूटनीति से काम लेने लगे। सन् १७३९ में कप्तान इंचबर्ड को भेजकर पेशवा के साथ एक व्यापारिक सन्धि की गई। दूसरी ओर सन् १७४०-४१ में कप्तान गार्डन शाहू महाराज के पास कुछ नजर लेकर भेजा गया। उससे कहा गया कि "शाहू राजा के दरबार में उसके मुख्य सलाहकार कौन हैं, उनके विचार कैसे हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार का है, इसका पता सूक्ष्म दृष्टि से लगाना। दरबार में

पेशवा माधवराव की मृत्यु—सन् १७७२ में २८ वर्ष की अवस्था में पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गई। उसने हैदरअली को नीचा दिखलाया था और शासन में बहुत से सुधार किये थे। मामलतदार तथा राज्य के अन्य अफसरों पर उसकी बड़ी कड़ी निगाह रहती थी। देश में धन की कमी न थी, इसलिए मालगुजारी वसूल करने में कठिनाई न होती थी। न्याय का बड़ा अच्छा प्रबन्ध था। प्रधान न्यायाधीश रामशास्त्री अपनी योग्यता और निष्पक्षता के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। इतिहासकार डफ की राय में माधवराव पेशवा की अकाल-मृत्यु मराठों के लिए पानीपत के युद्ध से कुछ कम घातक न थी। उसके मरने के बाद से ही जो आपस की फूट, राज्य की दुर्व्यवस्था और सैनिक प्रबन्ध में ढिलाई शुरू हुई, उसने साम्राज्य का अन्त ही कर दिया। उसका छोटा भाई नारायणराव गद्दी पर बैठा। उसमें न कोई योग्यता ही थी और न साहस, इसलिए रघुनाथराव को अपना प्रभुत्व जमाने का अवसर मिल गया। सन् १७७२ में रघुनाथराव और उसकी स्त्री आनन्दीबाई के षड्यन्त्र से नारायणराव मार डाला गया और रघुनाथराव स्वयं पेशवा बन बैठा। उसने निजाम को परास्त किया और उसके पैरों पड़ने पर दया करके सब धन लौटा दिया। परन्तु इस विजय से भतीजे के वध का कलंक वह अपने मत्थे से न मिटा सका। बहुत से राजकर्मचारी, जिनमें मुख्य नाना फड़नवीस था, उसके विरुद्ध हो गये। सन् १७७४ में इन 'बारह भाइयों' ने नारायणराव के पुत्र सवाई माधवराव को, जो अपने पिता की मृत्यु के बाद उत्पन्न हुआ था, पेशवा मान लिया। इस पर रघुनाथराव पूना से भागकर अँगरेजों की शरण में चला गया।

निज़ाम और कर्नाटक—वाण्डवाश के युद्ध में फ्रांसीसियों का पतन हो जाने पर हैदराबाद दरबार में भी अँगरेजों का प्रभुत्व जम गया। सन् १७६९ में क्लाइव ने बिना निजाम से पूछे बताये सम्राट् से लिखा-पढ़ी करके उत्तरी सरकार की सनद कम्पनी के नाम करा ली। इसको बड़ी मुश्किल से निजाम ने स्वीकार किया और दोनों में मित्रता की सन्धि हो गई। इसके बाद ही निजाम ने हैदर का साथ देना निश्चित किया, परन्तु उसकी हार

हो जाने पर सन् १७६८ में अगरेजों से फिर सन्धि कर ली। सन् १७७९ में हैदराबाद दरबार में अगरेज रेजीडेंट रख दिया गया। इसी समय मदरास सरकार ने निजाम के भाई बसालतजग से मिलकर गटूर पर अधिकार कर लिया। इससे निजाम बहुत चिढ गया।

युद्ध के पहले के कर्नाटक का वर्णन करते हुए स्क्रैफ्टन लिखता है कि राज्य की ओर से बडे बडे तालाब बनवा दिये गये थे, कर देने पर जिनसे सिंचाई के लिए पानी मिलता था। डाकुओं से देश ऐसा शून्य था कि वहाँ के लोगो की याद में भी कोई डकैती नहीं हुई थी। जवाहरात के व्यापारी, जो प्राय: इस देश में आने-जाते थे, अपनी रक्षा के लिए कोई हथियार तक नहीं रखते थे। यहा यह नियम था कि जिस जगह लूट होती थी, वहां के हाकिम को या तो लूट का माल ढूँढकर निकालना पडता था, या हरजाना देना पडता था। हर एक गांव या नगर के किनारे पर वृक्षों का बड़ा बगीचा होता था जहा जुलाहे काम करते थे। अच्छा शासन होने का इससे बढकर क्या प्रमाण हो सकता था कि देश से कितना अधिक कर वसूल होता था। कई एक प्रान्त यूरोप के सबसे धनी देशों के बराबर रुपया देते थे। वहा हमारे देश की सी खानें न थीं, वहां के लोग अपने हाथों के बल धन कमाते थे।[1]

परन्तु फ्रासीसी और अगरेजों के युद्ध से थोडे ही दिनो में कर्नाटक तबाह हो गया। सन् १७६७ की सन्धि में निजाम ने मुहम्मदअली को कर्नाटक का स्वतंत्र नवाब मान लिया। उसकी यह स्वतन्त्रता नाम मात्र की थी। कम्पनी की ओर से रुपये की माग बराबर बढती जाती थी, जिसे देने के लिए उसको अँगरेज महाजनो से कर्जा लेना पडता था। इन महाजनो के तग करने पर उसने मालगुजारी वसूल करने का अधिकार इनको दे दिया। ये लोग प्रजा पर तरह तरह के अत्याचार करने लगे। फुलर्टन लिखता है कि इनकी लूट से दरबार का खर्चा बढ गया।[2] जार्ज स्मिथ का कहना है कि

---

१ स्क्रैफ्टन, रिफ्लेक्शन्स, पृ० १३-१५।

२ फुलर्टन, ए व्यू आॅफ दि इगलिश इटरेस्ट इन इडिया, पृ० २७८।

चार ही पाँच वर्ष में खेती की बुरी दशा हो गई, आबादी घट गई और व्यापार चौपट हो गया।[1]

तंजोर के साथ अन्याय—तंजोर के राज्य को शिवाजी के भाई ने स्थापित किया था। मराठा राज-मंडल से अलग होने के कारण मराठों के लिए इसकी रक्षा करना बड़ा मुश्किल था। यहाँ की अतुल सम्पत्ति देखकर दक्षिण के सभी राज्यों की इस पर दृष्टि लगी रहती थी। सन् १७४९ से इसका सम्बन्ध अँगरेजों से हुआ। इस अवसर पर राजा शाहू और प्रतापसिंह में गद्दी के लिए झगड़ा चल रहा था। अँगरेजों ने शाहू का पक्ष लेकर उसकी सहायता के लिए एक सेना भेजी, पर अन्त में शाहू का पक्ष निर्बल देखकर प्रतापसिंह से समझौता कर लिया और देवीकोट पर अपना अधिकार जमा लिया। इस तरह सहायता का वचन देकर अन्त में शाहू को धोखा दिया गया। सन् १७६९ में हैदरअली के साथ जो सन्धि हुई उसमें तंजोर का राजा अँगरेजों का मित्र मान लिया गया। परन्तु सन् १७७१ में मुहम्मदअली के कहने पर तंजोर घेर लिया गया और ४ लाख पौंड दंड लिया गया। इतने ही से सन्तोष न हुआ, सन् १७७३ में फिर आक्रमण किया गया। राजा ने अँगरेजों को बहुत कुछ समझाया। उसका कहना था कि "मेरे ऊपर आक्रमण करने के पूर्व मेरा अपराध बतलाना चाहिए, इस राज्य के दान से लाखों मनुष्यों का पालन होता है, इसकी रक्षा करने से अँगरेजों की कीर्ति बढ़ेगी।"[2] परन्तु इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा, राजा को कैद करके तंजोर नवाब के राज्य में मिला लिया गया। इस घटना का समाचार इंग्लैंड पहुँचने पर मदरास के प्रेसीडेंट की बड़ी निन्दा की गई और उसकी जगह पर तंजोर वापस करने की आज्ञा देकर दूसरा प्रेसीडेंट भेजा गया।

पेरी का कहना है कि जब मैंने सन् १७६९ में तंजोर देखा था, तब इसकी बड़ी अच्छी दशा थी। खूब व्यापार होता था। बम्बई तथा सूरत से रुई

---

[1] [illegible] रिपोर्ट अपेंडिक्स, पृ० १२०, दत्त, पृ० १००।

[2] [illegible] ऑन परशियन करस्पांडेन्स, जि० [illegible], पृ० [illegible]।

बंगाल से रेशम, पीगू से सोना हाथी तथा घोड़े, और चीन से बहुत माल आता था। तजेब, छींट, रूमाल तथा छपे मोटे कपड़े अफ्रिका और दक्षिणी अमरीका तक जाते थे। सन् १७७१ तक इसकी अच्छी दशा थी। पर चार ही पांच वर्ष में जब यह नवाब के अधीन रहा, यहाँ की दशा बदल गई। कलाएँ नष्ट हो गईं, व्यापार मन्दा पड़ गया, खेती की अवनति हो गई और हजारों आदमी राज्य छोड़कर चले गये।[1] इस तरह यह 'दक्षिण का बाग़' थोड़े ही दिनों में वीरान हो गया।

जनता की स्थिति—इस समय भी जनता की ऐसी शोचनीय दशा न थी, जैसी कि प्रायः दिखलाई जाती है। मुगल साम्राज्य का पतन हो गया था, पर साथ ही साथ भिन्न भिन्न प्रान्तों में ऐसे शासक उत्पन्न हो गये थे, जो अपना पक्ष प्रबल बनाने के लिए बराबर लोकप्रिय बनने का प्रयत्न करते थे। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का सामाजिक संगठन ऐसा था कि जिसके कारण राजनैतिक विप्लवों का जनता पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। भारतवर्ष की अधिकांश जनता प्राचीन समय से गावों में रहती है। उन दिनों इनका संगठन ऐसा था कि जिससे वहाँ की सब आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। भारतीय शासक यथासम्भव इस संगठन में हस्तक्षेप न करते थे। सर चार्ल्स मेटकाफ़ की राय में राजनैतिक अशान्ति के समय में भी जनता की दशा अच्छी रहने का यह सबसे मुख्य कारण था। वह लिखता है कि राजवंश नष्ट हो गये, साम्राज्यों का पतन हो गया, पर इन गाँवों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।[2]

यह बात ठीक है कि कभी कभी निष्ठुर स्वार्थी शासक की क्रूरता का जनता शिकार अवश्य बनती थी, पर साधारणतः इस समय के शासकों को भी इसका ध्यान रहता था। इन दिनों की अराजकता का जो मर्मस्पर्शी चित्र प्रायः खींचा जाता है, उसकी सूचना में तत्कालीन अँगरेजों के ही दिये

---

१ फोर्थ रिपोर्ट, सन् १७८२, अपेंडिक्स नं० ११, दत्त, पृ० १०५—१०६।

२ के, लाइफ़ ऑफ़ सर चार्ल्स मेटकाफ़, जि० २, पृ० १९१—९२।

हुए विवरण से सन्देह होने लगता है। अगरेजो के हस्तक्षेप के पहले कर्नाटक तथा बगाल की जो दशा थी, दिखलाई जा चुकी है। महाराष्ट्र देश का वर्णन करते हुए, सन् १७६२ मे, पेरन लिखता है कि यहा स्वर्णयुग की सादगी और सुख का अनुभव होता है। युद्ध के कष्ट दिखलाई नहीं देते । सब लोग प्रसन्न, फुर्तीले और खूब तन्दुरुस्त है।[1] मैसूर के सम्बन्ध मे फुलर्टन लिखता है कि हैदरअली के शासनकाल मे प्रजा की जैसी कुछ उन्नति हुई वैसी किसी हिन्दुस्तानी शासक के समय मे नही हुई। उसके राज्य के सभी भागो मे किसान, कारीगर तथा व्यापारी धनी बन गये। खेती बढ गई, बहुत सी नई चीजे बनने लगीं और राज्य मे धन भर गया।[2] परन्तु जहा जहा अंगरेजो का हस्तक्षेप होने लगा वहीं कलाएँ नष्ट होने लगीं, लगान कडाई से लिया जाने लगा, गाँवो का सगठन छिन्न भिन्न होने लगा और धन बाहर जाने लगा।

सामाजिक जीवन—शताब्दियों से साथ रहने, कबीर तथा नानक के उपदेश और अकबर की उदार नीति के कारण हिन्दू और मुसलमानो के परस्पर सम्बन्ध में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। औरगजेब की उलटी नीति होने पर भी एकता के भाव सर्वथा नष्ट न हो गये थे। कट्टर हिन्दू तथा मुसलमान शासक कभी कभी अपनी हार्दिक संकीर्णता का परिचय अवश्य देते थे, पर इसका प्रभाव गावो मे बहुत कम दिखलाई देता था। वहाँ दोनो का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन बहुत कुछ एक था। हिन्दू घरानो से सूत कतकर मुसलमान जुलाहो के पास जाता था, खेती-बारी का काम साथ साथ होता था। मुसलमान गाँव की बिरादरी मे शामिल थे। दोनो जातिया एक दूसरे के रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा त्योहारो मे भाग लेती थी। इस समय भी मुसलमान राज्यो मे बडे बडे पदो पर हिन्दू और हिन्दू राज्यो मे मुसलमान काम करते थे। परन्तु इस परस्पर के सम्बन्ध मे भी राजनैतिक क्षेत्र मे एक नई

शक्ति के आ जाने से बाधा पड़ने लगी। हिल लिखता है कि इस समय बंगाल में हिन्दू भावों की फिर से जागृति हो रही थी और हिन्दू, यूरोपियन लोगों की सहायता से, मुसलमानों की शक्ति को नष्ट करना चाहते थे।[१] परन्तु अली-वर्दीखाँ के समय तक बंगाल में इसका पता नहीं लगता। उसके शासन का काम जगतसेठ के धन से चलता था। सिराजुद्दौला के समय से अमीर-चन्द ऐसे लोग धन का लालच देकर अवश्य फोड़े जाने लगे। तब तक यूरो-पियन लोग भी भारतवासियों से बिलकुल अलग न रहते थे। राजकीय भाषा फारसी थी। अँगरेजों को राजदरबारों के साथ इसी भाषा में पत्रव्यवहार करना पड़ता था, पर प्रान्तों में धीरे धीरे प्रान्तीय भाषाओं का प्रचार बढ़ रहा था।

उस समय बालविवाह, पर्दा तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों के साथ साथ हिन्दू समाज में सती-प्रथा भी जारी थी। पर सती न होने के लिए घरवाले स्त्रियों को बहुत समझाते थे और ब्राह्मण भी इस पर अधिक जोर न देते थे।[२] ऊर्म, हालवेल, हाजेज तथा अन्य तत्कालीन लेखकों ने अपनी आँखों देखे हुए दाह का वर्णन करते हुए स्त्रियों के साहस पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया है। उस समय मध्य श्रेणी के लोगों को भी पढ़ाने-लिखाने का प्रबन्ध था। बालकों की शिक्षा कमरों में नहीं बल्कि खुली जगहों में होती थी। उसी समय के एक इतिहासकार का लिखना है कि "इन पाठशालाओं में, जहाँ विशाल भवनों के अभाव की पूर्ति स्वच्छ आकाश के चँदोवा से होती है, केवल कारबार की ही शिक्षा नहीं दी जाती है, बल्कि जीवन के कर्तव्य . माता-पिता के लिए आदर, ज्येष्ठों के लिए सम्मान, मनुष्यमात्र के लिए न्याय तथा दया और सजातियों के लिए स्नेह के भाव सिखलाये जाते हैं।"[३]

उसी का कहना है कि हिन्दू, मुसलमान तथा भारतवर्ष में बसनेवाले अन्य लोगों में जाति, धर्म, नियम और रीति-रिवाजों की भिन्नता होते हुए भी,

---

[१] हिल, बंगाल इन १७५६–५७, जि० १, भूमिका।

[२] मेम्वायर्स ऑफ दि लेट वार इन एशिया, सन् १७८८, जि० २, पृ० २३४।

[३] वही, पृ० २२८।

आतिथ्य-सत्कार सब में पाया जाता है। शिष्टाचार, रहन-सहन की सुन्दरता और बातचीत में हिन्दू किसी सुशिक्षित फ्रांसीसी से कम नहीं है। "फ्रांसीसी

दीपक-प्रवाह

अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल करके शायस्तगी का व्यवहार करते हैं, हिन्दुस्तानी इसको अपना कर्तव्य समझते हैं। यदि फ्रांसीसी अपना ध्यान रखकर, तो हिन्दुस्तानी दूसरे का ख्याल करके शिष्टता दिखलाते हैं।"[१] भारतवर्ष में खान-पहनने का खर्च बहुत कम होता है। यहाँ रुपया उड़ानेवाले व्यसन अधिक नहीं पाये जाते हैं। हिन्दुस्तानी मितव्ययी और परिश्रमी होते हैं।[२] हेस्टिंग्ज का भी कहना है कि ये गुण सभी में पाये जाते हैं, इनका खाना बहुत सादा होता है और वे शराब तथा अन्य मादक वस्तुओं से पूरा परहेज करते हैं।[३]

बड़े घरानों में शराब का व्यसन अवश्य फैल रहा था, पर साधारण जनता उससे मुक्त थी।

हाजेज लिखता है कि गांवों में सब आबादी है, पर तब भी बड़ी सफाई रहती है। हिन्दुओं में सफाई का भाव देखकर आश्चर्य होता है। गांवों की गलियां बराबर बटोरी और छिड़की जाती हैं।[1] फुलर्टन का कहना है कि हिन्दुस्तानी सभ्य, चतुर तथा शिष्ट होते हैं। युद्ध का भी उन्हें अभ्यास है, साथ ही साथ कला, विज्ञान तथा शान्ति के समय के अन्य गुणों में भी वे प्रवीण हैं।[2]

---

१ हाजेज, ट्रैवल्स इन इण्डिया, सन १७८०–८३, पृ० ३७, ३८।

२ फुलर्टन, सन १७८७, पृ० २०।

परिच्छेद ५

नींव की दृढ़ता

बंगाल का शासन—क्लाइव के जाने के पश्चात् वेरेल्स्ट और कार्टियर ने कुछ काल तक गवर्नर के पद पर काम किया। इन दोनों के समय में कोई विशेष राजनैतिक घटना नहीं हुई, परन्तु क्लाइव के चलाये हुए शासन के दोष प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगे। मुगल शासन के दो मुख्य भाग थे, एक दीवानी और दूसरा निजामत। दीवानी विभाग कर वसूल करता था, और न्याय तथा शासन निज़ामत विभाग के हाथ में रहता था। सन् १७६५ में दीवानी अँगरेजों को मिल गई थी, पर अँगरेजों ने कर वसूल करने का काम नवाब के कर्मचारियों के हाथ में ही छोड़ रक्खा था, वे केवल इसका निरीक्षण करते थे। सन् १७६९ में हिन्दुस्तानी आमिलों को हटाकर अँगरेज 'धर्मीन' रख दिये गये थे और इनका काम देखने के लिए सन् १७७० में पटना और मुर्शिदाबाद में दो बोर्ड बना दिये गये थे। इस तरह जो कुछ आमदनी होती थी उसमें से सम्राट् और नवाब को देकर जो रुपया बच रहता था उससे कम्पनी का खर्च चलता था। कर वसूल करनेवाले गुमाश्ते और ठेकेदार होने से जो बहुत सा रुपया खा जाते थे। इसलिए कम्पनी की आमदनी दिन प्रतिदिन घटती जाती थी। नवाब केवल नाम के लिए नाजिम था। सेना अँगरेजों के हाथ में थी। बिना सेना की सहायता के शासन और न्याय करना असम्भव था। न्यायालय के निर्णयों की किसी को भी परवाह न थी। अँगरेज

गुमाश्ता जानते थे कि उनको दण्ड देने में नवाब असमर्थ हैं, इसी लिए वे मनमाना अत्याचार करते थे।

इस प्रथा में जिसके हाथ में शक्ति थी, उसकी कोई जिम्मेदारी न थी, और जिसकी जिम्मेदारी थी, उसके हाथ में कोई शक्ति न थी। इसका फल यह होता था कि दोनों के बीच बेचारी प्रजा पिसती थी। उसकी कहीं भी सुनवाई न थी। गुमाश्तों की शिकायत करने पर अँगरेज कहते थे कि न्याय नवाब के हाथ में है, और दूसरी ओर नवाब कहता था कि वह दण्ड देने में असमर्थ है। इस तरह इन दिनों प्रजा एक प्रकार से अनाथ थी।

भीषण दुर्भिक्ष—सन् १७७० में बंगाल में एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। कहा जाता है कि इससे वहाँ की तिहाई आबादी नष्ट हो गई। मनुष्य मनुष्य को खाने लगे और सड़कों पर लाशों के ढेर लग गये। कई साल तक इस दुर्भिक्ष के कारण बंगाल की दशा न सुधर सकी। प्रजा के कष्ट-निवारण के लिए कोई विशेष उपाय नहीं किया गया। इन दिनों सर्वत्र अन्न पहुँचाने के लिए आजकल की तरह रेलें न थीं। राज्य की ओर से किसी प्रकार का प्रबन्ध न था। व्यक्तिगत दान और उदारता से, जिसकी उन दिनों कोई कमी न थी, इतनी बड़ी आपत्ति का सामना करना सम्भव नहीं था। राजकर्मचारियों की निष्ठुरता का इसी से पता चलता है कि उस दुर्भिक्ष के समय में उन्होंने सरकारी आमदनी में कोई कमी नहीं आने दी। कम्पनी के गुमाश्तों ने चावल खरीद लिया और उसे मनमाने दाम पर बेचा, जिसका फल यह हुआ कि वे मालामाल हो गये।

हेस्टिंग्ज़ की नियुक्ति—बंगाल की शोचनीय दशा देखकर सन् १७७२ में कम्पनी के संचालकों ने वारेन हेस्टिंग्ज को वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया। सन् १७५० में वह लेखक होकर भारतवर्ष आया था। सिराजुद्दौला ने जब कासिमबाजार की कोठी को छीन लिया था, तब वह कैद कर लिया गया था, परन्तु पीछे से भाग निकला था। बजबज के युद्ध में वह नवाब के विरुद्ध लड़ा था। उसकी योग्यता देखकर क्लाइव ने उसको मीरजाफ़र के दरबार में रेसीडेंट बना दिया था। उसी के परामर्श से बाद को मीरकासिम

बनाया गया था। क्लाइव के लौटने पर सन् १७६१ में वह, २९ वर्ष की अवस्था में, कलकत्ता की कौंसिल का मेम्बर हो गया। सन् १७६४ में वह विलायत वापस चला गया। उसकी योग्यता और भारतवर्ष-सम्बन्धी ज्ञान का परिचय मिलने पर सन् १७६९ में कम्पनी के संचालकों ने इसको मदरास कौंसिल का मेम्बर बनाकर फिर से भेजा। सन् १७७२ में बंगाल की दशा सुधारने के लिए उन्होंने इसे फोर्ट विलियम की कौंसिल का सभापति और बंगाल का गवर्नर बना दिया। इस समय इसकी अवस्था ४० वर्ष की थी और कम्पनी के संचालकों को उस पर पूरा भरोसा था।

वारेन हेस्टिंग्ज

नया प्रबन्ध—हेस्टिंग्ज जब कलकत्ता पहुँचा तब वहाँ की दशा देखकर हैरान हो गया। सब विभागों में पिछला काम पटा हुआ था। किस विभाग का क्या काम है और उसकी क्या जिम्मेदारी है, इसकी कोई व्यवस्था न थी। बड़े बड़े कर्मचारी अपनी मनमानी करते थे और कोई भी किसी की न सुनता था। हेस्टिंग्ज़ दोहरे शासन के दोषों को अच्छी तरह

के साथ पहले से कोई सम्बन्ध न था। किसानों को नया पट्टा लिखवा दिया गया और कई एक अनुचित कर हटा दिये गये। परन्तु इन सुधारों से किसानों की दशा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। नीलाम में बहुत से नये तथा पुराने जमीन्दारों ने बड़ी बड़ी बोलियाँ बोलकर ठेके ले लिये। मालगुजारी के लिए रुपया वसूल करने में वे रैयत पर तरह तरह के अत्याचार करने लगे। माल-विभाग का मुख्य दफ्तर मुर्शिदाबाद और पटना से हटाकर कलकत्ते में खोला गया और उसका निरीक्षण एक बोर्ड को सौंप दिया गया।

न्याय-विभाग की दशा सुधारने के लिए हर एक जिले में दीवानी और फौजदारी अदालतें खोली गईं। ये दोनों अदालतें कलेक्टर के अधीन थीं। दीवानी में वह प्रान्तीय दीवान की सहायता से फैसला करता था और फौज-दारी में उसके साथ जिले के काजी तथा मुफ्ती भी बैठते थे। इस तरह कले-क्टर को दीवानी और फौजदारी दोनों अधिकार दिये गये। दीवानी अदालत में मुसलमानों का न्याय 'हदीस' के अनुसार होता था। औरंगजेब के समय में उनके सब नियमों का एक संग्रह बन गया था, परन्तु हिन्दू नियमों का कोई ऐसा संग्रह न था। हेस्टिंग्ज ने दस पंडितों की सहायता से हिन्दू नियमों का एक संग्रह तैयार करवाया। फौजदारी अदालत के फैसले प्रायः मुसलमानी कानून के अनुसार होते थे। अँगरेज कलेक्टरों को इसका ज्ञान न था, इस-लिए हर एक फौजदारी अदालत में दो मौलवी रख दिये गये थे।

इन जिला अदालतों की अपील के लिए कलकत्ता में दो बड़ी अदालतें खोली गईं, जो 'सदर दीवानी अदालत' और 'सदर निजामत अदालत' के नाम से प्रसिद्ध हुईं। 'सदर दीवानी अदालत' में खालसा के दीवान, कौन्सिल के दो मेम्बर और कुछ हिन्दुस्तानी जजों की सहायता से गवर्नर फैसला करता था। 'सदर निजामत अदालत' का अध्यक्ष 'दारोगा अदालत' कहलाता था और उसकी सहायता के लिए प्रधान काजी, प्रधान मुफ्ती और दो मौलवी रहते थे।

सन्यासियों का दमन—इस तरह न्याय की व्यवस्था करके उसने देश में शान्ति स्थापित करने की ओर ध्यान दिया। इन दिनों कुछ लोगों का,

हेलों के विरुद्ध नवाब वजीर की सहायता करने का भी वचन दे दिया और नवाब ने सेना का खर्चा भी देना स्वीकार कर लिया। सन् १७७३ में मराठों ने रुहेलों पर आक्रमण किया, परन्तु पूना में गड़बड़ होने के कारण और नवाब वजीर तथा अंगरेजों को रुहेलों की सहायता के लिए तुले देखकर वे बिना लड़े ही वापस चले गये। इस पर नवाब वजीर ने रुहेलों से ४० लाख रुपया मांगा। जब उन्होंने देने में हीला-हवाला किया, तब उसने रुहेलखण्ड पर आक्रमण कर दिया और बनारस के सम-झौते के अनुसार अंगरेजों से सहायता मांगी। कर्नल चैम्पियन की अध्यक्षता में एक अंगरेजी सेना भेजी गई। अप्रैल सन् १७७४ में मीरनपुर कटरा में रुहेलों के साथ घोर युद्ध हुआ, जिसमें रुहेला सरदार हाफिज रहमतखां मारा गया और नवाब वजीर की विजय हुई। रुहेले बड़ी वीरता के साथ लड़े, इसका वर्णन करते हुए स्वयं चैम्पियन लिखता है कि रुहेलों को युद्ध-विद्या का अच्छा

रुहेला सिपाही

ज्ञान था और जिस साहस के साथ वे लड़े उसका वर्णन करना असम्भव है।[1] नवाब वजीर के सैनिकों ने रुहेलों को खूब लूटा। लूट में भाग लेने से गोरे सिपाहियों को मनाही थी, इसलिए वे बड़े असन्तुष्ट थे। परन्तु नवाब वजीर ने ६ महीने में ७ लाख रुपया देने का वादा करके उनको सन्तु किया। कहा जाता है कि सेना के अत्याचार से लगभग २० हजा

[1] कलेंडर आफ परशियन करस्पांडेंस, जि० ४, भूमिका, पृ० १३।

रुहेलो को अपना देश छोड़कर भागना पडा। इन अत्याचारों का वर्णन बहुत बढा-चढ़ाकर किया गया है और नवाब वजीर को न रोकने के लिए अँगरेजों को भी दोष दिया गया है। कुछ दिन बाद नवाब वजीर और रुहेलों में सन्धि हो गई, जिसके अनुसार रुहेला सरदार फैजुल्लाखाँ को रामपुर का इलाका दे दिया गया, जो अब भी मौजूद है और बाकी रुहेलखड अवध मे मिला लिया गया।

इस युद्ध के सम्बन्ध मे हेस्टिंग्ज की नीति की बड़ी तीव्र आलोचना की गई है। कहा जाता है कि बनारस के समझौते की सब बातों को हेस्टिंग्ज ने कौंसिल को नहीं बतलाया था।[1] कम्पनी के संचालकों की आज्ञा थी कि आत्मरक्षा के अतिरिक्त और किसी प्रकार के युद्ध मे भाग न लिया जाय। हेस्टिंग्ज़ ने इस आज्ञा के विरुद्ध रुहेलो के साथ युद्ध किया। अँगरेजों से रुहेलो की कोई शत्रुता न थी। झगड़ा नवाब वजीर और रुहेलो के बीच था। उसमें हेस्टिंग्ज का पडना बेजा था। रुहेलो के साथ जो अत्याचार हुए उनके रोकने का कोई प्रयत्न हेस्टिंग्ज ने नहीं किया।

इन आक्षेपों के उत्तर मे हेस्टिंग्ज़ का कहना है कि उसने बनारस के समझौते का सब हाल कौंसिल के मेम्बरों को जबानी बतला दिया था। इन दिनों उत्तरी भारत में मराठों का जोर बढ रहा था। उनके साथ रुहेलो का सम्बन्ध सन्देहजनक था। वे नवाब वज़ीर के विरुद्ध उनकी सहायता करते थे और नवाब वजीर को धोखा देते थे। यदि रुहेलो के साथ मराठे अवध पर धावा करते तो वे बंगाल की सीमा तक पहुँच जाते। इसलिए उनको रोकने की दृष्टि से रुहेलो के विरुद्ध नवाब वजीर की सहायता करना आवश्यक था। रुहेलखड के अवध मे मिल जाने से नवाब वजीर के राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा गगा और पहाडों के कारण दृढ़ हो गई। इसमे उसने सचालकों की आज्ञा का वास्तव मे उल्लंघन नहीं किया। इसके अतिरिक्त इन

दिनों कम्पनी को रुपये की बड़ी आवश्यकता थी। इस युद्ध में उसके लिए ४० लाख रुपये का ठिकाना हो गया और सेना के खर्चे का कुछ भार नवाब वजीर के मत्थे चला गया।

हेस्टिंग्ज की नीति का यह समर्थन ठीक नहीं जँचता। नवाब वजीर की निर्बलता को वह अच्छी तरह जानता था। बिना अँगरेजों की सहायता के उसको अपनी रक्षा करना कठिन हो रहा था। अवध और मराठों के बीच रुहेलों का राज्य एक प्रकार की आड था। उसके नष्ट हो जाने से अब नवाब वजीर को मराठों का सामना करना पडा, जिसके लिए वह सर्वथा अयोग्य था। इसका परिणाम यह हुआ कि नवाब वजीर अगरेजों के और भी अधीन हो गया। इस युद्ध में हस्टिंग्ज का मुख्य उद्देश्य आर्थिक लाभ था, इसी लिए वह नवाब को बढ़ावा दे रहा था, इसको उसने स्वयं माना है। परन्तु जब उसका यह उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि नवाब वजीर उतनी बड़ी रक़म को न दे सका, तब वह कहने लगा कि उसका मुख्य उद्देश्य अवध की पश्चिमोत्तर सीमा को दृढ करके बगाल की मराठों से रक्षा करना था। ऐसी दशा में यह कहना पडता है कि अगरेजों का इस युद्ध में पड़ना न्याय-संगत नहीं था। रुहेलखण्ड की प्रजा का भी इससे कोई लाभ नहीं हुआ। रहमत खां के उदार शासन के स्थान पर, जिसमें प्रजा सन्तुष्ट थी, नवाब वजीर का शासन हो गया, जिसमें प्रजा पर अधिक अत्याचार ही हुआ।

इंग्लैंड-सरकार का हस्तक्षेप—बगाल में कम्पनी का प्रभाव देखकर इंग्लैंड-सरकार को चिन्ता हो रही थी। कम्पनी के कर्मचारी माला माल होकर अपने देश को लौटते थे और वड़ा नवाबों की तरह रहते थे। इस धन में इँग्लेंड-सरकार ने भी अपना हिस्सा लगाना चाहा और सन् १७६७ म दो साल तक ४ लाख पौंड सालाना देने के लिए कम्पनी को मजबूर किया। बगाल की अतुल सम्पत्ति देखकर कम्पनी को भी खूब धन मिलने की आशा हो रही थी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। पिछले दुर्भिक्ष स प्रान्त की आर्थिक दशा बिगड गई, निजी व्यापार के कारण बहुत सा धन उसके कर्मचारियों की जेब में चला गया। व्यापार मन्दा पड़ गया और बराबर

लड़ाई रहने के कारण सेना का खर्चा बेहद बढ़ गया। क्लाइव और हेस्टिंग्ज़ के बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी उसकी आर्थिक दशा न सुधर सकी और सन् १७७२ में एक बड़ी रकम कर्ज लेने के लिए उसको इँग्लेंड-सरकार से प्रार्थना करनी पड़ी। कम्पनी के मामलों में हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर सरकार के हाथ में आया और उसने पूरी जाँच करने के लिए दो कमेटियाँ नियुक्त कीं। इन कमेटियों की रिपोर्ट मिलने पर पार्लामेंट ने सन् १७७३ में दो क़ानून पास किये। पहले क़ानून के अनुसार यह निश्चित हुआ कि कम्पनी अपना छमाही हिसाब इँग्लेंड-सरकार को दिखलाया करे और दूसरे कानून से भारतीय शासन-व्यवस्था में बहुत कुछ हेर-फेर किया गया। यह दूसरा कानून 'रेग्यूलेटिंग ऐक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट—इस नई शासन-व्यवस्था के अनुसार बंगाल का गवर्नर, 'गवर्नर-जनरल' बनाया गया और चार मेम्बरों की उसकी एक कौंसिल बनाई गई। गवर्नर-जनरल कौंसिल का सभापति रखा गया और उसको उस हैसियत से एक वोट अधिक देने का अधिकार दिया गया। गवर्नर-जनरल इस कौंसिल के सर्वथा अधीन बना दिया गया और उसे इसके विरुद्ध कोई काम करने की अनुमति नहीं दी गई। गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल की अवधि ५ साल की रखी गई और इनकी पहली नियुक्ति का अधिकार इँग्लेंड-सरकार को दिया गया। बाद को भी बिना सरकार की अनुमति के कम्पनी के संचालकों को इन पदाधिकारियों के नियुक्त करने का अधिकार न रखा गया।

बंगाल के गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल को बम्बई तथा मदरास प्रान्तों के निरीक्षण का भी भार दिया गया। इन प्रान्तों के गवर्नरों से युद्ध तथा सन्धि के अधिकार ले लिये गये और अपने अपने प्रान्तों का कुल हाल गवर्नर-जनरल को लिखने और बराबर उसकी सलाह से काम करने के लिए उन्हें आज्ञा दी गई। कलकत्ते में 'सुप्रीम कोर्ट' नाम की एक बड़ी सरकारी अदालत भी खोली गई। इसमें प्रधान न्यायाधीश को मिलाकर चार जज रखे गये। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में बसनेवाली ब्रिटिश प्रजा तथा कम्पनी के कर्मचारियों के न्याय का अधिकार इन अदालतों को दिया गया।

का विरोध करता था। उसका साथ क्लेवरिंग और मानसन भी देते थे। इस तरह कौन्सिल में फ्रांसिस के दल की अधिकता थी और हेस्टिंग्ज को, नये कानून के अनुसार, उसकी बात माननी पड़ती थी। इन नये मेम्बरों को भारतवर्ष की परिस्थिति का पूरा ज्ञान न था, इसलिए वे प्राय हेस्टिंग्ज की नीति का, बिना अच्छी तरह समझे हुए, विरोध करने लगते थे। उन्होंने हेस्टिंग्ज के नियुक्त किये हुए कई अफसरों को निकाल दिया और उसकी बहुत सी कार्रवाइयों को उलट दिया। यह झगड़ा दो साल तक बराबर चलता रहा। सन् १७७६ में मानसन के मरने पर फ्रांसिस के दल की अधिकता नष्ट हो गई और हेस्टिंग्ज को कुछ शान्ति मिली। फ्रांसिस और हेस्टिंग्ज की शत्रुता इतनी बढ़ गई कि सन् १७८० में

फिलिप फ्रांसिस

दोनों में एक द्वन्द्व युद्ध हुआ, जिसमें फ्रांसिस घायल होकर इँग्लेंड वापस चला गया। तब से हेस्टिंग्ज को निर्विघ्न काम करने का अवसर मिला।

नन्दकुमार को फाँसी—अपना काम निकालने के लिए, सचाई की [illegible] से, पहले हेस्टिंग्ज ने ही नन्दकुमार को बढ़ावा दिया था, पर मतलब सिद्ध हो जाने के बाद से वह उसका विरोधी हो गया था। कौंसिल

मे हेस्टिंग्ज के विरोधी दल को प्रबल देखकर नन्दकुमार ने भी बदला लेना निश्चित किया। कौन्सिल से उसने हेस्टिंग्ज की कई एक शिकायतें कीं। इन शिकायतो में मुख्य बात यह थी कि हेस्टिंग्ज़ ने मुन्नी बेगम से साढे तीन लाख रुपया घूस मे लिया है, और १४ लाख रुपया मुहम्मद रिज़ाखाँ तथा शिताब राय से लेकर उनको अदालत मे छुड़वा दिया है। इन अपराधो को सिद्ध करने के लिए कौंसिल की एक बैठक में नन्दकुमार बुलाया गया। हेस्टिंग्ज गवर्नर-जनरल और कौन्सिल का सभापति था। वह इस अपमान को न सह सका और बारवेल के साथ कौन्सिल से उठकर चला गया। बाकी मेम्बरो ने नन्दकुमार की सब बातें सुनकर हेस्टिंग्ज को दोषी ठहराया और सब कागजात कम्पनी के वकील को देकर हेस्टिंग्ज से कुल रुपया वापस लेने की आज्ञा दे दी। हेस्टिंग्ज ने डेढ़ लाख रुपया मुन्नी बेगम से लिया था, यह बात ठीक है। इसको उसके समर्थक सर जेम्स स्टिफ़न ने भी उचित नहीं माना है।[1] इस तरह नन्दकुमार की शिकायतें निराधार न थीं। इधर हेस्टिंग्ज और बारवेल ने सुप्रीम कोर्ट में नन्दकुमार तथा उसके कुछ साथियो पर, दोनो के विरुद्ध, षड्यन्त्र रचने का अभियोग चलाया। सुप्रीम कोर्ट ने केवल नन्दकुमार को बारवेल के विरुद्ध दोषी ठहराया। इसी अवसर पर मोहन-प्रसाद नाम के एक व्यक्ति ने नन्दकुमार पर जालसाजी का मुकदमा चलाया। कहा जाता है कि किसी दीवानी के मामले मे नन्दकुमार ने एक जाली दस्तावेज बनाई थी। अदालत की सहायता के लिए १२ अँगरेजो की जुरी बनाई गई, जो एक सप्ताह तक मुकदमे को सुनती रही। अन्त मे अदालत ने नन्द कुमार को दोषी पाया और उन दिनो के कानून के अनुसार उसको फांसी देने की आज्ञा दी। नन्दकुमार बडे धैर्य्य और साहस के साथ फांसी पर चढा।[2]

---

१ जेम्स स्टिफ़न, दि स्टोरी आफ़ नन्दकुमार, जि० १, पृ० ७२। हेस्टिंग्ज का कहना है कि यह रकम भत्ते की थी, जो मुर्शिदाबाद जाने पर गवर्नरों को नवाब के खजाने से मिला करता था और हिसाब में दर्ज रहता थी।

२ कौंसिल के नाम अपने अन्तिम पत्र में नन्दकुमार का कहना था कि मै अब मरने

कहा जाता है कि इस मामले में नन्दकुमार के साथ न्याय नहीं किया गया। सुप्रीम कोर्ट को यह मुकदमा सुनने का अधिकार ही न था। जाल-साजी का मामला बदला लेने के लिए हेस्टिंग्ज ने चलवाया और अँगरेजी अदालत ने निष्पक्ष भाव से निर्णय नहीं किया। प्रधान जज इम्पी हेस्टिंग्ज का सहपाठी था, उसने हेस्टिंग्ज का पक्षपात किया। इस तरह "न्याय के नाम में नन्दकुमार की हत्या की गई"। कौंसिल में हेस्टिंग्ज के विरुद्ध शिकायत करने के बाद ही, यह पुराना गड़ा हुआ मुकदमा खोदकर निकाला गया था, इससे हेस्टिंग्ज पर सन्देह अवश्य होता है। पर हेस्टिंग्ज शपथ लेकर अपने को इस मामले में निर्दोष बतलाता है। इसको छेड़ने में देरी होने का कारण यह बतलाया जाता है कि जालसाजी का पूरा सबूत तब तक न मिल सका था। अदालत की निष्पक्षता का प्रश्न बड़ा जटिल है। मुकदमा सुनने में जज स्वयं ही गवाहों से जिरह करने लगते थे। अदालत में सब अँगरेज थे, नन्दकुमार अँगरेजों का घोर शत्रु था, बंगाल के नवाबों को उनके पंजे से मुक्त करने का वह बराबर प्रयत्न करता था। इसी दोष से पीछे अँगरेजों ने उसको हटाकर मुहम्मद रिजाखाँ को नायब बनवाया था। गवर्नर-जनरल पर भी उसने घूस खाने के अपराध लगाने की धृष्टता की थी। उन दिनों की राजनैतिक परिस्थिति में ऐसे भयानक मनुष्य के साथ शुद्ध न्याय कहाँ तक किया जा सकता था, यह कहना बड़ा कठिन है। इस पर भी यदि अदालत की निष्पक्षता स्वीकार कर ली जाय तब भी यह कहना पड़ेगा कि नन्दकुमार को जो दंड दिया गया वह सर्वथा अनुचित था। यह दंड इंग्लैंड के कानून के अनुसार दिया गया था। अपराध सिद्ध हो जाने पर यह दंड देने के लिए अदालत मजबूर थी, यह बात ठीक है। परन्तु यह जानते हुए कि भारतवर्ष में ऐसा निष्ठुर दंडविधान नहीं है, उसको कम से

[illegible] हूँ। इस लोक के लिए मैं परलोक को न बिगाड़ूँगा। [illegible] कि जालसाजी के मामले में मैं निर्दोष हूँ। केवल बदला लेने के लिए यह मुकदमा [illegible] पर चलाया गया है। फारेस्ट, सेलेक्शन्स, जि० [illegible], पृ० [illegible]

कम इतना कर्तव्य अवश्य था कि वह नन्दकुमार पर दया दिखलाने की सिफारिश करती।

कौंसिल और कोर्ट—रेग्यूलेटिंग ऐक्ट में कौंसिल और कोर्ट के अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या न की गई थी, इसका फल यह हुआ कि दोनों में झगडा होने लगा। कोर्ट के हस्तक्षेप से शासन में बडी बाधाएँ पडने लगीं। इसके जज अपने को इँग्लेंड-सरकार के अधीन समझते थे और कौंसिल की कुछ भी पर्वाह न करते थे। पटना के एक मुसलमान जमीन्दार के मरने पर उसकी सम्पत्ति के विषय में उसकी विधवा स्त्री और भतीजे में झगडा हुआ। कोर्ट ने यह कहकर कि जमीन्दार कम्पनी के नौकर हैं, इसलिए उनके सम्बन्ध के मामले उसके अधीन हैं, प्रान्तीय कौंसिल के निर्णय को रद्द कर दिया। एक दूसरे मामले में और भी तमाशा हुआ। कोसीजुरा के जमीन्दार के विरुद्ध किसी ने दावा किया। सम्मन देने में जमीन्दार के साथ बड़ी जबरदस्ती की गई। इस पर हेस्टिंग्ज की कौंसिल ने कोर्ट के जमादार और सिपाहियों के गिरफ्तार करने की आज्ञा दे दी। स्टिफ़न लिखता है कि कौंसिल का यह कार्य्य सर्वथा अनुचित था। इसको इतिहासकार स्मिथ भी मानता है, पर साथ ही साथ वह लिखता है कि परिस्थिति बडी कठिन थी। कोर्ट के इन बनावटी अधिकारों को रोके बिना शासन-व्यवस्था का जारी रखना असम्भव था। शासक को कभी कभी कानून के विरुद्ध भी काम करना पडता है।[१] स्वयं हेस्टिंग्ज ने भी माना है कि शासन के मार्ग में कोर्ट बडा बाधक था।"

प्रधान जज इम्पी की हेस्टिंग्ज से मित्रता होने के कारण यह झगड़ा आगे न बढ़ने पाया। उसने इसे मिटाने के लिए सन् १७८० में इम्पी को 'सदर दीवानी अदालत' का भी अध्यक्ष बना दिया। इस पद के वेतनस्वरूप इम्पी को ५ हजार रुपया माहवार अधिक मिलने लगा। लार्ड मैकाले का कहना है कि नन्दकुमार के मामले में सहायता करने का बदला इस तरह चुकाया

१ स्मिथ, आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० ५३०—३१।

गया। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि इम्पी ने इस वेतन को लिया न था। पार्लामेंट ने इस प्रबन्ध को अनुचित समझकर इम्पी को वापस बुला लिया। इम्पी और हेस्टिंग्ज के मन के भाव चाहे जो कुछ रहे हों, यह मानना पड़ेगा कि उस पद पर थोड़े ही दिन रहकर इम्पी ने कई एक अच्छे सुधार किये। वह फारसी और बँगला दोनों भाषाएँ जानता था। उसने अदालत के नियमों का एक संग्रह तैयार किया और उसका फारसी तथा बँगला में अनुवाद कराया। कार्य्यवाही में यथासम्भव एकता और सुगमता लाने का भी प्रयत्न किया गया। बहुत दिनों तक भारत की अँगरेजी अदालतों में इन्हीं नियमों के अनुसार काम होता रहा।
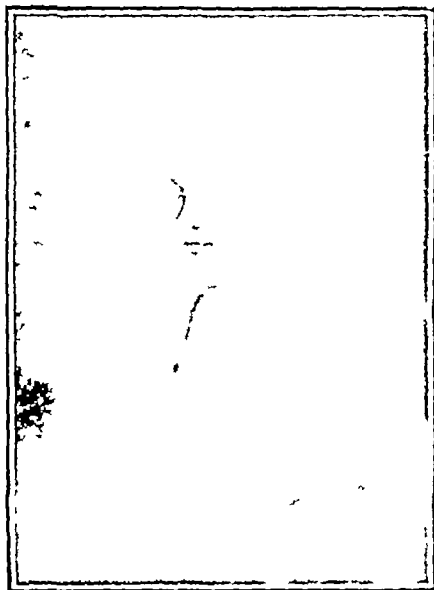
एलाइजा इम्पी

मराठों के साथ युद्ध—बंगाल और मदरास की देखा-देखी बम्बई-सरकार को भी अपना प्रभुत्व बढ़ाने की धुन लगी हुई थी। मराठों की परस्पर फूट में इसके लिए उसको अच्छा अवसर मिल गया। यह बतलाया जा चुका है कि रघुनाथ राव, जो राघोबा के नाम से प्रसिद्ध था, पूना से भागकर अँगरेजों की शरण में चला गया था। राघोबा ने बम्बई के निकट के दो स्थान—बसीन और सालसट—देने का वचन देकर अँगरेजों से सहायता माँगी। बम्बई-सरकार ने सहायता देना स्वीकार करके पहले ही से सालसट पर अधिकार कर लिया। सूरत की सन्धि से राघोबा को यह अधिकार मानना पड़ा। रेग्युलेटिंग ऐक्ट के अनुसार सूरत की सन्धि के लिए गवर्नर-जनरल की अनुमति

लेनी आवश्यक थी, परन्तु बम्बई-सरकार को नई शासन-व्यवस्था का पता भी न था। हेस्टिंग्ज को जब यह समाचार मिला तब उसने बम्बई-सरकार के इस कार्य्य को "असामयिक और नीति तथा न्याय के विरुद्ध" बतलाया। उसका कहना था कि राघोबा के अधिक पक्षपाती नहीं है। स्वयं बम्बई-सरकार के पास मराठा ऐसे प्रबल शत्रुओं के साथ लड़ने के लिए न तो काफ़ी सेना है और न धन। मराठों का राज्य स्वतंत्र है, उसमें हस्तक्षेप करना अनुचित है। इस निर्णय के अनुसार बम्बई-सरकार को राघोबा की सहायता करने के लिए मना कर दिया गया। साथ ही साथ कर्नल अप्टन को पूना भेजकर, पुरन्दर नामक स्थान पर, एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार अँगरेज़ों ने राघोबा का साथ छोड़ दिया। इधर बम्बई-सरकार सालसट और बेसीन को न छोड़ना चाहती थी, इसलिए उसने कम्पनी के संचालकों से लिखा-पढ़ी करके सूरत की सन्धि को स्वीकार करवा लिया और राघोबा की सहायता करने के लिए आज्ञा ले ली। पूना-सरकार के विरोध करते रहने पर भी मास्टिन फिर प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया। इसके पहुँचने के थोड़े ही दिन बाद मन्त्रियों में फूट हो गई और दीवान सखाराम बापू राघोबा के पक्ष में हो गया।

इस पर हेस्टिंग्ज भी उस युद्ध का समर्थन करने लगा, जिसको स्वयं उसने "असामयिक और नीति तथा न्याय के विरुद्ध" बतलाया था। फ्रांसिस ने इस तरह पुरन्दर की सन्धि के प्रतिकूल जाने का घोर विरोध किया। उसकी तथा ह्वीलर की राय में बम्बई-सरकार का निर्णय "नियम, नीति तथा न्याय के विरुद्ध" था। हेस्टिंग्ज का अपने समर्थन में कहना था कि नाना फड़नवीस अँगरेज़ों के विरुद्ध फ्रांसीसियों के एक दूत के साथ बातचीत कर रहा था। इसके अतिरिक्त पूना के स्वयं प्रधान सचिव ने राघोबा को गद्दी पर बिठलाने की प्रार्थना की थी। कम्पनी के संचालकों ने भी सूरत की सन्धि को मान लिया था। इसलिए बम्बई-सरकार की अब सहायता करना अनुचित न था। बहुमत से कौंसिल ने हेस्टिंग्ज की सलाह मानकर बम्बई सेना भेजने की आज्ञा दे दी।

बड़गाँव का समझौता—इस लिखा-पढ़ी और वाद-विवाद के समय में भी युद्ध बराबर जारी रहा। बम्बई-सरकार पहले से ही राघोबा को

सहायता करने के लिए एक सेना भेज चुकी थी। इस सेना का सामना करने के लिए नाना फड़नवीस तैयार था, होलकर और सिन्धिया अपनी बड़ी बड़ी सेनाएँ लिये हुए पड़े थे। नाना फडनवीस को अपने जासूसों से बम्बई-सरकार की सब बातों का पता मिल जाता था। उसने ऐसा प्रबन्ध कर रक्खा था कि अगरेजी सेना को कोई रसद न मिले। राघोबा को लेकर जो अगरेजी सेना आई थी उसको, मराठों के बराबर आक्रमण और रसद न मिलने के कारण, विवश होकर उनके साथ जनवरी सन् १७७९ में वडगाँव नामक स्थान पर समझौता करना पड़ा। इसके अनुसार अगरेजी सेना ने राघोबा का साथ छोड़ दिया, जो भागकर सिन्धिया की शरण में चला गया और कोकण के कई एक स्थानों को लौटाने तथा सिन्धिया

राघोबा

को ४१ हजार रुपया देने का वादा किया। बम्बई-सरकार ने इस समझौते को नहीं माना। उसका कहना था कि बिना उसकी अनुमति के सेना को ऐसा समझौता करने का कोई अधिकार न था। हेस्टिंग्ज लिखता है कि इस समझौते के पढ़ने पर उसकी लज्जा का कोई ठिकाना न रहा।

इन्हीं दिनों नाना फडनवीस ने पेशवा की ओर से इँगलेंड के बादशाह को एक पत्र लिखा, जिसमें उसने बड़ी योग्यता से यह दिखलाया कि शुरू से ही अगरेजों ने मराठों के साथ अपने वचन का पालन नहीं किया। वह लिखता है कि बम्बई और बंगाल की सरकारों के साथ हमने सन्धि के अनुसार ही व्यवहार किया, परन्तु उनका लिखना कुछ और कहना कुछ और है। बम्बई और कलकत्तावाले एक दूसरे के किये हुए इकरारों को नहीं मानते हैं। परन्तु मत भेद होते हुए भी दोनों के काम करने की पद्धति भीतर से एक जान पड़ती

का उसको इस समय ध्यान न था, वह दिल्ली में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए चिन्तित हो रहा था। नाना फड़नवीस की यह बात कि मराठा साम्राज्य के हित का सर्वनाश किये बिना भी सिन्धिया उत्तरी भारत में अपना उद्देश्य सफल बना सकता है, क्योंकि यदि मराठा आपस में मिलकर दृढ़ता के साथ काम करेंगे तो अँगरेजों का प्रभुत्व दिल्ली में कभी न जम सकेगा,[1] सिन्धिया की समझ में न आई। वह हेस्टिंग्ज की नीति का गूढ़ रहस्य न समझ सका। उसके इस कार्य्य से मराठों की दृढ़ता नष्ट हो गई। हेस्टिंग्ज की चतुरता से बंगाल की पश्चिमोत्तर सीमा दृढ़ हो गई और मराठा साम्राज्य में अँगरेजों का पैर जम गया।

चेतसिंह पर जुरमाना—बनारस का राजा पहले अवध के नवाबों के अधीन था। सन् १७७५ में अवध के नवाब ने बनारस का इलाका कम्पनी के हवाले कर दिया। राजा चेतसिंह ने कम्पनी को २३ लाख रुपया सालाना देना स्वीकार किया और कम्पनी ने इसके अतिरिक्त और किसी रकम के न मांगने का वचन दिया। सन् १७७८ में इंग्लेंड और फ्रांस में फिर लड़ाई छिड़ गई। इस पर हेस्टिंग्ज ने चेतसिंह से नियत 'कर' के अतिरिक्त ५ लाख रुपया सालाना ३ वर्ष तक लेना निश्चित किया। पहले साल तो उसने रुपया दे दिया, परन्तु दूसरे साल रुपया देने में देरी होने के कारण हेस्टिंग्ज ने उस पर जुरमाना कर दिया। तीसरे साल भी उसको एक लाख रुपया जुरमाना देना पड़ा। इस अवसर पर उसने अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं हेस्टिंग्ज को २ लाख रुपया दिया। हेस्टिंग्ज ने इसको कम्पनी के खजाने में न अपने नाम में जमा करा दिया, पर चेतसिंह से वह बराबर तकाजा करता गया। दक्षिण में युद्ध छिड़ जाने के कारण इन दिनों रुपये की बड़ी आवश्यकता थी। चेतसिंह से दो हजार सवार भी मांगे गये। बड़ी कोशिश से उसने ५०० सवार तैयार भी किये, पर हेस्टिंग्ज को सन्तोष न हुआ। राजा को

व्यापारियों से सस्ता पड़ता है, जिससे जुलाहों और कारीगरों का बड़ा नुकसान होता है। इसको दूर करने के लिए सन् १७७३ में अँगरेजों को जिलों में बसने की मनाही कर दी गई और गुमाश्तों को आज्ञा दी गई कि वे जुलाहों को दादनी देकर कम्पनी के हाथ माल बेचने के लिए मजबूर न किया करें। दस्तकों की प्रथा बिलकुल उठा दी गई। नमक, सुपारी और तमाखू को छोड़कर सब पर महसूल घटा दिया गया और अँगरेज तथा हिन्दुस्तानी दोनों से यह महसूल लिया जाने लगा। नमक तथा अफीम का व्यापार कम्पनी के ही हाथ में रखा गया और उनके ठेके भी नीलाम किये जाने लगे। भारतवर्ष से बहुत सा माल तुर्की, मिस्र और बसरा जाया करता था, परन्तु तुर्की में राजनैतिक अशान्ति होने के कारण यह व्यापार बन्द सा हो गया था। हेस्टिंग्ज ने एक जहाज हिन्दुस्तानी माल से भरवा-कर मिस्र भेजा और फिर से व्यापार का सम्बन्ध जारी किया। भूटान और तिब्बत से भी व्यापारिक सम्बन्ध जोड़ने का उसने प्रयत्न किया। 'सिक्का' रुपया भी इसी ने चलाया।

रुहेलों के साथ युद्ध—सन् १७७२ में रुहेलों ने नवाब वजीर के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार मराठों के आक्रमण करने पर उनको "युद्ध या समझा बुझाकर" हटा देने के लिए उन्होंने नवाब वजीर को ४० लाख रुपया देने का वचन दिया। इस सन्धि पर अंगरेज सेनापति बार्कर ने सही की। सन् १७७३ में बनारस में नवाब वजीर की अँगरेजों के साथ भी एक सन्धि हुई, जिसके द्वारा हेस्टिंग्ज ने कड़ा और इलाहाबाद के जिले ५० लाख रुपये में नवाब वजीर के हाथ बेच दिये। नवाब वजीर ने इस रकम को तीन वर्ष में अदा करने का वचन दिया और सहायता करने के लिए अपने खर्च से कम्पनी की कुछ सेना रखना स्वीकार किया। यह प्रबन्ध भी हेस्टिंग्ज की चाल से खाली न था। उसने स्वयं स्वीकार किया है कि इससे वजीर और मराठों में एक झगड़ा खड़ा हो जायगा, जिसके कारण वजीर को अंगरेजों की सहायता पर अधिक निर्भर रहना पड़ेगा।[1] इसी अवसर पर हेस्टिंग्ज ने ४० लाख रुपये के बदले में

---

१ फारस्ट, सेलेक्शन्स फ्राम दि स्टेट पेपर्स, जि० १, पृ० =५।

सेना और रुपया भेजने में हीला-हवाला करते देखकर हेस्टिंग्ज ने उस पर ५० लाख रुपया जुरमाना करना निश्चित किया और उसको वसूल करने के लिए वह स्वयं बनारस आया। हेस्टिंग्ज के पहुँचने पर राजा ने बहुत कुछ अनुनय विनय की, पर उसकी एक भी न सुनी गई, और हेस्टिंग्ज की आज्ञा से उसके महल पर गोरों का पहरा बैठा दिया गया। बनारस नगर में इस समाचार के फैलते ही उपद्रव मच गया। रामनगर से सैनिकों ने आकर गोरों को मार डाला। राजा चेतसिंह महल की एक खिड़की से कूदकर लतीफगढ़ की तरफ चला गया। हेस्टिंग्ज ने चेतसिंह को दमन करने के लिए एक सेना भेजी। रामनगर की तंग गलियों में सेना के दो दल नष्ट कर डाले गये। चेतसिंह के सिपाही बड़ी वीरता से लड़े। हेस्टिंग्ज को अपने प्राण लेकर चुनार भागना पड़ा। इसके बाद पतीता में फिर युद्ध हुआ। यहाँ भी चेतसिंह के सिपाहियों ने बड़ी वीरता दिखलाई। रामनगर की ढली हुई तोपें और बारूद देखकर अँगरेज अफसर दंग रह गये।[1] सितम्बर सन् १७८१ में अँगरेजों ने लतीफगढ़ पर अधिकार कर लिया। खजाने में जो कुछ रुपया था, उसको सिपाहियों ने लूट लिया। चेतसिंह दक्षिण भाग गया। हेस्टिंग्ज ने बनारस लौटकर उसके भानजे को राजा बना दिया, जिसने कम्पनी को ४० लाख रुपया सालाना कर देना स्वीकार किया।

हेस्टिंग्ज का कहना है कि चेतसिंह कम्पनी का एक साधारण सनदयाफ्ता जमीन्दार था। आपत्ति के समय पर अपने स्वामी की सहायता करना उसका कर्तव्य था। उसके पास धन और सेना की कमी न थी। वह मराठों और नवाब वजीर से मिलकर विद्रोह करना चाहता था। बनारस का उपद्रव इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह जान-बूझकर कम्पनी की सहायता करने में हीला-हवाला करता था। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि चेतसिंह एक साधारण जमीन्दार न था। यह बात ठीक है कि कम्पनी ने उसको जमीन्दारी की सनद दी थी और उसने एक कबूलियत लिख दी थी। इस सनद

---

[1] फारेस्ट, सेलेक्शन्स, जि० १, पृ० २२८।

का व्यवहार सर्वथा अनुचित था।[1] लायल के मतानुसार हेस्टिंग्ज ने इस मामले में बड़ी भूल की और उसने अपनी स्वाभाविक विचारशीलता से काम नहीं लिया।[2]

यह बात ठीक है कि इन दिनों रुपये की बड़ी आवश्यकता थी पर साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि हेस्टिंग्ज़ राजा चेतसिंह से चिढ़ा हुआ था। उसके विरुद्ध कौंसिल के मेम्बरों से चेतसिंह की मित्रता थी। इसका वह बदला लेना चाहता था कम्पनी की माँगों को पूरी करने के लिए चेतसिंह ने यथाशक्ति प्रयत्न किया था। बंगाल तथा बिहार में कम्पनी के मातहत और भी तो कई राजा तथा जमींदार थे, विपत्ति के समय में उनसे सहायता क्यों नहीं माँगी गई? "चेतसिंह की लूट" से कम्पनी के हाथ एक पैसा तक नहीं लगा। यदि उसके साथ नरमी का बर्ताव किया जाता तो कुछ सहायता मिल भी जाती। वह २२ लाख रुपया देने के लिए तैयार था परन्तु हेस्टिंग्ज ५० लाख पर ही डटा रहा। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि इस मामले में हेस्टिंग्ज ने अधिकतर अपने व्यक्तिगत भावों से ही काम लिया।

अवध के साथ व्यवहार—सन् १७७५ में नवाब शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गई। फ्रैंकलिन का कहना है कि अपने समय को देखते हुए वह एक योग्य शासक था। विपत्ति के समय में भी उसका धैर्य न छूटता था। कभी कभी निष्ठुर होते हुए भी उसे न्याय से प्रेम था और राज्य की उन्नति के लिए बराबर चिन्ता रहती थी। अपने योग्य अफसरों की सहायता से उसने राज्य में शान्ति स्थापित रखने की बड़ी चेष्टा की।[3] नये नवाब आसफुद्दौला के साथ दूसरी सन्धि की गई, जिसके अनुसार सेना का माहवारी खर्चा बढ़ा दिया गया, बनारस का इलाका ले लिया गया और अंगरेजों के अतिरिक्त यूरोप के

---

१ स्मिथ, पृ० ५३८।

२ सर एल्फ्रेड लायल, वारेन हेस्टिंग्ज, पृ० १२५—२७।

३ फ्रैंकलिन, हिस्ट्री ऑफ दि रेन ऑफ शाहआलम, पाणिनि आफ़िस संस्करण, पृ० ६४।

किसी अन्य निवासी को नौकर रखने की मनाही कर दी गई। मालगुजारी वसूल करने में भी वह कम्पनी की सेना से सहायता लेने लगा और उसने कई एक अँगरेज अफसरों को भी रख लिया। इसका फल यह हुआ कि खर्चा बहुत बढ़ गया और सन् १७८१ में कम्पनी का कर्जा बढ़ते बढ़ते डेढ़ करोड़ तक पहुँच गया। इन्हीं दिनों हेस्टिंग्ज बनारस से भागकर चुनार आया। उसने नवाब का खर्चा घटाने के लिए कुछ सेना वापस बुला ली और कई अँगरेज अफसरों को निकाल दिया। कम्पनी का रुपया वसूल करने के लिए यहीं पर नवाब के साथ एक खास प्रबन्ध किया गया।

बेगमों की दुर्दशा—कहा जाता है कि नवाब की माँ और दादी के पास बड़ा धन था। कम्पनी का कर्जा चुकाने के लिए आसफुद्दौला इस धन को लेना चाहता था। बेगमों ने २६ लाख रुपया उसे दिया भी था जिसके बदले में उन्हें एक जागीर दी गई थी। सन् १७७५ में अँगरेज रेजीडेंट तथा कौंसिल के यह विश्वास दिलाने पर कि फिर उनसे रुपया न माँगा जायगा और उनकी जागीर न छीनी जायगी, बेगमों ने ३० लाख रुपया और देने का वचन दिया था। इसका कुछ भी ख्याल न रखकर अब हेस्टिंग्ज ने बेगमों से धन छीनने तथा जागीर जब्त करने की अनुमति नवाब को दे दी।[1] रेजीडेंट को हेस्टिंग्ज ने लिख भेजा कि बेगमों के प्रति क्षमा दिखलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पर अँगरेजी सेना के साथ नवाब की सेना फैजाबाद पहुँच गई और उसने बेगमों के साथ बड़ा कठोर बर्ताव किया। उनके दो विश्वासपात्र खोजे गिरफ्तार कर लिये गये और कहा जाता है कि उनके कोड़े तक लगाये गये। इस तरह बेगमों से बलात रुपया छीनकर कम्पनी का कर्जा चुकाया गया।

हेस्टिंग्ज का कहना है कि बेगमों का धन राज्य की सम्पत्ति थी। उस पर उनका कोई निजी अधिकार न था। कर्जा चुकाने के लिए नवाब उसको ले सकता था। यह बात ठीक है कि रुहेलों की लूट मे बेगमों को यह धन मिला था, परन्तु विपत्ति के समय पर उन्होंने शुजाउद्दौला की सहायता करने मे कोई कसर उठा न रखी थी। अंगरेजों को रुपया देने के लिए इलाहाबाद की सन्धि के समय पर बहू बेगम ने अपनी नाक की नथनी तक निकालकर उसको दे दी थी। ऐसी दशा मे शुजाउद्दौला से बाद को जो कुछ धन उसको मिला था उसे यदि वह निज की सम्पत्ति समझती थी, तो इसमें उसका क्या दोष था ? दूसरे एक बार ३० लाख रुपया लेकर और बेगमों को यह विश्वास दिलाकर कि उनसे और रुपया न मांगा जायगा, फिर इस तरह बलात् रुपया लेना किसी तरह उचित न था। यदि यह मान भी लिया जाय कि बिना रुपये के काम न चलता था, तब भी जिन उपायों से रुपया लिया गया, वे सर्वथा निन्दनीय थे। हेस्टिंग्ज कलकत्ता में रहता था, लखनऊ और फैजाबाद मे क्या हो रहा था इसका उसे कुछ पता न था, ऐसा कहने से हेस्टिंग्ज अपनी जिम्मेदारी से बरी नहीं हो सकता। रेजीडेंट मिडिलटन के यह लिखने पर भी कि "इस देश की स्त्रियों के साथ जितना कडा बर्ताव किया जा सकता है, किया जा चुका है" वह मिडिलटन को और सख्ती के साथ काम लेने के लिए बराबर लिखता रहा। लगभग साल भर तक बेगमों के खोजे कैद रहे, मिडिलटन और ब्रिस्टो कुल हाल कलकत्ता लिखते रहे, परन्तु हेस्टिंग्ज ने उनकी करतूतों की निन्दा मे कभी मुँह से एक शब्द भी नहीं निकाला, उलटे नरमी दिखलाने के लिए उन्हीं को डाँटता रहा। अपनी माता और दादी के साथ कुत्सित व्यवहार का जब स्वयं नवाब को पश्चात्ताप हुआ, तब हेस्टिंग्ज बिगड़कर कहने लगा कि वह अपने वजीर के प्रभाव मे पडकर मेरी अनुमति से किये हुए कार्यों का, क्रोध और घृणापूर्ण अनुचित शब्दों में, विरोध कर रहा है।

अपनी नीति के समर्थन मे हेस्टिंग्ज का कहना था कि बेगमें अंगरेजों के विरुद्ध चेतसिंह का साथ दे रही थीं, इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है। दूसरे, यदि ऐसा हो भी तो चेतसिंह के साथ अनुचित व्यवहार

देखकर आत्म-रक्षा के लिए बेगमों का घबड़ाकर उसका साथ देना कुछ अस्वाभाविक न था। इसको कम्पनी के संचालकों ने भी माना है। स्मिथ के यह कहने से कि बिना बल का प्रयोग किये हुए भारतवर्ष में रुपया वसूल करना सहज न था, हेस्टिंग्ज की नीति का समर्थन नहीं हो सकता। सर एल्फ्रेड लायल सरीखे हेस्टिंग्ज के प्रशंसक को भी मानना पड़ा है कि अँगरेज अफसरों की अध्यक्षता में शारीरिक यातना पहुँचाकर स्त्रियों और उनके नौकरों से बलात् रुपया छीनना एक "घृणित कार्य्य" था। इकरार के विरुद्ध उनके साथ नवाब का मनमाना व्यवहार भले ही उचित हो, परन्तु उनके विरुद्ध नवाब को उत्तेजित करना और उसकी सहायता करना सर्वथा निन्दनीय था, जिसका बाद समर्थन नहीं हो सकता।[1]

मैसूर के साथ दूसरा युद्ध—अमरीका के विद्रोही उपनिवेशों का साथ देने के कारण सन् १७७८ में इंग्लैंड और फ्रांस में फिर युद्ध छिड़ गया। यह समाचार मिलने पर फ्रांसीसियों से पाण्डुचेरी छीन ली गई और मलाबार तट पर माही का बन्दरगाह नष्ट कर डाला गया। यह बन्दरगाह हैदरअली के राज्य में था और यहाँ से उसकी रसद आती जाती थी। इसलिए [illegible] था यह कार्य्य उसको बहुत बुरा लगा। मदरास की सन्धि के अनुसार अँगरेजों ने मराठों के आक्रमण करने पर हैदरअली की सहायता नहीं की थी, जिसके कारण वह पहले ही से अँगरेजों से चिढ़ा था। इस प्रकार उसको बदला निकालने का उसको अच्छा अवसर मिल गया। मराठों से अँगरेजों का युद्ध हो रहा था, इसलिए वे लोग भी साथ देने के लिए तयार थे। उधर निज़ाम भी अपने मित्र अँगरेजों से चिढ़ा हुआ था। राघोबा के [illegible] पर अँगरेजों ने उसका भी साथ नहीं दिया था, दूसरे बिना उसकी अनुमति के कम्पनी सरकार ने गन्टूर का जिला अपने अधीन कर लिया था। इसलिए हैदरअली, निज़ाम और मराठा तीनों मिलकर अँगरेजों के विरुद्ध लड़ने का प्रयत्न कर रहे थे।

१

सन् १७८० में हैदरअली अपने बेटे टीपू के साथ एक बड़ी भारी सेना लेकर कर्नाटक पर टूट पड़ा। उसने सारा देश उजाड़ दिया। मदरास के निकट कुछ गांवों को रात में जलते देखकर अँगरेजों को उसके आ जाने का पता लगा। बक्सर-विजयी सेनापति हेक्टर मनरो के उसने छक्के छुड़ा दिये। कर्नल बेली के दल को टीपू ने घेरकर नष्ट कर डाला और उसको गिरफ्तार कर लिया। इस लड़ाई में अँगरेजों के पांच हजार सिपाही तथा सात सौ गोरे मारे गये और लगभग दो हजार गोरे कैद कर लिये गये। हेस्टिंग्ज को जब यह समाचार मिला तब उसने मदरास के गवर्नर को अयोग्यता के कारण पद से हटा दिया और आयरकूट को सेनापति बनाकर दक्षिण की ओर भेजा। इस अवसर पर धैर्य्य न छोड़कर उसने बड़ी नीति से काम लिया। एक ओर मराठा राज-मंडल में फूट फैलाकर सिन्धिया से सन्धि का प्रस्ताव किया और मराठों को हैदरअली के विरुद्ध उत्तेजित क[र] दिया।[1] दूसरी ओर गंटूर वापस करके निजाम को शान्त कर दिया औ[र] हैदरअली मुगल सम्राट् से दक्षिण की सूबेदारी के लिए लिखा-पढ़ी कर रह[ा] है, ऐसा सुझाकर निजाम को भी उसके विरुद्ध कर दिया। इस तरह इ[स] समय का एक बड़ा भारी राजनैतिक गुट्ट, जिसका परिणाम अँगरेजों के लि[ए] बड़ा भयानक होता, हेस्टिंग्ज की चतुर नीति से टूट गया और हैदरअली फि[र] अकेला रह गया। इतने पर भी उसका साहस न छूटा और वह डच तथ[ा] फ्रांसीसियों की सहायता से बराबर लड़ता रहा।

हैदरअली की मृत्यु—बड़ी कठिनता से आयरकूट की अध्यक्षता [में] अँगरेजी सेना ने उसको पोर्टोनोवो, शालिगढ और पालीलूर की लड़ाइयों [में] हराया। परन्तु दूसरी ओर टीपू ने कर्नल ब्रेथवेट के दल को फिर नष्ट क[र] डाला और बेली की तरह उसको भी पकड़ लिया। इस तरह जब युद्ध च[ल] ही रहा था, दिसम्बर सन् १७८२ में हैदरअली का सहसा देहान्त हो गया मरने के पूर्व वह अच्छी तरह जानता था कि अँगरेजों पर विजय पाना सहज

---

१ फारेस्ट, मराठा सिरीज, जि० १, पृ० ४७४।

नहीं है और उसने अपने मंत्री पुर्णिया से स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि "मैं अँगरेजों की शक्ति को भूमि पर नष्ट कर सकता हूँ पर समुद्र को नहीं सुखा सकता हूँ।

हैदरअली

फ्रांसीसी और मराठों ने उसका साथ नहीं दिया, इसका उसे बड़ा दुःख था। मराठों के विषय में यह कह देना उचित है कि इस समय स्वयं मराठा-मंडल में फूट फैल रही थी और वे हैदरअली की सहायता करने में असमर्थ थे। नाना फड़नवीस विवश था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जब तक हैदरअली की मृत्यु का समाचार नाना फड़नवीस को नहीं मिला, तब तक उसने सालबाई की सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये।
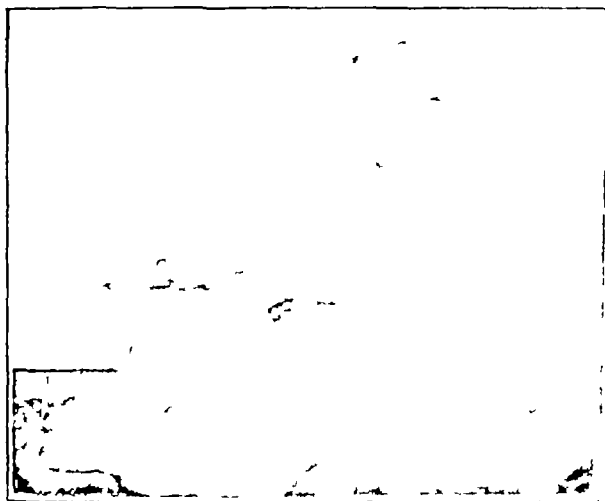
हैदरअली ने अपनी बुद्धिमत्ता, योग्यता और साहस से थोड़े ही काल में मैसूर को दक्षिण का सबसे प्रबल राज्य बना दिया था। निज़ाम और अँगरेज दोनों ही उसकी शक्ति से डरते थे। कई बार हराकर भी मराठे उससे सदा सचेत रहते थे। उसको किसी प्रकार का अभिमान न था। साधारण से भी साधारण प्रजा को भी अपना दुःख स्वयं निवेदन करने का अधिकार प्राप्त था। उसमें धार्मिक पक्षपात बिलकुल न था। उसके बड़े बड़े अफसर और मंत्री हिन्दू थे। कहा जाता है कि सन् १७६१ में त्रिचनापल्ली पर आक्रमण करने के समय पर उसने श्रीरंगजी के मन्दिर के लिए बहुत सा धन

दिया था।[1] किसी प्रकार की अड़चन को वह सहन न कर सकता था। अपने बड़े बड़े अफसरों तथा बेटे टीपू तक की चाबुक से खबर लेता था। शासन के सभी विभागों को वह अपने आप देखता था। प्रजा के सुख का उसे बराबर ध्यान रहता था। अपनी सेना को उसने बड़े अच्छे ढंग से सगठित किया था। वह कुछ भी पढ़ा लिखा न था, पर अकबर और रणजीतसिंह की तरह उसको सभी बातों का ज्ञान था। उसकी स्मरणशक्ति बड़ी तीव्र थी। वह बड़े लम्बे-चौड़े हिसाब जबानी ही बतला देता था। वह पाँच भाषाओं में बोल सकता था। अपने दिमाग पर उसका ऐसा अधिकार था कि वह कई एक काम एक साथ ही करता था। कहा जाता है कि वह महफिल में बैठकर नाच देखता था, मन्त्रियों से गूढ विषयों पर परामर्श भी करता था और चार-चार पाँच-पाँच पत्र एक साथ ही लिखवाता था। फारेस्ट का कहना है कि उसमें कुछ ऐसे गुण थे, जिनका अँगरेज आदर करते हैं।

इतिहासकार स्मिथ की राय है कि "हैदरअली का न कोई धर्म था, न कोई नीति और न उसमें दया का कोई भाव था।"[2] इसके प्रतिकूल उसके जीवन-चरित के लेखक बावरिंग का कहना है कि "एक पूर्वीय होते हुए भी वह अपने कौल का पक्का था। अँगरेजों के प्रति उसकी नीति निष्कपट थी। शासन में वह कठोर था, उसके नाम से भय उत्पन्न होता था, इतने पर भी यदि प्रशंसा से नहीं तो आदर के साथ उसका नाम मैसूर में लिया जाता है। उसकी समय समय पर की कठोरताएँ भूल गईं, पर उसकी शक्ति और सफलता को जनता की स्मृति में सदा स्थान प्राप्त रहेगा।"[3]

मॅगलोर की सन्धि—कहा जाता है कि मरने पर हैदरअली की पगड़ी में एक पर्चा मिला था, जिसमें उसने टीपू को अँगरेजों से सन्धि करने की सलाह

दी थी।[१] परन्तु टीपू अपने पिता की इस अन्तिम आज्ञा के विरुद्ध अँगरेजों से लड़ता रहा। आयरकूट के मर जाने से टीपू का साहस बढ़ गया और उसने कई एक स्थान अँगरेजों से छीन लिये। मदरास के गवर्नर ने घबरा कर जल्दी में सन्धि का प्रस्ताव कर दिया। यूरोप में सन्धि हो जाने पर फ्रांसीसियों ने टीपू का साथ छोड़ दिया। मराठों और अँगरेजों में भी सालबाई की सन्धि हो गई। ऐसी दशा में टीपू ने भी सन्धि के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेना उचित समझा। मार्च सन् १७८४ में मेंगलोर नगर में सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। इसके अनुसार दोनों के जीते हुए देश लौटा दिये गये और बंदी छोड़ दिये गये। इस अवसर पर टीपू के यहाँ से २६८० गोरे तथा हिन्दुस्तानी कैदियों को छुटकारा मिला। कुछ गोरे उसके हाथ में रह गये जिनकी उसने खूब खबर ली।

हेस्टिंग्ज को जब इस सन्धि का समाचार मिला तब उसके क्रोध का कोई ठिकाना न रहा। उसका कहना था कि मदरास का गवर्नर कर्नाटक का भी हाथ से खो बैठेगा। इंग्लैंड-सरकार सन्धि के पक्ष में थी। इसलिए अपनी इच्छा के विरुद्ध हेस्टिंग्ज को यह "निन्दनीय तथा [illegible]" सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। इस सन्धि में पेशवा और निज़ाम की मित्रता का कोई उल्लेख नहीं किया गया था जिसके कारण वे बहुत चिढ़ गये। उन दोनों को एक पत्र लिखकर हेस्टिंग्ज ने जैसे तैसे शान्त किया।

हेस्टिंग्ज़ के अन्य सुधार—युद्ध में बराबर लगे रहने पर भी हेस्टिंग्ज का ध्यान सब ओर रहता था। सन् १७७७ में पाँच सालवाला मालगुजारी का बन्दोबस्त समाप्त हुआ। अगले बन्दोबस्त के विषय में हेस्टिंग्ज और फ्रांसिस में बहुत वाद-विवाद हुआ। फ्रांसिस इस्तमरारी बन्दोबस्त के पक्ष में था। अन्त में सालाना बन्दोबस्त फिर जारी किया गया परन्तु नीलाम करने की प्रथा हटा दी गई और यथासम्भव मौरूसी ज़मींदारों को ज़मीन उन्हीं के हाथ में ही देना निश्चित किया गया। कम्पनी के कर्मचारि-

[१] [illegible] लाइफ़ ऑफ़ [illegible], जि० १, पृ० [illegible]।

को भूमि लेने से मना कर दिया गया। प्रान्तीय बोर्डों की जगह कलकत्ता में एक बोर्ड बना दिया गया। कलेक्टरों के हाथ में माल और न्याय दोनों विभाग रहने से कभी कभी प्रजा पर बड़ा अत्याचार होता था, इसलिए इन दोनों विभागों को अलग करने का भी प्रयत्न किया गया और न्याय के लिए नई अदालतें खोली गईं। सन् १७८१ में फौजदारी अदालतों में भी कुछ सुधार किये गये। दीवानी अदालतों के अँगरेज जजों को दारोगा के पास अपराधियों के चालान करने के अधिकार दिये गये और अंग-भंग के कई कठोर दंड उठा दिये गये। सुप्रीम कोर्ट की अधिकार-सीमाएँ कलकत्ता भर में ही परिमित कर दी गईं।

हेस्टिंग्ज को पूर्वीय साहित्य से बड़ा प्रेम था। उसको अरबी तथा फारसी का ज्ञान था और वह हिन्दुस्तानी अच्छी तरह बोल सकता था। सन् १७८१ में उसने 'कलकत्ता मदरसा' खोला, जो आजकल एक बड़ा मुसलमानी कालेज है। बंगाल की सुप्रसिद्ध 'एशियाटिक सोसायटी' के स्थापित करने में उसने सर विलियम जोन्स की बड़ी सहायता की। जोन्स ने संस्कृत के कई एक ग्रन्थों का अंगरेजी में अनुवाद किया। इस सोसायटी से पूर्वीय साहित्य का बड़ा उपकार हो रहा है। हेस्टिंग्ज ने कई एक संस्कृत पंडितों को कलकत्ते में बसाया था और वह उनकी बराबर सहायता करता था। सन् १७८१ में उसने मेजर रेनल के द्वारा बंगाल का पहला 'अटलस' तैयार करवाया। रेनल सन् १७६४ से ही बंगाल में पैमायश का काम करता था। उसका

सर विलियम जोन्स

भौगोलिक ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा हुआ था कि 'वह भारतीय भूगोल का जन्म-दाता माना गया है।

पिट का इंडिया एक्ट—फ्रांसिस जब से इंग्लैंड वापस गया था तभी से हेस्टिंग्ज के विरुद्ध मन्त्रियों के कान भर रहा था। सन् १७८० में पार्लामेंट में भारतवर्ष का प्रश्न फिर छिड़ गया। इसी साल बंगाल के शासन और कर्नाटक-युद्ध के कारणों की जांच करने के लिए दो कमेटियां नियुक्त की गईं। इन कमेटियों के रिपोर्ट करने पर कामन्स सभा ने बम्बई के गवर्नर और हेस्टिंग्ज को वापस बुलाने का निश्चय किया। परन्तु कम्पनी के संचालकों ने इसको न माना। इस पर फाक्स ने एक बिल पेश किया जिसके अनुसार वह कम्पनी के सब राजनैतिक अधिकार इंग्लैंड-सरकार के हाथ में देना चाहता था। कई कारणों से यह बिल पास न हो सका। सन् १७८४ में पिट ने एक नया कानून पास करवाया, जिसके अनुसार ६ सदस्यों की एक 'निरीक्षण समिति' बनाई गई, जो 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' के नाम से प्रसिद्ध हुई। भारतवर्ष में कम्पनी के शासन की सब देख-भाल इस बोर्ड को सौंप दी गई। आगे चलकर बोर्ड नाम मात्र को रह गया और सब अधिकार इसके सभापति के हाथ में चले गये। बोर्ड की [illegible] को भारतवर्ष भेजने और वहां के सब कागजात बोर्ड के सामने पेश करने के लिए कम्पनी के तीन संचालकों की एक 'गुप्त कमेटी' भी बनाई गई। [illegible] का अब राजनैतिक मामलों से कोई सम्बन्ध न रह गया परन्तु कम्पनी के कर्मचारियों को नियुक्त करने और निकालने का अधिकार 'कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स' के हाथ में ही छोड़ दिया गया। 'कोर्ट [illegible] प्रोप्राइटर्स' के अधिकार कम कर दिये गये और बोर्ड की कार्रवाइयों से उनका कोई सम्बन्ध न रह गया। भारतवर्ष में राज्य की वृद्धि के लिए युद्ध करना "राष्ट्र की नीति, प्रतिष्ठा तथा इच्छा के विरुद्ध" बतलाया गया और संचालकों की बिना अनुमति के अपनी या अपने अधीन राज्यों की रक्षा के अतिरिक्त किसी प्रकार के युद्ध या सन्धि करने के लिए गवर्नर-जनरल [illegible] [illegible] को स्पष्ट रूप से मना कर दिया गया। भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल [illegible]

कौंसिल के मेम्बरों की संख्या चार से तीन कर दी गई, और मदरास तथा बम्बई प्रान्त, युद्ध, मालगुजारी तथा राजनीति के विषय में उसके पूर्ण रूप से, अधीन बना दिये गये। इस तरह भारतवर्ष में कम्पनी के नाम से इँग्लेंड-सरकार का शासन प्रारम्भ हुआ।

हेस्टिंग्ज़ का इस्तीफ़ा—इस कानून से हेस्टिंग्ज को अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि उसकी नीति का अब इँग्लेंड-सरकार समर्थन नहीं कर सकती। उसकी राय थी कि "पचासों बर्क, फाक्स और फ्रांसिस" इससे खराब कानून नहीं बना सकते थे। इँग्लेंड-सरकार की निगाह फिरी हुई देखकर, उसके अधीन अफसर भी उसकी पर्वाह न करते थे। मदरास के गवर्नर ने उसकी इच्छा के प्रतिकूल मँगलोर की "अपमानजनक" सन्धि कर ली थी। इन सब बातों से दुखी होकर उसने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया और फरवरी सन् १७८५ में वह भारतवर्ष से वापस चला गया।

पार्लामेंट का अभियोग—इँग्लेंड पहुँचने पर भी उसको शान्ति न मिली। सन् १७८६ में बर्क के प्रस्ताव पर उसके शासन की जांच फिर से प्रारम्भ की गई। पार्लामेंट की कामन्स सभा ने रुहेला और मराठा युद्ध के सम्बन्ध में उसको निर्दोष पाया, पर चेतसिंह और अवध की बेगमों के प्रति उसके व्यवहार की बड़ी तीव्र आलोचना की। इस पर सन् १७८८ में पार्लामेंट की लार्ड्स सभा में उस पर अभियोग चलाया गया। इस अभियोग में नवाब वजीर के साथ सन्धि तोड़ने, उसके शासन में हस्तक्षेप करने, उसकी सेना को बढ़ा देने, बेगमों और चेतसिंह के साथ अनुचित व्यवहार करने तथा कई मामलों में घूस खाने के बीस अपराध लगाये गये। इसमें फ्रांसिस की सहायता से—बर्क फाक्स और शेरिडन—इँग्लेंड के तीन सुप्रसिद्ध वक्ताओं ने बड़े जोरों से बहस की। हेस्टिंग्ज ने बड़े साहस और धैर्य के साथ अपनी नीति का समर्थन किया। यह अभियोग सात वर्ष तक चलता रहा। इतने दिनों में बहुत से परिवर्तन हो गये और अन्त में हेस्टिंग्ज निर्दोष प्रमाणित होकर छोड़ दिया गया।

इस अभियोग का एक फल अवश्य हुआ। जिस शासन-यन्त्र का संचालन हेस्टिंग्ज कर रहा था, वह कितना अधूरा था यह सिद्ध हो गया और अफसरों को पूरी चेतावनी मिल गई। साथ ही साथ बर्क के उदार विचारों का आगे चलकर भारतीय शिक्षित समाज पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। अभियोग के भारी खर्च से हेस्टिंग्ज निर्धन हो गया। पर सरकार ने कम्पनी के संचालकों को उसकी यथेष्ट सहायता न करने दी। वह निर्दोष सिद्ध हो गया हेस्टिंग्ज को यही बड़ा भारी सन्तोष था। सन् १८१८ में उसकी मृत्यु हो गई।

एडमंड बर्क

निर्बल बना दिया। मैसूर-युद्ध के समय पर निजाम, हैदरअली तथा मराठों के प्रबल गुट्ट को उसने तोड डाला। जिन दिनों वह भारतवर्ष में था, अमरीका में अंगरेजों की बराबर हार हो रही थी। उसने इसका प्रभाव भारतवर्ष पर न पडने दिया। उसके समय में भारतवर्ष की अधिक भूमि कम्पनी के हाथ नहीं लगी, यह ठीक है। परन्तु यह मानना पडेगा कि कम्पनी की शक्ति को उसने ऐसा बना दिया कि जिससे सभी डरने लगे।

अपनी पर-राष्ट्र नीति के समर्थन में, पार्लामेंट के प्रति उसका कहना था कि कम्पनी के राज्य की स्थापना दूसरों की वीरता से हुई, "मैंने उसकी वृद्धि की और उसको एक निश्चित स्वरूप दिया। मैंने उसकी रक्षा की और थोडे खर्चे में उसकी सेनाओं को शत्रुओं के अज्ञात देश में भेजकर आपके अन्य अधिकृत स्थानों की सहायता की। एक (बम्बई) को मैंने अप्रतिष्ठा और अपमान से बचाया और दूसरे (मदरास) की नष्ट तथा पराधीन हो जाने से रक्षा की। मैंने उन लडाइयों को जारी रखा, जिनको मैंने नहीं, पर आप या दूसरों ने छेडा था। मैंने प्रबल भारतीय गुट के एक सदस्य (निजाम) को (गट्टूर) वापस करके फोड लिया, दूसरे (भोंसला) के साथ गुप्त सम्बन्ध जारी रखकर उसको मित्र बना लिया, तीसरे (सिन्धिया) का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करके उसको सन्धि का साधन बना लिया। जब आप सन्धि के लिए चिल्ला रहे थे और वे लोग, जिनसे सन्धि करनी थी, सुन रहे थे, मैंने अपनी मांगों को बढाकर अपने विरुद्ध जानेवाली बातों को रोका और ऐसी सन्धि की, जो मुझे आशा है, एक (मराठों के) राज्य के साथ स्थायी होगी। साथ ही साथ मैंने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये, जिनके द्वारा दूसरे (टीपू) के साथ, यदि इतनी स्थायी नहीं हो तो कम से कम समयोचित, सन्धि करना सम्भव हो गया।"

"मैंने आपको सब कुछ दिया, परन्तु आपने उसके इनाम में मेरा छीन लिया, मेरा अपमान किया और मुझ पर अभियोग चलाया।"[1]

---

१ फारेस्ट, सेलेक्शन फ्रॉम दि स्टेट पेपर्स, जि० १, पृ० २९०।

इस समर्थन की भाषा वैसी ही है, जैसी भाषा में उस पर अभियोग चलाया गया था। वह लिखता है कि देश को उस समय शान्ति की आवश्यकता थी, मैं स्वयं शान्ति चाहता था, परन्तु अपमान के साथ नहीं। मुझे बडी बडी लड़ाइयाँ राज्य की रक्षा के लिए लडनी पडीं।[1] यहा पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मराठों या रुहेलो ने कम्पनी के राज्य पर कभी आक्रमण नहीं किया था। उपायों के उचित या अनुचित होने की बात छोड़कर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने भारतवर्ष मे अँगरेजी शक्ति को बडी प्रबल बना दिया।

उसका शासन और चरित्र—हेस्टिंग्ज के समय मे जिस ढग से शासन किया जा रहा था, उसकी प्रशसा नही की जा सकती। जमीन को नीलाम करने और थोडे काल के लिए ठेके पर उठाने का फल यह हुआ कि प्रजा पर तरह तरह के अत्याचार होने लगे। जमीन्दार और सरकारी कर्मचारियों को अपने मतलब के सिवा और किसी का ध्यान न रहा। सन् १७८८ के एक पत्र मे कोलब्रुक लिखता है कि हेस्टिंग्ज ने देश को कलेक्टर और जजों से भर दिया, जिनका एक मात्र उद्देश्य रुपया कमाना था। जहाँ ये पहुँच गये वहीं इन्होने जनता को लूट लिया। न्याय की तो बिक्री होती थी। जो सब से अधिक धन देता था जज उसी की सुनते थे।[2] इनको रोकना तो दूर रहा, राबर्ट्स का कहना है कि मनुष्यों को अपने पक्ष में लाने के लिए कभी कभी स्वयं हेस्टिंग्ज खुले तौर पर ऐसे उपायों का प्रयोग करता था, जो बाद की नैतिक दृष्टि से उचित नहीं कहे जा सकते।[3] सर जान मालकम लिखता है कि उसके शासन-काल में घूस खूब चलती थी।[4] यह बात ठीक है कि इन दिनो ऐसे अत्याचारों का

---

१ हेस्टिंग्ज, मेम्वायर्स रिलेटिव टु दि स्टेट ऑफ इंडिया, सन् १७८६।

२ वामनदास बसु, राइज ऑफ दि क्रिश्चियन पावर इन इंडिया, जि० २, पृ० १५।

३ राबर्ट्स, हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, पृ० २२३।

४ मालकम, स्केच ऑफ दि पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इंडिया, पृ० ४०।

रोकना सहज न था। शासन-व्यवस्था को सुधारने का हेस्टिंग्ज ने प्रयत्न अवश्य किया था।

खर्च करने मे उसका हाथ खूब खुला हुआ था, इसी लिए उसे रुपये की हर समय आवश्यकता रहती थी। कानूनी सबूत न होने के कारण घूसखोरी के सम्बन्ध मे लार्ड मेकाले भी उसे निर्दोष पाता है। पर मुन्नी बेगम, चेतसिंह तथा आसफुद्दौला से उसे जो रकमें मिलीं थीं, उन्हे उचित नहीं कहा जा सकता। यह बात ठीक है कि चेतसिंह तथा नवाब की रकमें उसकी जेब मे नहीं गई, पर इससे वह निर्दोष नहीं माना जा सकता। चेतसिंह का रुपया अपने नाम से कम्पनी को देना 'सेलेक्ट कमेटी' की राय में एक प्रकार का धोखा था। नवाब की रकमवाले कुल मामले को लायल ने "हर तरह से दूरदर्शितारहित" बतलाया है।

हेस्टिंग्ज की नीति तथा उसके कार्य्यों की बडी तीव्र आलोचना की गई है। केवल मिल ने ही नहीं बल्कि मार्शमैन, थार्नटन, बेवरिज तथा अन्य इतिहासकारों ने भी उसके कई एक कार्य्यों की निन्दा की है। बेवरिज का कहना है कि वह बडा घमडी था और प्राय चालबाजी से काम लेता था।[1] हेस्टिंग्ज के समर्थन में सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया जाता है कि उसे बडी कठिन परिस्थिति में काम करना पडा था। मिल ने भी इसको माना है। परन्तु साथ ही साथ यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि बहुत सी कठिनाइयां स्वय उसकी पैदा की हुई थीं। इसमे सन्देह नहीं कि वह बडा नीतिनिपुण था। उसका दिमाग बडा तेज था। अवसर पडने पर उसको बड़ी दूर की सूझती थी। धैर्य्य और साहस की उसमे कमी न थी। विपत्ति-काल मे वह कभी घबडाता न था। कौंसिल के विरोध और इंग्लंड सरकार की घुड़कियो की उसने पर्वाह न की। अभियोग के समय पर उसको छेडने और उत्तेजित करने के लिए कोई बात उठा न रखी गई, पर वह बराबर गम्भीर तथा शान्त रहा।

[1] बेवरिज, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० २, पृ० ६०१—१४।

उसके शासन मे दोष थे, उसके उपाय निन्दनीय थे, उसके सिद्धान्त नैतिक दृष्टि में उच्च न थे, इन सब बातों को मानते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि वह बड़ा प्रतिभाशाली मनुष्य था। पग पग पर बाधाएँ होते हुए भी उसने भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की नींव को ऐसा दृढ बना दिया कि जिस पर आगे चलकर साम्राज्य का निर्माण हो सका।

सर जान मेकफ़र्सन—हेस्टिंग्ज के जाने पर कौंसिल के बड़े मेम्बर मकफर्सन को चार्ज मिला। यह पहले मदरास मे काम करता था, पर वहाँ से निकाल दिया गया था। अर्काट के नवाब ने इसको अपना गुप्त दूत बनाकर इंग्लैंड-सरकार के पास भेजा था। बाद मे कम्पनी के संचालकों ने इसको कलकत्ता की कौंसिल का मेम्बर बना दिया था। सेना का ५० लाख रुपया बाकी था, उसको इसने चुका दिया और खर्चा कम करने के लिए बहुतों का वेतन घटा दिया। नवाब वजीर की भी यह कुछ सहायता करना चाहता था, पर हेस्टिंग्ज के विचारों का ध्यान रखते हुए, उसने उसकी नीति मे परिवर्तन करना उचित नहीं समझा। इसी समय मुगल सम्राट् के नाम से माहादजी सिन्धिया ने अँगरेजों से कर माँगा, पर मैकफर्सन ने साफ जवाब दे दिया। लार्ड कार्नवालिस का कहना है कि मैक्फर्सन कमजोर तथा झूठा था और इसके जमाने मे घूस ले लेकर कर्मचारी रखे जाते थे। वह २० महीने तक गवर्नर-जनरल के पद पर रहा।

परिच्छेद ६

हस्तक्षेप न करने की नीति

कार्नवालिस की नियुक्ति—पिट के इंडिया ऐक्ट की नीति को काम में लाने के लिए कार्नवालिस गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त किया गया। वह एक उच्च श्रेणी का रईस था। अमरीका के स्वतंत्रता-युद्ध में हारकर इँग्लैंड वापस आया था। पहले दो बार वह गवर्नर-जनरल के पद को अस्वीकार कर चुका था। इँग्लैंड से चलने के पूर्व उसने 'रेग्यूलेटिंग ऐक्ट' के एक बड़े दोष को दूर करवा लिया। उस ऐक्ट के अनुसार गवर्नर जनरल कौंसिल के सर्वथा अधीन था, जिससे शासन में बड़ी अड़चनें पड़ती थीं, जैसा कि हेस्टिंग्ज़ के सम्बन्ध में दिखलाया जा चुका है। अब

कार्नवालिस

आवश्यकता पड़ने पर कौंसिल के विरुद्ध भी काम करने का अधिकार गवर्नर जनरल को दे दिया गया। सन् १७८६ में कार्नवालिस भारतवर्ष पहुँचा।

नौकरियों का सुधार—भारतवर्ष पहुँचने पर कार्नवालिस ने देखा कि कम्पनी के कर्मचारियों में घूस खाने का बाजार गरम है। बनारस के रेजीडेंट का मासिक वेतन तो एक हजार रुपया था, पर उसकी सालाना आमदनी चालीस हजार रुपये से भी अधिक थी। कहने के लिए तो कम्पनी के कर्मचारियों का निजी व्यापार बन्द हो गया था, पर शायद ही कोई ऐसा कलेक्टर रहा होगा, जो अपने किसी मित्र या रिश्तेदार के नाम से व्यापार न करता हो। इस व्यापार में वे लोग, जज और शासक की हैसियत से, तरह तरह के दबाव डालकर अनुचित लाभ उठाते थे। संचालक भी इस ओर अधिक ध्यान न देते थे। कर्मचारियों की सम्पत्ति से वे स्वयं लाभ उठाते थे। कार्नवालिस लिखता है कि इसको रोकना तो दूर रहा, वे लूट में अपने मित्रों को हिस्सा दिलाने के लिए लड़ा करते थे। इन दिनों कर्मचारियों का वेतन बहुत कम था, पेंशन मिलने की प्रथा न थी, इसलिए जब तक वे भारत में रहते थे, उनको धन बटोरने की ही चिन्ता रहती थी। इस दोष को दूर करने के लिए कार्नवालिस ने कलेक्टरों तथा बड़े बड़े अफसरों का वेतन बढ़ा देना ही उचित उपाय समझा। बहुत लिखा-पढ़ी के बाद संचालकों ने उसकी राय को स्वीकार करके वेतन बढ़ाने की आज्ञा दे दी। नौकरी के सम्बन्ध में वह सिफारिशों का बड़ा विरोधी था। इस मामले में वह इँग्लेंड के राजकुमार तक की न सुनता था।

अदालतों का प्रबन्ध—कलेक्टर के हाथ में न्याय, शासन तथा माल तीनों विभागों के रहने के कारण अधिकारों का बड़ा दुरुपयोग होता था। माल और शासन के मामलों में कलेक्टर ही अपराधी होता था और वही न्याय करता था। ऐसी दशा में प्रजा के साथ क्या न्याय हो सकता था? इस दोष को दूर करने के लिए उसने इन विभागों को अलग अलग कर दिया। कलेक्टर के हाथ में केवल माल का महकमा रह गया, न्याय से उसका कोई सम्बन्ध न रहा। दीवानी विभाग में छोटे छोटे मामलों को तय करने के लिए सदर अमीन और मुन्सिफों की अदालतें खोली गईं। इनकी अपील के लिए जिला जज की अदालत रखी गई। यह जज अँगरेज होता था, जो असेसरों' की सहा-

यता से निर्णय करता था। इसकी अपील के लिए कलकत्ता, पटना, ढाका और मुर्शिदाबाद में चार प्रान्तीय अदालतें स्थापित की गईं। इनके अँगरेज जजों के साथ भी हिन्दुस्तानी 'असेसर' रखे जाते थे। इन प्रान्तीय अदालतों की अन्तिम अपील कलकत्ता की 'सदर दीवानी अदालत' में होती थी, जिसमें गवर्नर-जनरल और कौंसिल के मेम्बर बैठते थे।

फौजदारी का काम भी इन्हीं दीवानी अदालतों को सौंपा गया। नायब नाजिम को फौजदारी के मुकदमे करने का अधिकार नहीं रहा। अँगरेज जज दौरा करके ये मुकदमे सुनते थे। इनकी अपील 'सदर निजामत अदालत' में होती थी। मुसलमानी कानून से इन दिनों भी काम होता था, पर उसके कई एक कठोर दंड हटा दिये गये थे। कार्नवालिस ने अदालतों की सहायता के लिए नियमों का एक संग्रह भी तैयार करवाया था, जो 'कार्नवालिस कोड' के नाम से प्रसिद्ध है।

हेस्टिंग्ज ने पुलिस का काम फौजदारों और थानेदारों के हाथ में छोड रखा था, परन्तु शान्ति स्थापित रखने का भार अधिकतर जमीन्दारों के ही सर थे था। कार्नवालिस ने इस काम को भी कम्पनी के अधीन कर लिया। इसके लिए कई एक थाने खोल दिये गये, जिनमें हिन्दुस्तानी दारोगा रख दिये गये। इन लोगों का वेतन २० या २५ रुपया मासिक से अधिक न होता था। इस वेतन के अतिरिक्त किसी चोर या डाकू के पकडने पर दस रुपया इनाम और चोरी का माल पकड़ने पर कुछ कमीशन मिलता था। तीन चार सौ मील में कहीं एक थाना होता था, जिसमें १५ या २० सिपाही रहते थे। इनके लिए इतने बडे हलके में पूरी देख-भाल करना असम्भव था। वेतन कम होने के कारण और इनाम के लालच में पडकर दारोगा बदमाशों की अपेक्षा भले आदमियों को ही अधिक तग करता था।

भारतवर्ष के लिए कार्नवालिस की न्याय-व्यवस्था बडी जटिल थी। साधारण प्रजा को प्राचीन पंचायत या देशी अदालतों का ही ढग सीधा और सुगम जान पडता था। उसमें विशेष खर्चा न था, वादी प्रतिवादी स्वयं अपनी बात न्यायाधीश को सहज में समझा सकते थे। परन्तु इन अदालतों के पेचीदा

कानून-कायदों का प्रजा को ज्ञान न था, दूसरी ओर अँगरेज जजों को भारतीय रीति-रिवाजों का पता न था। इसलिए बिना वकील के काम चलाना असम्भव हो गया। वकीलों के मेहनताने के अतिरिक्त अदालतों में बहुत सी नई फीसें पड़ने लगीं, जिनसे मुकद्दमों का खर्चा बढ़ गया और न्याय में भी अधिक समय लगने लगा। इन दोषों से कार्नवालिस अनभिज्ञ न था। कम्पनी का खर्चा और समय बचाने के लिए उसने दूसरे ही कायदे बना दिये थे, जिनके अनुसार बिना किसी प्रकार के झगड़ों में पड़े हुए कम्पनी का काम सहज में निकल जाता था। इस पर इतिहासकार मिल ठीक पूछता है कि किस सिद्धान्त के अनुसार सुलभ और सुगम न्याय सरकार के लिए उचित, पर प्रजा के लिए अनुचित, समझा गया ?

क्लाइव और हेस्टिंग्ज के समय में हिन्दुस्तानी बड़े बड़े पदों पर काम करते थे, पर कार्नवालिस इसके पक्ष में न था। उसका मत था कि "प्रत्येक हिन्दुस्तानी घूस खाता है।"[१] वह लिखता है कि "मेरी समझ में जितने सुधार (फौजदारी विभाग में) किये गये हैं, वे सब व्यर्थ हो जायँगे, यदि उनका काम में लाना किसी हिन्दुस्तानी के हाथ में रहेगा।" क्या केवल हिन्दुस्तानी ही घूस खाते थे? बनारस और लखनऊ के रेजीडेंट तो अँगरेज थे, पर उनकी क्या दशा थी? यह दोष दूर करने के लिए अँगरेजों के वेतन बढ़ा दिये गये, पर हिन्दुस्तानियों के लिए यह क्यों उचित न समझा गया? मार्शमैन ने इसको कार्नवालिस की "बड़ी भारी भूल" बतलाया है। उसका कहना है कि इससे हिन्दुस्तानियों के लिए बड़े बड़े ओहदों का दर्वाजा बन्द हो गया। इस भूल का प्रभाव अब तक चल रहा है।

बंगाल के ज़मीन्दार—मुगलों के शासनकाल में किसान अपनी पैदावार का नियत भाग राज्य को लगान के रूप में देता था। यह लगान प्राय गांव के मुखिया या आमिलों द्वारा वसूल किया जाता था। इस तरह राजा और रैयत में सीधा सम्बन्ध था। लगान वसूल करने के लिए देश में अधिकतर इसी

[१] कार्नवालिस, कारस्पाडेंस, स० रॉस, जि० १, पृ० २८२।

जमीन्दार खेती की उन्नति का ध्यान नहीं रखते हैं। कम्पनी की एक तिहाई भूमि पर जंगल खड़े हैं। ज़मीन्दारों को यदि यह विश्वास हो जायगा कि मालगुजारी नहीं बढ़ेगी, तो वे जंगलों को कटवाकर उस भूमि पर खेती करवाने लगेंगे। दस वर्ष के बन्दोबस्त से उनकी पूरी दिलजमई न होगी। इसके अतिरिक्त सरकार को बार बार बन्दोबस्त का झंझट न करना पड़ेगा और उसकी आमदनी सदा के लिए निश्चित हो जायगी। अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए जमीन्दार खेती की उन्नति करेंगे और प्रजा के सुख का ध्यान रखेंगे। इंग्लैंड-सरकार ने कार्नवालिस की राय को मान लिया और सन् १७९३ से बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में इस्तमरारी बन्दोबस्त करने की आज्ञा दे दी। दो वर्ष बाद बनारस के इलाके में भी यही बन्दोबस्त कर दिया गया। यह प्रबन्ध जमीन्दारों के साथ किया गया था, इसलिए इसको 'जमीन्दारी बन्दोबस्त' भी कहते हैं।

सरकार की हानि—इस्तमरारी बन्दोबस्त से सरकार की बड़ी हानि हुई। कुछ दिनों में बंगाल की दशा सुधर गई, खेती भी अधिक होने लगी, पर सरकार को उससे कोई लाभ नहीं हुआ। उसको अब तक वही बँधी हुई रकम मिलती है। इतिहासकार स्मिथ का कहना है कि इस बन्दोबस्त से सरकार को ३ करोड़ रुपया सालाना का घाटा सहना पड़ता है, जिसको भारतवर्ष के अन्य प्रान्त पूरा करते हैं। इस मामले में कार्नवालिस ने बड़ी जल्दी की। यदि जान शोर की सलाह मानकर दस साल तक इतना स्थायी प्रबन्ध न किया जाता, तो उतने समय में खेती की ठीक ठीक दशा का पता लग जाता और जमीन्दारों की पूरी आमदनी मालूम हो जाती, जिससे सरकार को इतना बड़ा घाटा न सहना पड़ता। इस बन्दोबस्त से मालगुजारी में उसे एक पैसा भी बढ़ाने का अधिकार नहीं रहा।

ज़मीन्दारों का लाभ—इस बन्दोबस्त से सबसे अधिक लाभ जमीन्दारों का हुआ। वे अब जमीन के मालिक हो गये। जिस तख़मीना पर मालगुजारी बाँधी गई थी, उससे कई गुनी आमदनी बढ़ गई। यह सब रुपया उन्हीं की जेबों में जाने लगा। परन्तु इस बन्दोबस्त से पहले उनका

भी नुकसान हुआ। कार्नवालिस ने यह नियम बना दिया था कि यदि समय पर मालगुजारी वसूल न हो, तो जमीन्दारी ज़ब्त करके नीलाम कर दी जाया करे। यह बड़ा कठोर दंड था। मुगलों के समय में मालगुजारी अदा न करने के लिए कभी कभी जमीन्दारों को कोड़े तक सहने पड़ते थे, पर उनकी रोजी न छीनी जाती थी। कार्नवालिस के इस कठोर नियम से राजशाही, दीनाजपुर और नदिया के प्राचीन राजघराने नष्ट हो गये। जमीन के मालिक हो जाने से जमीन्दारों को उसके रहन-बय करने का भी अधिकार मिल गया। इससे खर्च में उनका हाथ खुल गया और जमीन्दारियां कुर्क होकर नीलाम होने लगीं। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही काल में बंगाल के पुराने रईसों की श्रेणी नष्ट हो गई और उनकी जगह पर ऐसे लोग जमीन्दार बन गये, जिनका रैयत से कोई सम्बन्ध न था।

प्रजा पर प्रभाव—इस बन्दोबस्त से कार्नवालिस रैयत की दशा भी सुधारना चाहता था, पर वास्तव में इसका परिणाम उलटा हुआ। शताब्दियों के सम्बन्ध से पुराने जमीन्दारों को प्रजा से कुछ स्नेह था, पर नये जमीन्दारों में इसका पूरा अभाव था। ये लोग बड़े बड़े शहरों में रहकर आनन्द में पड़ गये और इनके कारिन्दे प्रजा पर मन-माने अत्याचार करने लगे। काश्तकारों को बेदखल करने का अधिकार भी जमीन्दारों को दे दिया गया। इस अधिकार का बराबर दुरुपयोग होने लगा। इसका फल यह हुआ कि कितने ही काश्तकारों की जमीनें, जो बहुत दिनों से उनके पास थीं, और जिनमें एक प्रकार से उनका मौरूसी हक़ हो गया था, उनके हाथ से निकल गईं। लगान बांधने के समय पर पैदावार का पता कानूनगो के कागजात से लगता था। अब यह पद भी तोड़ दिया गया और पटवारी जमींदारों के नौकर होकर उन्हीं का पक्ष करने लगे। जमीन्दारों के अत्याचार का बदला लेने के लिए काश्तकार कभी कभी लगान देना बन्द कर देते थे। वे जानते थे कि समय पर मालगुजारी न दे सकने से जमीन्दारों को अपनी जमीन्दारी से हाथ धोना पड़ेगा। इसका फल यह होता था कि दोनों में बराबर झगड़ा हुआ करता था। जमीं

न्दार और काश्तकारों में 'पट्टा' और 'कबूलियत' का कोई ठीक प्रबन्ध न होने से काश्तकार की रक्षा का कोई उपाय न रह गया। सन् १८५९ में इनकी रक्षा के लिए एक नया कानून बनाना पड़ा। इस्तमरारी बन्दोबस्त का सिद्धान्त अवश्य ठीक है। पर कई बातों का ध्यान न रखने तथा जल्दी करने के कारण इस बन्दोबस्त में बहुत से दोष रह गये।

व्यापार की अवनति—कम्पनी के कर्मचारियों के अत्याचार से पीड़ित होकर जुलाहे अपना काम छोड़ रहे थे, इसका उल्लेख किया जा चुका है। इस समय कपड़े के व्यापार को एक और धक्का लगा। हिन्दुस्तानी कपड़े का व्यवहार इंग्लैंड में अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही बन्द कर दिया गया था, पर कम्पनी के द्वारा यह माल इंग्लैंड होकर यूरोप के अन्य देशों में जाता था। इंग्लैंड में तभी से सूती कपड़ा बनाने का प्रयत्न हो रहा था। इससे देश का ही काम न चलता था, बल्कि यह कपड़ा बाहर भी भेजा जाता था। सन् १७६४ तक बाहर जानेवाले कपड़े की तादाद अधिक न थी। अन्य देशों में भारतवर्ष का ही बढ़िया माल अधिक खपता था। इधर बीस-पचीस वर्षों में कई एक नई कलों का आविष्कार हो गया, जिनसे सूती कपड़ा बहुत अच्छा बनने लगा। सन् १७८३ में विलायती तंजेब का नमूना बंगाल भेजा गया। कम्पनी की आमदनी पूर्वीय व्यापार से होती थी, उसका हित भारतवर्ष में कपड़ा बनाने की कला की रक्षा करने में था, पर तब भी उसका ध्यान इसकी ओर नहीं गया। इसके कई एक कारण थे। वह अँगरेजों की संस्था थी, जिनको अपने देश के हित का सदा ध्यान रहता है। पार्लामेंट का उस पर पूर्ण अधिकार था। इँग्लेंड की जनता देश के व्यापार को बढ़ाना चाहती थी, उसके प्रतिकूल जाना कम्पनी की शक्ति के बाहर था। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तानी माल पर इंग्लैंड में बराबर चुंगी बढ़ती जाती थी, जिसके कारण इसको अन्य देशों में भी भेजने से कोई लाभ नहीं होता था। इन्हीं कारणों से हिन्दुस्तानी कपड़े की उन्नति के बजाय सन् १७८८ में कम्पनी के संचालकों ने मैंचेस्टर के माल को खपाने के लिए लिख भेजा और अँगरेज कारीगरों की सहायता करने के लिए बंगाल, सूरत तथा भड़ोंच से रुई भी मँगाना प्रारम्भ कर दिया।

फ्रांस मे भी हिन्दुस्तानी माल बहुत चलता था। भारतवर्ष मे फ्रांसीसियों का व्यापार चौपट ही हो गया था, इसलिए यह माल इँग्लैंड होकर जाता था। फ्रांस में राजविप्लव होने पर इँग्लैंड से उसका व्यापारिक सम्बन्ध टूट गया और वहाँ भी हिन्दुस्तानी कपड़ा जाना बन्द हो गया। नेपोलियन के साथ युद्ध छिड़ने पर इँग्लैंड मे हिन्दुस्तानी कपडे की चुगी २७ पौंड सैकडे से बढाकर ६७ पौंड कर दी गई। इस तरह कपडे का रोजगार बन्द होने लगा और विलायती माल की खपत बढने लगी। सन् १७८६ में लाभदायक न होने तथा अन्य "कई आवश्यक कारणों" से सूत का भी विलायत भेजना बन्द कर दिया गया। इँग्लैंड मे सूती कपडा इतना बढिया बनने लगा कि अँगरेज महिलाओं ने रेशमी कपडा पहनना छोड दिया, जिसका फल यह हुआ कि रेशम और रेशमी कपडे का व्यापार भी मन्दा पड गया।

इस समय तक भारतवर्ष से बाहर माल भेजने और वहाँ से माल लाने का अधिकार केवल कम्पनी ही को था। सन् १७९३ के नये आज्ञापत्र से पार्लामेंट ने अन्य व्यापारियों को भी थोडा बहुत व्यापार करने की आज्ञा दे दी। कलकत्ते मे बैंक खुल जाने से अँगरेज व्यापारियों को बडी सुविधा हो गई। सन् १७८८ मे कार्नवालिस ने भारतवर्ष मे भी चुगी उठा दी और चौकियों को तोड देने के लिए आज्ञा दे दी। सन् १७८७ मे उसने जुलाहों को भी मुक्त कर दिया। दादनी देकर मुचलका लिखाने की प्रथा को बिलकुल उठा दिया और चाहे जिसके हाथ माल बेंचने की आज्ञा दे दी। देश का निजी व्यापार कम्पनी की नीति के कारण पहले ही चौपट हो चुका था, इसलिए इन सुधारों से इस समय कोई विशेष लाभ न हुआ।

मैसूर का तीसरा युद्ध—अँगरेजों से सन्धि हो जाने के बाद से टीपू का घमड बहुत बढ गया। वह अपने को 'सुलतान' कहने लगा और मराठों से अकारण ही भिड़ गया। इस पर सन् १७८७ मे मराठों ने निजाम से मिलकर टीपू को ऐसा दबाया कि उसे कुछ देश और ३० लाख रुपया देकर अपनी रक्षा करनी पडी। यद्यपि टीपू और अँगरेजों मे सन्धि थी, तब भी दोनों एक दूसरे से जलते थे। इधर कार्नवालिस ने एक ऐसा काम किया

को अपने पक्ष मे मिलाये रखने के लिए उसने लिख भेजा कि यदि कर्नाटक बालाघाट कभी अँगरेजो के हाथ आ जायगा, तो निजाम का ध्यान रखा जायगा। सहायता के लिए एक अँगरेजी सेना भी भेजी जायगी, पर यह सेना कम्पनी के किसी मित्र के विरुद्ध काम मे न लाई जाय। मित्रों की सूची में मराठा, कर्नाटक और अवध के नवाब वजीर तक का नाम लिख दिया गया, पर टीपू का कहीं भी जिक्र न किया गया।

इस पर टीपू बिगड गया। सन् १७८४ मे जो कानून पार्लामेंट ने पास किया था, उसके अनुसार विना संचालकों की अनुमति के गवर्नर-जनरल को किसी देशी शक्ति के विरुद्ध सन्धि करने का अधिकार न था। इसको टालने के लिए ही निजाम को पत्र लिखने की चाल चलनी पडी। डफ लिखता है कि इस पत्र की चाल से तो खुले तौर पर टीपू के विरुद्ध सन्धि कर लेना ही अच्छा था। इधर टीपू ने त्रावणकोर पर आक्रमण कर दिया। त्रावणकोर राज्य कम्पनी का मित्र था। उसकी रक्षा के लिए टीपू के साथ लडना पिट के इंडिया ऐक्ट के विरुद्ध न था, इसलिए कार्नवालिस को अब खुले तौर पर युद्ध की घोषणा करने का अवसर मिल गया।

कोई कानूनी बाधा न रहने पर उसने निजाम और पेशवा के साथ टीपू के विरुद्ध सन्धि कर ली। टीपू इस युद्ध के लिए तैयार न था। उसके गुप्त भाव चाहे जो कुछ रहे हों, इस समय तक वह सन् १७८९ की सन्धि के विरुद्ध न गया था। त्रावणकोर के विषय मे उसका कहना था कि उस राज्य ने दो स्थानो पर अधिकार कर लिया था। ये स्थान कोचीन के थे, जो मैसूर राज्य के अधीन था। इसके उत्तर में अँगरेजों की सलाह से त्रावणकोर राज्य की ओर से कहा जाता था कि ये दोनो स्थान डच लोगो से मोल लिये गये थे। इसके पहले वे पुर्तगालियो के पास थे और उनसे कोचीन का कोई सम्बन्ध न था। टीपू इस प्रश्न को लिखा-पढी करके तय करना चाहता था, पर कार्नवालिस ने लडना निश्चित कर लिया था। समझौते का समर्थन करने के लिए मद्रास के गवर्नर हालैंड को कार्नवालिस की कडी डाट सुननी पडी और पद-त्याग करना पडा। उसके स्थान पर मेडोज गवर्नर बनाया गया, जिसने

गवर्नर-जनरल के आज्ञानुसार युद्ध की तैयारी प्रारम्भ कर दी। ट्रावणकोर का झगड़ा तो केवल एक बहाना था। मराठे तथा निजाम को टीपू के विरुद्ध देखकर उसको दबाने का कार्नवालिस यह सबसे अच्छा अवसर समझता था।

जनरल मेडोज ने डिंडीगल छीन लिया। बम्बई की ओर से एक दूसरी सेना ने आकर मलाबार पर अधिकार कर लिया, परन्तु रसद की कमी और बरसात होने के कारण कोई गहरी लड़ाई न हुई। दिसम्बर सन् १७६० में स्वयं कार्नवालिस सेनापति बनकर आया और उसने बंगलोर छीन लिया। मराठों की सेना ने धारवार से टीपू की सेना को निकाल भगाया और दूसरी ओर निजाम ने एक किले पर कब्जा कर लिया। सन् १७६२ में कार्नवालिस ने श्रीरंगपट्टन का घेरा डाल दिया, तब विवश होकर टीपू को सन्धि का प्रस्ताव करना पड़ा।

श्रीरंगपट्टन की सन्धि—कार्नवालिस भी इस युद्ध को अधिक न बढ़ाना चाहता था। निजाम और मराठों पर उसका पूरा विश्वास न था, फ्रांस से लड़ाई छिड़नेवाली थी, सेना में बीमारी फैली हुई थी और कम्पनी के संचालक सन्धि के लिए उत्सुक थे। बहुत दिनों तक सन्धि की शर्तें तय होती रहीं, अन्त में मार्च सन् १७६२ में सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार टीपू को अपने राज्य का आधा भाग और तीन करोड़ रुपया देना पड़ा। यह रुपया और राज्य अंगरेज, मराठों तथा निजाम ने आपस में बाँट लिया। मराठों को तुंगभद्रा नदी तक का प्रदेश मिल गया। कडापा प्रान्त निजाम के हाथ आ गया। अंगरेजों को मैसूर के पश्चिम में मलाबार और कुर्ग, दक्षिण में डिंडीगल और पूर्व में सेलम जिले के कुछ भाग मिल गये। इनके मिल जाने से बम्बई तथा मदरास के अहाते बहुत बढ़ गये और लगभग ४० लाख रुपये सालाना की आमदनी हो गई। इन जिलों के निकल जाने से टीपू चारों ओर से घिर गया और पश्चिम में उसके लिए समुद्र का मार्ग बन्द हो गया। तीन करोड़ रुपये के अतिरिक्त अफसरों को बाँटने के लिए तीस लाख रुपया टीपू से 'दरबार खर्च' के नाम से और मांगा गया। वह उस समय एक करोड़ से अधिक रुपया न दे सका, बाकी के लिए उसको अपने दो बेटे अंगरेजों के पास बन्धक रखने पड़े। इस रुपये को उसने ठीक समय पर

अदा कर दिया। इस युद्ध के परिणाम के विषय में कार्नवालिस का लिखना है कि "बिना अपने मित्रों की शक्ति इतनी बढ़ाए हुए कि जिससे किसी प्रकार का भय हो, हमने अपने शत्रु को निर्बल बना दिया"।[1]

कर्नाटक और अवध—कर्नाटक के नवाब पर कम्पनी का बहुत देना हो गया था। दोहरे शासन के कुफल यहाँ भी दिखलाई दे रहे थे। तलवार अँगरेजों के हाथ में थी और रुपया वसूल करना नवाब का काम था। अँगरेज अफसरों को बड़ी बड़ी दावतें और बहुमूल्य भेंटें लेने में किसी प्रकार का सकोच न था। सेना का खर्च चलाने के लिए नवाब को बड़ी बड़ी रकमें कर्ज लेनी पड़ती थीं। अँगरेज महाजन उससे मन-माना सूद खाते थे। पाल बेनफील्ड नामक एक अँगरेज ने तो राज्य की कुल आय को हड़प करने का ही विचार कर लिया था। उसका कम्पनी के संचालकों पर ऐसा प्रभाव था कि वह नवाब के कर्जे की जाँच कभी न करने देता था। कार्नवालिस के आने पर सन् १७८७ में नवाब के साथ फिर एक नई सन्धि की गई। उसकी रक्षा और शासन में सहायता करने के लिए अँगरेजी सेना बढ़ा दी गई। नवाब ने उसका कुल खर्चा देना स्वीकार किया। साथ ही साथ यह भी तय हुआ कि यदि नवाब समय पर रुपया न दे सके, तो मालगुजारी कम्पनी की निगरानी में वसूल की जाया करे। समय पर रुपया देना नवाब के लिए असम्भव था। मैसूर से लड़ाई छिड़ने पर सन् १७९० में कार्नवालिस ने कर्नाटक का शासन कम्पनी के हाथ में ले लिया। मालगुजारी वसूल करने के लिए अँगरेज अफसर रख दिये गये। नवाब को केवल हिसाब देखने का अधिकार रह गया। यह प्रबन्ध सन् १७८७ की सन्धि के विरुद्ध था, परन्तु कार्नवालिस का कहना था कि लड़ाई के समय में कर्नाटक का शासन विषयी नवाब और उसके अयोग्य अफसरों के हाथ में छोड़ना न उसी के लिए हितकर था और न कम्पनी ही के लिए। लड़ाई समाप्त होने पर यह तय कर दिया गया कि जब कभी युद्ध छिड़ेगा, कर्नाटक का इसी प्रकार से शासन किया जायगा।[2]

---

१ कार्नवालिस, करस्पांडेंस, जि० २, पृ० १५४।

२ माल्कम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० ९२—१०१।

अवध के नवाब वजीर की दशा भी कर्नाटक के नवाब की तरह थी। इस पर भी कम्पनी का बहुत देना हो गया था। उसके राज्य की रक्षा के लिए अँगरेजों की एक बड़ी सेना रहती थी। इसके अतिरिक्त मालगुजारी वसूल करने मे सहायता देने के लिए भी एक सेना रहती थी। अँगरेज अफसर नवाब से खूब बहुमूल्य भेंटें ऐंठते थे। कई एक अँगरेज, जो कम्पनी के नौकर नही थे, पर सचालको और मन्त्रियो के रिश्तेदार या मित्र थे, अवध मे नाम मात्र के लिए नवाब की नौकरी कर लेते थे और थोडे ही दिनो मे माला-माल हो जाते थे। कभी कभी अँगरेज अफसर मालगुजारी का ठेका ले लेते थे और प्रजा को मनमाना चूसते थे। 'गोरखपुर के अत्याचारी' हैने का नाम प्रसिद्ध है। कम्पनी का इस ओर कोई ध्यान न था और इन अँगरेजों को अवध से बाहर निकालना नवाब की शक्ति के बाहर था। नवाब की राज-नैतिक निर्बलता के कारण उसकी आर्थिक दशा न सुधर पाती थी और दिन प्रतिदिन अँगरेजों पर उसकी निर्भरता बढती जाती थी। सन् १७८४ मे हेस्टिंग्ज के वचन देने पर भी फतहगढ से अँगरेजी सेना नहीं हटाई गई। कार्नवालिस के आने पर नवाब ने अपने विश्वासपात्र और योग्य सचिव हैदर-बेगखाँ को कलकत्ता भेजा, पर वहाँ से भी जवाब मिला कि नवाब तथा कम्पनी की रक्षा के लिए अवध मे अँगरेजी सेना का रहना नितान्त आवश्यक है। हैदरबेगखाँ के बहुत कुछ कहने सुनने पर कार्नवालिस ने यह स्वीकार किया कि नवाब को ५० लाख रुपया साल से अधिक न देना पडेगा। रेजी-डेंट को शासन मे अधिक हस्तक्षेप न करने के लिए लिख दिया गया और बिना गवर्नर-जनरल की अनुमति के किसी अँगरेज को अवध मे रहने का अधिकार न रहा। दूसरे साल एक व्यापारिक सन्धि की गई, जिसके अनुसार कम्पनी को अवध मे कोठियाँ खोलने का अधिकार भी मिल गया। इलाहाबाद की सन्धि के समय से यह प्रश्न टल रहा था, पर इस समय नवाब को विवश हो-कर अँगरेजो की बात माननी पडी।

कार्नवालिस की वापसी—सन् १७९३ मे कार्नवालिस इंग्लैंड वापस चला गया। उसके जाने के पहले, इंग्लैंड और फ्रांस मे लडाई छिड

इस्माईलबेग नाम का एक दूसरा सरदार, राजपूताना भागकर, वहाँ के राजाओं को सिन्धिया के विरुद्ध भडका रहा था। सन् १७९० मे डीबोयन की सेना ने उसको पाटन के युद्ध मे हरा दिया। मिरथा के युद्ध मे वीर राठोरो को भी हार माननी पडी। जयपुर, जोधपुर और उदयपुर के राजाओं को सिन्धिया का आधिपत्य मानकर चौथ देना स्वीकार करना पडा। राजपूतों के, विशेष-कर उदयपुर के घराने के, मान का सिन्धिया को बराबर ध्यान रहता था। उदयपुर के महाराणा के साथ उसका मित्रता का व्यवहार था। कर्नल टाड का कहना है कि उद्दंड जागीरदारो के दमन करने मे महाराणा को सिन्धिया के प्रसिद्ध सूबेदार अम्बाजी से बडी सहायता मिली। इस तरह उत्तरी भारत मे सिन्धिया का आतंक पूर्ण रूप से जम गया। उद्दंड जागीरदारो की उसने जागीरें छीन लीं। मालगुजारी वसूल करने के लिए उसने गोपालराव को 'सरसूबा' बनाया और उसके नीचे डीबोयन तथा तीन मराठा सरदारो को सूबेदार नियुक्त किया।

सिन्धिया को शाहआलम के सम्मान का बडा ध्यान रहता था। वह उसके 'मुख्तारुल्मुल्क' की हैसियत से उत्तरी भारत मे शासन करता था। दिल्ली के तख्त को मराठे नष्ट न करना चाहते थे। देश की परिस्थिति को देखते हुए उनके लिए ऐसा करना सम्भव भी न था। मुगल सम्राटों की ओर से सारे देश में अपनी सत्ता स्थापित करना वास्तव मे शुरू ही से उनकी 'बादशाही नीति' थी। दीवानी लेने मे अँगरेजों ने भी उन्हीं की नीति का अनुकरण किया था।

अँगरेजों के साथ सम्बन्ध—हेस्टिंग्ज को सिन्धिया बहुत मानता था। उसके चले जाने पर अँगरेजों के प्रति सिन्धिया का भाव कुछ बदल गया। सालबाई की सन्धि की भूल का उसको पता लग गया। उसके प्रभुत्व से अँगरेजों को भी चिन्ता हो रही थी। सन् १७८६ के एक पत्र में सिन्धिया-दरबार का अँगरेज प्रतिनिधि एंडर्सन कार्नवालिस को लिखता है कि उस पर पूरी देख-रेख रखनी चाहिए। सम्भव है किसी समय उसकी शक्ति को रोकने की आवश्यकता पड जाय। ऐसी दशा मे बिना लडे ही अपना काम निकाल

का पेशवा पर पूरा प्रभाव पड़ा। यह देखकर नाना फड़नवीस ने भी अपनी नीति बदल दी और उत्सव में सिन्धिया का पूरा साथ दिया।

माहादजी सिन्धिया

सिन्धिया और नाना—ये दोनों अपने समय के बड़े प्रतिभाशाली मनुष्य थे, जो पानीपत के युद्ध से जीवित बच गये थे। दोनों की शिक्षा नाना माधवराव बल्लाल के उच्च स्वदेश-प्रेम के आदर्श में हुई थी। दोनों सारे देश में मराठा साम्राज्य का स्वप्न देखते थे। दोनों का जीवन सादा और धार्मिक था। यदि नाना फड़नवीस में चतुरता थी तो सिन्धिया में

विरुद्ध" है। इस नीति को काम में लाने के लिए कार्नवालिस की सलाह से सर जान शोर गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया। सर जान शोर सन् १७६९ में आठ रुपया मासिक वेतन पर नौकर होकर भारतवर्ष आया था। हेस्टिंग्ज के नीचे यह बहुत दिनों तक काम कर चुका था और इस्तमरारी बन्दोबस्त में कार्नवालिस को इससे बड़ी सहायता मिली थी। हेस्टिंग्ज पर इन दिनों अभियोग चल रहा था। उसके कई एक मामलों से सर जान शोर का भी सम्बन्ध था। ऐसी दशा में बर्क की राय में उसको यह पद देना उचित न था। कम्पनी के किसी कर्मचारी को गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त करने के विरुद्ध कार्नवालिस भी था, परन्तु सर जान शोर से वह ऐसा प्रसन्न

जान शोर

था कि उसने स्वयं उसकी सिफारिश की। बहुत कहने सुनने पर सर जान शोर ने इस पद को स्वीकार किया। अक्तूबर सन् १७९३ में वह कलकत्ता पहुँचा।

मराठे और निज़ाम—इन दोनों में बराबर झगड़ा हुआ करता था। निजाम ने बहुत दिनों से मराठों को चौथ नहीं दी थी। इस पुराने हिसाब को साफ करने के लिए नाना फड़नवीस जोर देने लगा। निजाम का पहला दीवान रुकुनुद्दीन मराठों को किसी न किसी तरह समझाये रखता था, परन्तु यह बात नये 'मशीरुलमुल्क' में न थी। निजाम ने फ्रांसीसी रेमां की अध्यक्षता में एक सेना तैयार कर ली थी, इसलिए वह अब मराठों से डरता न था। नए दीवान की सलाह से उसने मराठों को एक पैसा तक देने से इनकार कर दिया और उलटे अपना बहुत सा हिसाब निकाल दिया। मशीरुलमुल्क ने खुले

मराठों की विजय—अँगरेजों से निराश होकर निजाम को मराठों से अकेले ही युद्ध करना पड़ा। सन् १७९५ में अहमदनगर जिले के खर्दा नामक स्थान पर मराठों की पूर्ण विजय हुई। नाना फड़नवीस के चरणों पर अपनी तलवार रखकर निजाम को सन्धि के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। उसने पेशवा के अपमान करनेवाले मशीरुलमुल्क को मराठों के हवाले कर दिया और दौलताबाद का क़िला, कुछ देश तथा बहुत सा रुपया नकद देने का वचन दिया। यह अन्तिम समय था जब पेशवा की पताका के नीचे सिन्धिया, होलकर, भोंसला और गायकवाड की सेनाएँ एकत्र हुई थीं। वास्तव में यह नाना फड़नवीस की नीति और योग्यता की विजय थी।

निजाम की रक्षा करने के लिए जो अँगरेज सेना रहती थी, उसने इस युद्ध में भाग नहीं लिया था। हैदराबाद लौटने पर निजाम ने अँगरेजी सेना को हटा दिया और वह फ्रांसीसी रेमाँ की सेना बढ़ाने लगा। हैदराबाद के दरबार से इस प्रकार अँगरेजों का प्रभुत्व उठते देखकर गवर्नर-जनरल को भी चिन्ता होने लगी। परन्तु निजाम में स्वतंत्र रहने का दम कहाँ था? इसी अवसर पर उसके एक लड़के ने बगावत कर दी, जिससे डरकर निजाम को अँगरेजी सेना फिर से वापस बुलानी पड़ी।

कर्नाटक और अवध—सन् १७९५ में कर्नाटक के वृद्ध नवाब मुहम्मदअली के मरने पर उसके बेटे उमदतुलउमरा के साथ अँगरेज एक नई सन्धि करना चाहते थे, जिसके अनुसार वे कर्नाटक के कुछ प्रसिद्ध क़िले, कुछ देश तथा मालगुजारी वसूल करनेवाले पालीगारों पर अधिकार चाहते थे। सर जान शोर के लिखने और मदरास के गवर्नर के बहुत कुछ समझाने पर भी नये नवाब ने इन शर्तों को स्वीकार नहीं किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अँगरेज महाजनों का उस पर क़र्ज़ा बढ़ने लगा। लार्ड कार्नवालिस ने अवध के नवाब वजीर आसफ़ुद्दौला को यह वचन दिया था कि ५० लाख रुपया सालाना से अधिक न माँगा जायगा और अँगरेजी सेना फिर न बढ़ाई जायगी। परन्तु सर जान शोर की राय में अवध में अँगरेजी सेना काफ़ी न थी, इसलिए उसने सेना बढ़ा देना निश्चित किया और

सादतअली के साथ सब बातें पहले ही तय हो गई थीं। अब उसके साथ एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार इलाहाबाद का किला अँगरेज़ों को मिल गया और उसकी मरम्मत के लिए आठ लाख रुपया भी लिया गया। गद्दी पर बिठलाने में सहायता करने के लिए कम्पनी ने १२ लाख रुपया लिया, वजीरअली को डेढ़ लाख की पेंशन दिलवाई और सालाना रकम को ५६ लाख से बढ़ाकर ७६ लाख कर दिया। नवाब वजीर की निजी सेना घटाकर ३५ हजार कर दी गई। किसी बाहरी शक्ति से सन्धि करने का उसे अधिकार न रहा।

सर हेनरी लारेंस का कहना है कि इस सन्धि में अवध की प्रजा का कुछ भी ध्यान न रखा गया, सबसे अधिक रुपया देनेवाले के हाथ वह बेच दी गई। 'अवध की मसनद' सर जान शोर के लिए एक प्रकार से कम्पनी की सम्पत्ति सी हो गई थी जिसको वह चाहे जिसके हाथ बेच सकता था। नवाब वजीर-अली के साथ व्यवहार करने में सर जान शोर ने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। उसका यह हस्तक्षेप पुरानी सन्धियों के सर्वथा विरुद्ध था। सर जान शोर का मत था कि अँगरेज़ों ने दया करके अवध का राज्य शुजाउद्दौला को लौटा दिया था। सन्धियों के अनुसार अवध का अँगरेज़ों के साथ चाहे जो कुछ सम्बन्ध हो, अवध की जनता और बाहरवालों की दृष्टि में अवध अँगरेज़ों ही के अधीन था।[1] इस अनुचित हस्तक्षेप के समर्थन में यह भी कहा जाता है कि इन दिनों अफ़ग़ानिस्तान के जमांशाह ने, जो प्रसिद्ध अहमद-शाह दुर्रानी का पोता था, भारतवर्ष पर आक्रमण किया था। वह लाहौर तक पहुँच गया था। ऐसी दशा में कम्पनी के राज्य की रक्षा के लिए अवध को दृढ़ करना और उसमें अँगरेज़ी सेना बढ़ाना बड़ा आवश्यक था। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि सिख और मराठों के 'दलदल नाले' को तोड़-कर जमांशाह का अवध तक पहुँचना साधारण बात न थी। पश्चिमोत्तर सीमा के पहाड़ों से आक्रमण करके विजय करने के दिन व्यतीत हो चुके थे।

---

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० २, पृ० १७१।

वह किसी प्रकार का पर्दा न करती थी, दरबार में बैठकर स्वयं सब मामले सुनती थी। इसका रहन-सहन सादा और स्वभाव धार्मिक था। भारतवर्ष के प्राय सभी बड़े बड़े तीर्थों में इसके बनवाये हुए मन्दिर और धर्मशाले अब तक मौजूद हैं। इसके दरबार में खुशामदों की दाल न गलती थी। सबके साथ न्याय करने और प्रजा को यथाशक्ति सुख पहुँचाने का वह बराबर प्रयत्न करती थी।

अहिल्याबाई

इसके विषय में सर जान मालकम लिखता है कि इसने राज्य का शासन बड़ी योग्यता से किया। इसके समय में बाहर से कोई आक्रमण नहीं हुआ। राज्य में पूर्ण शान्ति रही। प्रजा से लगान बहुत कम लिया जाता था और गाँवों के अधिकारों की बराबर रक्षा होती थी। अपने चारों ओर सबको सुख देना इसके जीवन का मुख्य उद्देश्य था। ‘‘इसकी उदारता केवल अपने राज्य के लिए ही न थी . भूमि के पशु, आकाश के पक्षी और नदियों की मछलियाँ भी इसकी दया के पात्र थीं।’ वह एक आदर्श हिन्दू विधवा की तरह अपना जीवन

व्यतीत करती थी। अपने राज्य में वह अवतार मानी जाती थी। निज़ाम और टीपू भी उसका आदर करते थे। धार्मिक जीवन में कट्टर होते हुए भी उसमें असहिष्णुता का नाम न था। हिन्दू मुसलमान दोनों ही उसकी रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे। "उसके चरित्र के विषय में खूब सोच-विचार करके भी यह कहना पड़ता है कि अपने परिमित क्षेत्र में सबसे पवित्र और आदर्श शासकों में से वह एक थी।"[1]

---

[1] माल्कम, ए मेम्वायर ऑफ सेंट्रल इंडिया, जि० १, पृ० १५७–९५।

परिच्छेद ७

साम्राज्य के लिए युद्ध

(१)

वेलेज़ली की नियुक्ति—सर जान शोर की नीति से असन्तुष्ट होकर इँग्लैंड-सरकार लार्ड कार्नवालिस को फिर से गवर्नर-जनरल बनाना चाहती थी, परन्तु लार्ड कार्नवालिस को, जिस तरह भारतीय सेना के अफसरों के साथ समझौता किया गया था, वह पसन्द न था। दूसरे इन दिनों आयर्लैंड की दशा बिगड़ रही थी। फ्रांस की घोर राज्य-क्रान्ति का प्रभाव वहाँ भी पड़ रहा था। इसलिए इँग्लैंड-सरकार ने उसको आयर्लैंड और वेलेज़ली को भारतवर्ष भेजना निश्चित किया। वेलेज़ली का जन्म आयर्लैंड में हुआ था। सन् १७८४ से वह इँग्लैंड की पार्लामेंट का मेम्बर

लार्ड वेलेज़ली

था। प्रधान सचिव पिट से उसकी बडी घनिष्ट मित्रता थी। भारतवर्ष की राजनीति से वह अपरिचित न था। सन् १७९३ मे वह 'बोर्ड ओफ कन्ट्रोल' में काम करता था। वहाँ भारतवर्ष सम्बन्धी सभी बातों का उसने पूर्ण रूप से अध्ययन किया था। बोर्ड के सभापति डुडाज को उसकी योग्यता मे बडा विश्वास था। अँगरेजी भाषा का वह अच्छा पडित था। पार्लामेंट में उसके भाषण बडे चाव से सुने जाते थे। वेलेजली की योग्यता देखकर पार्लामेंट के सभापति का कहना था कि वह यहाँ पिसा जाता है, उसके लिए विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता है। ऐसे व्यक्ति के लिए भारतवर्ष से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र कौन हो सकता था ?

इन दिनों इँग्लैंड की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बडी नाजुक हो रही थी। अमरीका के उपनिवेश उसके हाथ से जाते रहे थे। फ्रास की भीषण राज्य-क्रान्ति ने सारे यूरोप मे हलचल मचा दी थी। आयर्लैंड में अशान्ति फैल रही थी। अँगरेजी शक्ति के इस ह्रास को कहीं न कहीं पूरा करना था। कहा जाता है कि इँग्लैंड से चलने के पहले पिट ने वेलेजली को अच्छी तरह समझा दिया था कि पश्चिम मे जो हानि हुई है उसकी पूर्ति पूर्व मे ही हो सकती है। तेरह वर्ष पहले इडिया ऐक्ट में पिट ने ही यह सिद्धान्त निश्चित किया था कि भारतवर्ष में राज्यवृद्धि के लिए युद्ध करना इस (अँगरेज) "राष्ट्र की इच्छा, प्रतिष्ठा और नीति के विरुद्ध है"। परन्तु वही पिट अब इस सिद्धान्त का अनुयायी न रहा था। फ्रास से उठी हुई "स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता" की आवाज से अँगरेज राजनीतिज्ञों के मत में भारी परिवर्तन हो रहा था। राज्य-क्रान्ति की विकराल मूर्ति से स्वतन्त्रता का बर्क सरीखा उपासक भी भयभीत हो गया था।

भारतवर्ष की स्थिति—कहा जाता है कि सर जान शोर की नीति से भारतवर्ष मे भी एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई थी। निजाम का अँगरेजों पर से विश्वास उठ गया था। वह फ्रासीसी अफसरों की अध्यक्षता मे अपनी सेना बढा रहा था। मराठों से पराजित होकर और अँगरेजों से धोखा खाकर वह टीपू से नाता जोडने का प्रयत्न कर रहा थी। खर्दा की विजय से मराठों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। आगरा और दिल्ली में सिन्धिया का दबदबा था।

बरार से उड़ीसा तक भोसला का राज्य फैला हुआ था। गायकवाड़ गुजरात को दबाये बैठा था। मालवा में होलकर का आतंक जमा हुआ था। पूना-दरबार में नाना फड़नवीस का बोलबाला था। इन सब मराठा राजाओं के यहाँ सेना के बहुत से अफसर फ्रान्सीसी थे। इनकी अध्यक्षता में हिन्दुस्तानी सिपाहियों को पाश्चात्य रण-पद्धति की शिक्षा दी जा रही थी। पिछली हार से टीपू जल-भुन रहा था। उसके राज्य में फ्रान्सीसी अफसरों की संख्या सबसे अधिक थी। उसके दूत फ्रान्स, काबुल और कुस्तुनतुनियाँ दौड़ रहे थे। उत्तरी भारत में जमाँशाह के सहसा टूट पड़ने का भय हो रहा था। फ्रान्स का सेनापति वीरवर नेपोलियन मिस्र की तरफ बढ़ रहा था। टीपू के साथ उसका पत्र-व्यवहार हो रहा था। भिन्न भिन्न राज्यों के फ्रांसीसी अफसर बड़ी उत्सुकता से उसके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

नेपोलियन

भारतवर्ष में फ्रांसीसियों के इस नये प्रभुत्व से इंग्लैंड-सरकार को बड़ी चिन्ता हो रही थी। इसको नष्ट करने के लिए वेलेजली पूर्ण रूप से उद्युक्त था। वह फ्रांसीसियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। उनकी निन्दा में उसने कई एक कविताएँ रची थीं।

वेलेजली का आगमन—इस तरह भारतवर्ष में अँगरेज़ी राज्य की वृद्धि और फ्रांसीसियों के नये प्रभुत्व का नाश ये दो मुख्य उद्देश्य पहले ही से निश्चित हो गये थे। इनकी प्राप्ति के लिए केवल उपाय सोचना बाक़ी था। नवम्बर सन् १७९७ में वेलेजली इंग्लैंड से रवाना होकर फरवरी सन् १७९८ में अन्तरीप 'गुडहोप' पहुँचा। यहाँ मदरास के भूतपूर्व गवर्नर तथा कुछ अँग-

रेज अफसरों से, जो टीपू के कैदी रह चुके थे, उसकी भेंट हुई, जिनसे उसको मैसूर का बहुत कुछ हाल मालूम हो गया। कर्क पैट्रिक पहले सिन्धिया और बाद को निजाम के दर्बार में रेजीडेंट रह चुका था। वह इन दोनों दरबारों में फ्रांसीसियों के प्रभुत्व को अच्छी तरह जानता था। उससे भी वेलेजली को बहुत सहायता मिली और उसकी प्रसिद्ध 'सहायक प्रथा' के मुख्य अंग यहीं तय हो गये। मई सन् १७९८ में वह कलकत्ता पहुँचा। भारतवर्ष के मुख्य राजाओं में सबसे निर्बल निजाम ही था, इसलिए सबसे पहले वेलेजली ने उसी को सहायक प्रथा का शिकार बनाना निश्चित किया।

निज़ाम के साथ व्यवहार—खर्दा के युद्ध के समय से अँगरेजों पर से निजाम का विश्वास उठ गया था, इसका उल्लेख किया जा चुका है। अपने बेटे के विद्रोह करने पर उसने अँगरेजी सेना को फिर से बुला लिया था, यह ठीक है, पर उसका ध्यान फ्रांसीसी अफसर रेमाँ की सेना को बढाने की ओर ही अधिक था। रेमाँ की पल्टन में १४ हजार सिपाही और ३० तोपें थीं। इसका खर्चा चलाने के लिए उसने कर्नाटक की सीमा के कुछ जिले दे रखे थे। लार्ड वेलेजली की दृष्टि में इस पल्टन से कम्पनी को बडा भय था। कहा जाता है कि टीपू की ओर से फ्रांसीसी एक सेना एकत्र कर रहे थे। निजाम के फ्रांसीसी अफसर भी उनका साथ देना चाहते थे। ऐसी दशा में टीपू के साथ लडाई छिडने पर निजाम से किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं की जा सकती थी। शान्ति के समय में भी फ्रांसीसी अफसर निजाम से फ्रांस की शक्ति तथा सफलता की प्रशंसा किया करते थे और "अँगरेजों के आचरण, शक्ति तथा नियत की हर तरह से बुराई करते थे।"

इसलिए उसने निजाम को समझा बुझाकर इस पल्टन का तोडना निश्चित किया। यह काम हैदराबाद के नये रेजीडेंट कर्नल कर्क पैट्रिक (मेजर कर्क पैट्रिक के भाई) और जान मालकम को सौंपा गया। दूसरी ओर मदरास के गवर्नर हैरिस को सेना तैयार रखने की आज्ञा दे दी गई।

निजाम जानता था कि रेमाँ की पल्टन तोडने का परिणाम यह होगा कि उसको सदा अँगरेजों के अधीन रहना पडेगा, परन्तु वह विवश था। उसको

मराठों का भय था। इनसे रक्षा करने का अब इसको विश्वास दिलाया जा रहा था। चतुर कर्क पैटिक ने इसके दीवान को अपने पक्ष में मिला लिया था। यह वही दीवान था जिसने निजाम को मराठों से भिड़ा दिया था। अन्त में लाचार होकर सितम्बर सन् १७९८ में निजाम को हैदराबाद की नई सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस सन्धि के अनुसार यह निश्चित हुआ कि अँगरेज अफसरों की अध्यक्षता में ६ हजार सिपाहियों की एक सेना निजाम की रक्षा के लिए रहा करेगी। इसका खर्चा २४ लाख रुपया सालाना निजाम को देना पड़ेगा। इस सेना के पहुँचने पर निजाम फ्रांसीसी अफसरों को निकाल देगा और उनकी पल्टनों को इस तरह छिन्न-भिन्न कर देगा कि "उनके अस्तित्व का कोई निशान बाकी न रह जाय।" बिना कम्पनी की अनुमति के किसी फ्रांसीसी या यूरोप के अन्य निवासी को निजाम न तो नौकर रख सकेगा और न अपने राज्य में बसने की इन्हें आज्ञा दे सकेगा।

फ्रांसीसी पल्टन तोड़ने की आज्ञा देने में निजाम हिचकिचा रहा था, पर अन्त में इसको यह आज्ञा भी देनी पड़ी। अँगरेजी सेना ने पल्टन की छावनी को घेर लिया। रेमों मर चुका था। फ्रांसीसी अफसर आपस ही में लड़-झगड़ रहे थे। उन्होंने बिना लड़े-भिड़े अपने को अँगरेजों के हवाले कर दिया। सिपाहियों ने पहले तो विरोध किया, परन्तु मालकम के समझाने पर उन्होंने भी हथियार डाल दिये। वेलेजली की नीति की यह पहली विजय हुई। बात की बात में उसने १४ हजार सैनिकों की शक्ति को नष्ट कर डाला और निजाम को सदा के लिए अँगरेजों के अधीन बना लिया। इंग्लैंड-सरकार और कम्पनी के संचालकों ने इसके लिए उसकी बड़ी प्रशंसा की।

टीपू पर सन्देह—कलकत्ता पहुँचने पर, जून सन् १७९८ में, मारिशस (मिर्च के टापू) के फ्रांसीसी गवर्नर का एक घोषणा-पत्र वेलेज़्ली के हाथ में पड़ा था। इसमें टीपू के दूतों के आने का उल्लेख करते हुए, अँगरेजों के विरुद्ध उसकी सेना में भरती होने का अनुरोध किया गया था। वेलेज़्ली की दृष्टि में अँगरेजों के प्रति टीपू की शत्रुता का यह स्पष्ट प्रमाण था। इसका कहना था कि 'फ्रांस के टीपू' में दूतों को भेजने का "भारतवर्ष में अँगरेज जाति

को बाहर निकालने की प्रबल इच्छा'' के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य न था। इस पर इँग्लैंड से 'गुप्त कमेटी' ने लिख भेजा कि यदि वास्तव में यह बात ठीक है, तो टीपू की ओर से लडाई छिडने की बिना प्रतीक्षा किये हुए ही उस पर आक्रमण कर देना उचित है। पर इसका ध्यान रखना चाहिए कि बिना ''नितान्त आवश्यकता'' के युद्ध न छेडा जाय। यह पत्र उसको अक्तूबर मे मिला, परन्तु वेलेजली इस समय तक लडाई के लिए तैयार न था, इसलिए वह चुप रहा।

फ्रांसीसी गवर्नर के घोषणा-पत्र मिलने पर ही वेलेजली ने मदरास-सरकार को सेना एकत्र करने के लिए लिख दिया था। वह मराठो से भी बराबर पत्र-व्यवहार कर रहा था और निजाम को नई सन्धि मे जकडने के प्रयत्न मे लगा था। जब उसको यह ज्ञात हो गया कि मराठे अपने आपस के झगडो के कारण उसके विरुद्ध टीपू का साथ न देगे, जब निजाम के साथ नई सन्धि हो गई, बम्बई तथा मदरास की सेनाएँ पूर्ण रूप से तैयार होगईं और काफी रुपये का कर्ज द्वारा प्रबन्ध हो गया, तब टीपू से बेधडक बातचीत करने में उसके लिए कोई रुकावट न रह गई। युद्ध की धमकी देते हुए उसने निजाम के ढंग की सन्धि करने के लिए टीपू को लिख भेजा।

सेना का स्वयं निरीक्षण करने के लिए वह कलकत्ता से मदरास की ओर चल पडा। जनवरी सन् १७९९ मे मदरास पहुँचने पर उसको टीपू का उत्तर मिला। इसमे उसने सेना की तैयारी और लडाई की धमकी पर आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखा कि मैंने अपना कोई दूत मोरिशस नहीं भेजा था। मैसूर के कुछ व्यापारी वहाँ गये थे। उसी समय पर वहाँ के गवर्नर ने अँगरेजो से झगडा कराने के लिए उस घोषणा-पत्र को निकाल दिया, जिससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। वहाँ से ४० फ्रांसीसी आये थे, जिनमें से कुछ मेरे यहाँ नौकर हो गये और बाकी चले गये। फ्रांसीसियो पर मुझे स्वयं विश्वास नहीं है, वे ''बुराई और दगाबाजी से भरे हुए है''।[1] अपनी मित्रता का विश्वास दिलाते हुए, अन्त मे उसने लिखा कि नई सन्धि की कोई आवश्यकता नहीं

---

[1] वेलेजली, डेसपैचेज, स० मार्टिन, जि० १, पृ० ३८१–८३।

जान पड़ती। इस उत्तर से वेलेजली को सन्तोष नहीं हुआ और ता० ३ फरवरी को इस पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी गई।

मैसूर का अन्तिम युद्ध—सन् १७९२ की सन्धि के विरुद्ध टीपू ने कोई काम नहीं किया था। रुपये की बड़ी रकम को उसने समय से चुका दिया था। फ्रासीसियो से उसका सम्बन्ध अवश्य था, पर इसमे अँगरेजो की सलाह लेने की इसके लिए आवश्यकता न थी। वह स्वतंत्र शासक था और चाहे जिसके साथ सम्बन्ध रख सकता था। वेलेजली का अनुमान था कि फ्रासीसियो के साथ मिलकर टीपू अँगरेजो की शक्ति को नष्ट करना चाहता था। इसके समर्थन में श्रीरगपट्टन के किले मे मिले हुए नेपोलियन के कुछ पत्रो पर वह जोर देता है। परन्तु जिस तरह अँगरेजो को टीपू का भय था, उसी तरह टीपू को अँगरेजो का भय हो सकता था। बगाल, अवध और कर्नाटक का इतिहास उससे छिपा नहीं था। निजाम अँगरेजो के सर्वथा अधीन था। मराठो की नीति पर उसको विश्वास न था। ऐसी दशा मे यदि वह फ्रासीसियो से सम्बन्ध जोड़ता था, तो इसमें उसका कौन सा दोष था? किसी के साथ सन्धि हो जाने पर उसकी शर्तों के विरुद्ध जब कोई घटना होती है, तभी प्राय युद्ध किया जाता है। केवल भय के अनुमान पर युद्ध नहीं किया जाता है। यदि ऐसा होने लगे तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कभी स्थापित ही नहीं रह सकती है।

यदि वेलेजली और उसके समर्थको की यह बात मान भी ली जाय कि टीपू फ्रासीसियो के साथ मिलकर अँगरेजो को निकालना चाहता था, तब भी यह प्रश्न होता है कि क्या ऐसा होना सम्भव था? टीपू के पास सौ डेढ़ सौ से अधिक फ्रासीसी अफसर न थे। फ्रासीसी उसकी अधिक सहायता कर सकेंगे, इसमे स्वय वेलेजली को सन्देह था। अक्तूबर सन् १७९८ के पत्र मे वह लिखता है कि मुझे विश्वास है कि टीपू को जितनी फ्रासीसी सहायता मिल रही है, उससे जब तक अधिक न मिलेगी, वह आक्रमण करने का साहस न करेगा। साथ ही साथ मुझे यह भी विश्वास है कि इँग्लेंड की सरकार और हमारा जहाजी बेड़ा फ्रासीसियो को इस ओर न आने देंगे

का भरपूर प्रयत्न करेगा।[1] फिर इस समय फ्रांसीसी सहायता की तो कोई सम्भावना ही न थी। नेपोलियन की जहाजी सेना नाइल के युद्ध में हार चुकी थी और उसके बेडे को नेल्सन नष्ट कर चुका था। नेपोलियन का ध्यान इन दिनों यूरोप की तरफ था और एशियाई झगडों में पडने के लिए उसके पास समय न था।

रेमों की पल्टन टूटने से निजाम पंगु हो ही चुका था, मराठों को आपस के झगडों से ही छुट्टी न थी, अकेले टीपू में अँगरेजों का सामना करने की सामर्थ्य न थी। कर्नल बीटसन का अनुमान था कि "पिछली लडाई के समय से टीपू की सेना की संख्या कम हो गई है और व्यवस्था भी बिगड गई है। अब उस पर सेना को विश्वास नहीं है। उसकी आर्थिक दशा में भी बड़ा गडबड है और मन्त्रियों में दलबन्दी हो गई है। फ्रांसीसियों से सहायता मिलने की आशा न होने से, जमांशाह के वापस चले जाने से, हैदराबाद तथा पूना के दरबारों में उसकी चालों की असफलता से और हमारे सेना-सम्बन्धी विस्तृत प्रबन्ध, तेजी तथा असामान्य जोर से, उसकी हिम्मत हार गई है।"[2] फिर भला ऐसे शत्रु से कौन सा भय था? यह अनुमान ठीक न हो तब भी इतना तो मानना ही पडेगा कि इस समय टीपू के साथ युद्ध "नितान्त आवश्यक" न था। वास्तव में बात यह थी कि अँगरेज हर तरह से प्रबल थे और टीपू को दबाने का यह "अच्छा अवसर" था। अपने "गुप्त भावों" को प्रकट करते हुए, ता० १३ दिसम्बर सन् १७९८ के पत्र में वेलेजली ने इसे स्वयं स्वीकार किया है।[3]

कहा जाता है कि वह वेलेजली की शर्तों पर सन्धि के लिए राजी न था, इसलिए युद्ध के सिवा और कोई चारा न था। ये वे ही शर्तें थीं, जिन पर निजाम के साथ सन्धि की गई थी। इनके अतिरिक्त हरजाने की एक बडी रकम और कुछ भूमि के बदले में कनाडा प्रान्त भी मांगा जाता था, जिसमें समुद्र

---

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० १, पृ० २७५।

२ बीटसन, वार विद टीपू सुलतान, सन् १८००, पृ० ५७।

३ रेनियर के नाम पत्र, डेसपैचेज, जि० १, पृ० ३६८–६९।

से टीपू का कोई सम्बन्ध न रह जाय। इन शर्तों को स्वीकार करके स्वाभिमानी टीपू जान-बूझकर अपने आप पैरों में बेड़ियाँ न डालना चाहता था।
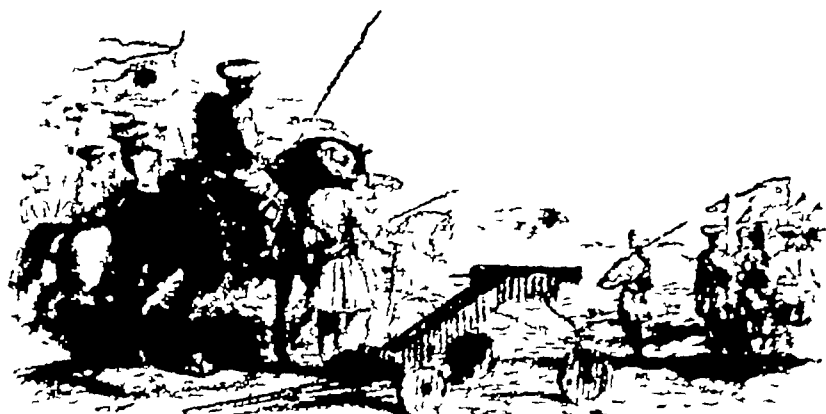
टीपू का तोपखाना

इस तरह के समर्थन से तो यह स्पष्ट कह देना कहीं अच्छा था कि टीपू वेलेजली की आँखों में खटकता था। उसकी शक्ति को नष्ट करके कम्पनी के राज्य को दृढ़ और विस्तृत बनाना उसका मुख्य उद्देश्य था। यह केवल अनुमान ही नहीं है, कलकत्ता पहुँचते ही जितनी शीघ्रता से युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी गई थीं, वे ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। टीपू को अपनी बात समझाने के लिए भी पूरा समय नहीं दिया गया और पहले से ही छिपे छिपे युद्ध की तयारियाँ की जाने लगीं। जिन अफसरों को कैद करके टीपू "बन्दर की तरह" नचाया करता था, उनकी सलाह से टीपू का नाश भारतवर्ष पहुँचते ही, वलेजली ने निश्चित कर लिया था। श्रीरंगपट्टन के पतन पर वेलेज़्ली को बधाई देते हुए, ता० १७ मई सन १७९९ के पत्र में, सर श्रोलार्ड क्लार्क लिखता है कि इस तारीख के ठीक १२ महीने पूर्व शासनभार लेते समय, टीपू को नीचा दिखलानेवाली आपकी बात मुझे स्मरण है।[1] इन सब बातों

को ध्यान में रखते हुए, वेलेजली सदृश सिद्ध-हस्त लेखक के योग्यतापूर्ण और जोरदार समर्थन[1] में कितना तत्त्व है, इसको बतलाने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

टीपू का अन्त—लड़ाई दो ही महीने में समाप्त हो गई। अँगरेजों की पूरी तैयारी थी। टीपू की प्रजा, उसके अफ़सर तथा मैसूर के हिन्दू राज-घराने को भडकाने के लिए, गवर्नर-जनरल के भाई आर्थर वेलेजली की अध्यक्षता मे एक कमीशन पहले से ही काम कर रहा था।[2] टीपू अकेला था, बम्बई से बढ़ती हुई स्टुआर्ट की सेना को वह रोक न सका। मदरास की सेना ने उसके साथ मिलकर टीपू को मलावली नामक स्थान पर हराया। वहाँ से हटकर टीपू अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टन में चला आया। अँगरेजी सेना ने इसका घेरा डाल दिया। टीपू ने एक बार फिर सन्धि का प्रयत्न किया, परन्तु अब वेलेजली पिछली शर्तों के अतिरिक्त आधा राज्य, दो करोड नकद और मुख्य अफसर तथा टीपू के चारो लडको को जमानत मे मांगता था।[3] इस सन्धि के अपमान से टीपू ने युद्ध मे प्राण देना ही उचित समझा। ता० ४ मई के युद्ध में अपने क़िले के फाटक पर बडी वीरता से लडते हुए वह मारा गया। इस तरह हैदर के राज्य का अन्त हो गया और अँगरेजों की पूर्ण विजय हुई।

युद्ध के समय में प्रजा की रक्षा करने के लिए गवर्नर-जनरल ने घोषणा निकाली थी, परन्तु उसका कुछ भी ध्यान न रखकर सेना ने नगर को खूब लूटा। आर्थर वेलेजली ने सिपाहियो की कोडो से खबर लेकर जैसे तैसे शान्ति स्थापित की। क़िले में अँगरेजो को बहुत सी युद्ध-सामग्री के अतिरिक्त एक करोड पौंड से अधिक का सामान मिला। श्रीरंगपट्टन का विशाल नगर आजकल उजाड है।

---

१ 'सीक्रेट डिपार्टमेंट मिनिट' ता० १२ अगस्त सन् १७९८, डेसपैचेज, जि० पृ० १५९-२०८।

२ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० १, पृ० ४४२-४८।

३ माल्कम, हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, जि० १, पृ० २२८।

टीपू का चरित्र—अपने पिता के प्रतिकूल वह फारसी का अच्छा विद्वान् था। इसको उर्दू और कनाड़ी का भी ज्ञान था। हस्तलिखित

टीपू का महल

पुस्तकों का इसके पास एक अच्छा संग्रह था। इसमें कला, विज्ञान, गणित, ज्योतिष, साहित्य सभी विषयों के ग्रन्थ थे। यह पुस्तकालय कलकत्ता भेज दिया गया। वह अपने को सब विषयों का ज्ञाता मानता था। नये नये नाम रखने का इसको बड़ा शौक था। कई स्थानों के नाम इसने बदल दिये थे। साल और महीनों के भी इसने नये नाम रखे थे। लिखने में इसका हाथ खूब चलता था। हर एक कागज पर वह अपने हाथ से बड़े बड़े हुक्म लिखता था।

यह योजना कागज पर ही रह गई। हर एक काम को वह अपनी आँख से देखता था और सवेरे से शाम तक बराबर काम करता था। उस समय के अन्य मुसलमान शासकों की तरह वह अपना समय आरामतलबी में व्यतीत न करता था। उसके दफ्तर में सब कागजात ठीक ढग से रखे जाते थे। हैदरअली की तरह उसका रहन सहन तो सादा था, पर उसमें घमड की मात्रा बहुत बढी हुई थी। वह अपने को 'सुलतान' कहता था और कुछ दिनों तक उसने एक नया सिक्का भी चलाया था।

हिन्दू राजाओं के समय से जैसा कुछ शासन चला आ रहा था, उसमें उसने अधिक हस्तक्षेप नहीं किया था। समय पडने पर वह रुपया लेने में सख्ती जरूर करता था, पर साधारणत प्रजा सुखी थी और राज्य में खेती का अच्छा प्रबन्ध था। शराब का बनाना और बेचना उसने अपने राज्य में बन्द कर दिया था। मलाबार में बहुपति-विवाह की प्रथा को रोकने का भी उसने प्रयत्न किया था। मेजर डिरोम का कहना है कि उसका शासन कडा और मनमाना अवश्य था, पर वह एक योग्य शासक की तरह प्रजा का पालन भी करता था। जिनको वह अपना शत्रु समझता था, उन्हीं के साथ उसका व्यवहार कठोर होता था।[1] मूर ने भी माना है कि उसके राज्य की दशा देखते हुए यह नहीं जान पडता था कि प्रजा पर अत्याचार हुआ है।[2]

इस्लाम धर्म का वह पक्का अनुयायी था। अपने राज्य को वह 'खुदा-दाद' (ईश्वर-दत्त) कहा करता था। कट्टर मुसलमान होते हुए भी उसका विश्वासपात्र दीवान पुर्णिया एक हिन्दू था। अपने पिता की तरह वह भी मन्दिरों को दान देता था। विपत्ति के समय पर पडितो से प्रार्थना करवाने में भी उसको विश्वास था। ईसाइयो के साथ उसका व्यवहार कभी कभी अवश्य कठोर होता था, परन्तु इसके कारण धार्मिक की अपेक्षा अधिकतर

१ मेजर डिरोम, कैम्पेन विद टीपू सुलतान, सन् १७९३, पृ० २५०।

२ मूर, नैरेटिव, पृ० २०१।

राजनैतिक थे। अंगरेज इतिहासकारों ने इसकी निर्दयता और कठोरता को बहुत बढ़ा चढ़ाकर लिखा है। मुसलमानों की दृष्टि में वह 'शहीद' था। हैदरअली के सुन्दर मकबरे में वह भी दफन किया गया। इसकी कब्र पर मरने की तारीख
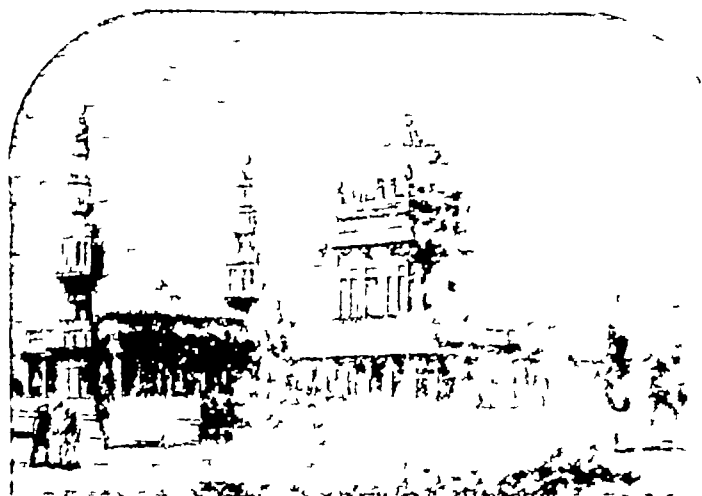
हैदर और टीपू का मकबरा

बतलाते हुए ये शब्द लिखे हुए हैं—"नूर इस्लाम व दीन अज दुनिया रफ्त" (दुनिया से इस्लाम और दीन का नूर उठ गया)।

राज्य का बटवारा—वेलेजली की राय में युद्ध के नियमों के अनुसार टीपू का राज्य विजेताओं का था और जिस तरह चाहें उसके बटवारा का उनको अधिकार था। निजाम और अंगरेज इसको बराबर बराबर बाँट सकते थे, पर वेलेजली का कहना था कि ऐसा करने से निजाम की शक्ति बहुत बढ़ जाती। सन् १७९२ के समझौता के अनुसार मराठों को तिहाई भाग देना भी इसकी राय में उचित न था, क्योंकि मराठों ने युद्ध में कोई सहायता नहीं की थी। तब भी वे यदि नई सन्धि करने के लिए तयार हों तो उनको कुछ जिले दे देने में कोई हानि न थी। इन सब बातों को सोच-

विचार कर वेलेजली ने मैसूर के एक छोटे राज्य को बनाये रखना निश्चित किया। बाक़ी राज्य के बटवारे में कनाडा, कोयमबट्टर, दारापुरम, वयनाड, श्रीरगपट्टन और मलाबार तट के कुछ जिले कम्पनी को मिले। इस तरह अरब सागर से लेकर बंगाल की खाडी तक कुल समुद्र-तट अँगरेजों के अधिकार में आ गया। कम्पनी से कुछ कम हिस्सा निजाम को मिला। इसमें मैसूर राज्य के उत्तर-पूर्व के जिले थे। निजाम से आधा हिस्सा सहायक सम्बन्ध स्वीकार करने पर मराठों को देना निश्चित हुआ, परन्तु इन गये बीते जिलो के बदले में मराठो ने अपनी स्वाधीनता बेचने से इनकार कर दिया। इस पर ये जिले भी निजाम और अँगरेजो ने आपस में बाँट लिये। सैनिक दृष्टि से प्रसिद्ध गढ और स्थान अँगरेजो के ही हाथ में रहे, बटवारे में वेलेजली ने इसका बडा ध्यान रखा।

मैसूर का राज्य—बचे हुए आधुनिक मैसूर राज्य के सम्बन्ध में टीपू के बेटो का कुछ भी ध्यान न रखा गया। वेलेजली की राय में अँगरेजो के साथ उनकी मित्रता असम्भव थी। उनको टीपू से शिक्षा मिली थी, जो अँगरेजों का घोर शत्रु था। वे टीपू की मृत्यु और पराजय के अपमान को कभी भूल न सकते थे। उनको राज्य देने से "मैसूर की शक्ति कमजोर हो जाती, पर नष्ट न होती", वे सदा स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया करते। इसलिए उसने टीपू के बेटों को पेंशन देकर विल्लौर भेज दिया और मैसूर की गद्दी पर हिन्दू राज-घराने के एक पांच वर्ष के बालक को बिठला दिया। इस सम्बन्ध में वह कम्पनी के सचालको को लिखता है कि इससे उनकी "उदारता" का परिचय मिलेगा और मैसूर का घराना सदा उनका ऋणी तथा कृतज्ञ रहेगा। मैसूर के हिन्दू राजाओं को हैदर और टीपू के क्रूर व्यवहार और उनके अन्त का बराबर ध्यान रहेगा। "वे न कभी अपने शत्रुओ का साथ देंगे और न कभी अँगरेजो के विरुद्ध सिर उठावेंगे।"[१] अँगरेजों की इस "उदारता" के विषय में इतिहासकार ग्रिविल का कहना है कि मैसूर के इस हिन्दू राज्यनिर्माण द्वारा वेलेजली,

---

१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० २, पृ० ७२-१०६।

मराठों और निजाम को अधिक भूमि मिलने से, वंचित रखना चाहता था। यदि यह राज्य स्थापित न होता तो कम से कम निजाम को आधा हिस्सा अवश्य ही देना पड़ता।[1] इस प्रबन्ध से निजाम की शक्ति भी न बढ़ने पाई और मैसूर का राज्य अँगरेजों के सर्वथा अधीन हो गया।

नई सन्धि के अनुसार मैसूर राज्य को सहायक प्रथा की सब शर्तें माननी पड़ीं। वेलेजली दोहरे शासन के दोषों से अनभिज्ञ न था इसलिए उसने मैसूर का शासन पुराने योग्य दीवान पुर्णिया के हाथ ही में छोड़ दिया। साथ ही साथ यह तय कर लिया कि शासन की देख-भाल और आवश्यकता पड़ने पर इसको अपने हाथ में ले लेने का अधिकार अंगरेजों को रहेगा। बन्दोबस्त के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया जिसमें गवर्नर-जनरल के दोनों भाई आर्थर और हेनरी थे। इस कमीशन के टूटने पर मैसूर दरबार में अँगरेज रेजीडेंट रख दिया गया और सहायक सेना का आर्थर वेलेजली सेनापति बना दिया गया। सेना के खर्चे के लिए कुछ भूमि अलग कर दी गई।

पुर्णिया

इस तरह सन्धि के नाम से मैसूर की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया। पुर्णिया ने प्रजा की दशा सुधारने का अच्छा प्रयत्न किया। उसने बड़े बड़े तालाबों की मरम्मत करवाई और लगान कम करके तथा कहीं कहीं [illegible] देकर गरीब किसानों की सहायता की।

हैदराबाद की सहायक सन्धि—मैसूर-युद्ध के पहले निजाम के साथ जो सन्धि की गई थी, उससे वेलेजली सन्तुष्ट न था। उसने उसको

[1] [illegible] हिस्ट्री ऑफ दि डेक्कन, जि० [illegible], पृ० [illegible]।

सहायक प्रथा का पूर्ण रूप से अनुसरण न किया गया था। इसलिए अक्तूबर सन् १८०० में एक नई सन्धि की गई। इस सन्धि के अनुसार मैसूर के बटवारे से निजाम को जो कुछ भूमि मिली थी, वह सब सहायक सेना का खर्चा चलाने के लिए ले ली गई। अन्य राज्यों के साथ बिना कम्पनी से पूछे हुए सम्बन्ध जोडने का अधिकार निजाम को न रहा और उनमें से किसी के साथ झगडा होने पर कम्पनी को पच बनाना निजाम को स्वीकार करना पडा।

कर्नाटक का अन्त—कार्नवालिस के बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी नवाब उमदतुलउमरा कर्नाटक का शासन कम्पनी के हाथ में देने के लिए राजी नहीं हुआ था, इसका उल्लेख किया जा चुका है। टीपू से लडाई छिडने पर वेलेजली ने इसके लिए फिर से प्रयत्न किया। उसने बहुत समझाया कि क़र्ज लेकर बराबर क़िस्त अदा करने में उसका राज्य नष्ट हो रहा है। कम्पनी के हाथ में शासन दे देने से वह सब झगडो से बच जायगा। परन्तु नवाब वेलेजली के पजे में न आया, वह अपनी ही बात पर डटा रहा। युद्ध समाप्त होने पर कहा जाता है कि टीपू के कागजात में उसके और उसके बाप मुहम्मद-अली के कई एक पत्र मिले, जिनसे पता चला कि वे दोनो अँगरेजो के विरुद्ध टीपू के साथ सम्बन्ध जोडना चाहते थे। युद्ध में भी नवाब से किसी प्रकार की सहायता न मिली थी। इन बातो की जाच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया। उसकी रिपोर्ट मिलने पर वेलेजली की राय में अँगरेजों के प्रति नवाब की शत्रुता सिद्ध हो गई और उसने "सम्भव हो तो सन्धि द्वारा नहीं तो घोषणा द्वारा" कर्नाटक का शासन ले लेना निश्चित कर लिया। इस कार्य के लिए वह स्वय मदरास जाना चाहता था, परन्तु अवध के झगडो में फँसे होने के कारण यह काम मदरास के गवर्नर लार्ड क्लाइव को सौपा गया।

इन दिनो नवाब उमदतुलउमरा बहुत बीमार था। उसकी हालत खराब होने पर महल में गोरो का पहरा कर दिया गया। मृत्युशय्या पर पडे हुए नवाब ने इस अपमान का विरोध किया, परन्तु उसको समझा दिया गया कि गड

नष्ट होने का भय था, इसलिए ऐसा किया गया। नवाब के मरते ही, कर्नाटक के शासन का क्या प्रबन्ध होगा, इस पर परामर्श होने लगा। उसके १८ वर्ष के बेटे अलीहुसेन को नई सन्धि स्वीकार करने के लिए "एकान्त में" लार्ड क्लाइव ने कई बार बहुत कुछ फुसलाया, पर वह राजी न हुआ। इस पर उसके सिपाही गिरफ्तार कर लिये गये और उसका चचेरा भाई अज़ी-मुद्दौला मसनद पर बिठला दिया गया। नई सन्धि द्वारा कर्नाटक का कुल शासन कम्पनी के हाथ में आ गया और अजीमुद्दौला केवल नाम के लिए नवाब रह गया।

कर्नाटक का अँगरेजों से बहुत पुराना सम्बन्ध था। पहले पहल मुहम्मद-अली ही का साथ देकर अँगरेजों ने फ्रान्सीसियों से अपनी रक्षा की थी। हैदर और टीपू नवाब के घोर शत्रु थे। अँगरेजों के विरुद्ध उनकी सहायता करना अधिक सम्भव नहीं था। यदि ऐसा हो भी, तो बेचारे अलीहुसेन का क्या दोष था? दोषी था उसका बाप उमदतुलउमरा, जिस पर कोई अभियोग नहीं चलाया गया था। गवर्नर-जनरल की राय में बाकायदा अभियोग चलाने की कोई आवश्यकता न थी, क्योंकि शत्रुता का प्रमाण मिलने पर उस तरह से व्यवहार करने का राज्यों का स्वयंसिद्ध अधिकार है।[1] कमीशन की रिपोर्ट मिलने के पहले ही वेलेजली ने कर्नाटक के सम्बन्ध में अपनी राय कायम कर ली थी। नवाबों पर जो अपराध लगाये गये थे, उनकी पूरी तरह जाँच भी नहीं की गई थी। विल्सन को भी मानना पड़ा है कि टीपू के नाम उनके पत्रों से ब्रिटिश सरकार के प्रति उनका "वास्तविक विश्वासघात सिद्ध न होता था। तिस पर भी जो दण्ड दिया गया, वह तो हर तरह से कठोर था।[2]

कर्नाटक के शासन में बहुत से दोष थे, प्रजा पर अत्याचार होता था, शासक व्यसनी थे, यह सब ठीक है। पर इसके लिए अधिकतर जिम्मेदार कौन था? नवाब के हाथ में कोई शक्ति न थी, सेना अँगरेजों की थी, जिसके खर्चे की कोई

हद न थी। भेटों और दावतों की भरमार थी। समय पर किस्त अदा न करने से शासनाधिकार छीन लेने का भय दिखलाया जाता था, जिसके कारण तीन रुपया सैकडा माहवार तक के सूद पर नवाब को अँगरेज महाजनों से कर्ज लेना पडता था।[1] महाजनों को सन्तुष्ट रखने के लिए मालगुजारी वसूल करने का ठेका उन्हीं को दिया जाता था। प्रजा से उनका कोई सम्बन्ध न था, इसलिए उनको तरह तरह के अत्याचार करने में भी किसी प्रकार का संकोच न होता था। नवाब की ओर से जरा सी भी स्वतन्त्रता कम्पनी की आँखों में खटकती थी। इँग्लेंड के राज-घराने के साथ नवाबों के पत्र-व्यवहार से वेलेजली बहुत चिढ़ता था। उनकी धृष्टता, अँगरेजों के प्रति शत्रुता और प्रजा के ऊपर अत्याचारों को दिखलाते हुए, उसने अपनी नीति का बड़े जोरों से समर्थन किया है। इस पर एक इतिहासकार का कहना है कि भेड़ का वध करने के लिए शेर अपना हर समय समर्थन कर सकता है।

तंजोर का झगड़ा—राजा तुलजाजी के कोई सन्तान न थी। मरते समय उसने सरफोजी नाम के एक लडके को गोद लिया था। जिस ढग से वह गोद लिया गया था, उसमें कुछ झगड़ा था, इसलिए अँगरेजों की सलाह से तुलजाजी का भाई अमरसिंह गद्दी पर बिठला दिया गया। उसके साथ सन् १७९२ की सन्धि करके अँगरेजों ने उसको तंजोर का राजा मान लिया। बाद में "पंडितों की सलाह" से पता लगा कि गद्दी का अधिकारी वास्तव में तुलजा जी का दत्तक पुत्र सरफोजी है। इसके अतिरिक्त अमरसिंह का शासन भी ठीक नहीं है। इस "अन्याय" को दूर करने के लिए अब सरफोजी को गद्दी पर बिठलाना निश्चित किया गया। सरफोजी की शिक्षा एक पादडी की निगरानी में हुई थी। वह वेलेजली की सब शर्तों को मानने के लिए तैयार था। कर्नल बेयर्ड की राय में राजा अमरसिंह एक योग्य शासक था और उसने अँगरेजों के विरुद्ध कोई काम नहीं किया था। वेलेजली की शर्तों को मान करके वह अपनी बची-खुची स्वतन्त्रता को खोना न चाहता था, यही

१ हटन, वेलेजली, पृ० ५७।

उसका सबसे बड़ा अपराध था। बहुत दिनों से अँगरेज रेजीडेंट उसको हाथ में लाने के लिए साम, दाम, दंड, भेद से काम ले रहा था। सफलता न होने पर उसको गद्दी से उतारने के सिवा और कोई उपाय न था। वेलेजली की राय में उसके शासन की जाँच करने के लिए किसी कमीशन के नियुक्त करने की आवश्यकता न थी। इस जाँच-पड़ताल से "तंजोर की प्रजा के सुख और समृद्धि में बड़ी बाधा पड़ती।" इस तरह राजा अमरसिंह गद्दी से उतार दिया गया। सरफोजी के साथ नई सन्धि कर ली गई, जिसके अनुसार पेंशन देकर वह तंजोर के किले में रख दिया गया और राज्य का शासन अँगरेजों के हाथ में आ गया।

अवध के साथ ज़बरदस्ती—वेलेजली की राय में अवध सुरक्षित न था। नवाब वजीर की सेना किसी काम की न थी। उसको स्वयं अपनी रक्षा के लिए अँगरेजों से प्रार्थना करनी पड़ती थी। अवध की निर्बलता से कम्पनी को अपने राज्य की रक्षा के लिए भय हो रहा था। अवध की पश्चिमोत्तर सीमा पर मराठों की शक्ति बढ़ रही थी। जमांशाह आक्रमण करने की बराबर धमकी दे रहा था। बनारस से भागकर वजीरअली उपद्रव मचा रहा था। इन शत्रुओं को रोकने के लिए अवध में काफी अँगरेजी सेना न थी। जो सेना थी भी उसी का खर्चा चलाना नवाब के लिए कठिन हो रहा था। शासन-व्यवस्था ठीक न होने से नवाब वजीर की आमदनी घट रही थी।

इस तरह टीपू से युद्ध छिडने के पूर्व ही अवध के विषय में वेलेजली की राय निश्चित हो गई थी। युद्ध मे निश्चिन्त होने पर नवम्बर सन् १७६६ में उसने नवाब को अपनी सेना तोडने और अँगरेजी सेना बढाने के लिए लिख भेजा। नवाब की स्वीकृति बिना मिले ही अवध मे अँगरेजी सेना बढ़ा दी गई और उसका खर्चा नवाब से मांगा जाने लगा। वेलेजली की राय में नवाब की स्वीकृति की कोई आवश्यकता न थी, क्योंकि सर जान शोर के साथ जो सन्धि हुई थी, उसमे अवध की रक्षा का भार कम्पनी ने ले लिया था। इसलिए भय की आशका होने पर कम्पनी को अपनी सेना बढा देने का अधिकार था और उसका खर्च देने के लिए नवाब मजबूर था।

नवाब वजीर का कहना था कि मैं क़िस्तो को बराबर अदा कर रहा हूँ, सेना बढाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपनी निज की सेना तोड देने से मेरा बड़ा अपमान होगा। पिछली सन्धि मे यह वचन दिया गया था कि "मौरूसी राज्य, सेना तथा प्रजा पर मेरा पूरा अधिकार रहेगा" परन्तु सेना का प्रबन्ध छीन लेने से मेरा क्या अधिकार रह जायगा? वेलेज़ली की दृष्टि मे नवाब का यह उत्तर "धृष्टता-पूर्ण" था। उसका कहना था कि सेना बढाने की आवश्यकता है या नहीं, इसका निर्णय गवर्नर-जनरल कर सकता है न कि नवाब। उसने स्वय माना है कि वह शासन मे सुधार करने के अयोग्य है, ऐसी दशा मे समय पर किस्तो का अदा होना असम्भव है।

"जाल मे फँसी हुई चिडिया की तरह नवाब फटफटा रहा था।" मसनद से उतरकर देश से बाहर चले जाने तक की नवाब ने धमकी दी, परन्तु गवर्नर-जनरल पर इसका भी कुछ प्रभाव नहीं पडा। कई महीनो तक आपस में पत्र-व्यवहार होता रहा। नवाब को अपमानित करने और बुरा-भला कहने मे वेलेजली ने अपने पत्रो मे कोई बात उठा न रखी। अब केवल अँगरेजी सेना बढाने से ही वेलेजली को सन्तोष न था, प्रत्युत अवध के सम्पूर्ण शासन को कम्पनी के हाथ में लेना उसका मुख्य उद्देश्य था। इसकी प्राप्ति मे वह किसी प्रकार की बाधा को सहन न कर सकता था।[1] जनवरी सन् १८०१ में नवाब

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० २, पृ० ४२६।

को लिखा गया कि या तो वह तंजोर के राजा की तरह पेंशन स्वीकार करके चुपचाप अलग पड़ा रहे, या अँगरेजी सेना का यहाँ तक का खर्चा देकर आगे के लिए अपना आधा राज्य कम्पनी को दे देवे। अप्रैल में रेजीडेंट कर्नल स्काट को लिख दिया गया कि यदि इन शर्तों के मानने में नवाब हीला-हवाला करे, तो दोआब और रुहेलखंड पर जबरदस्ती अधिकार कर लिया जाय।[1] नवाब के विरोध की ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया, उलटे उसको चेतावनी दी गई कि इन शर्तों के न मानने का परिणाम "उसके राज्य, तथा उसके वंशजों के लिए अच्छा न होगा।"

लखनऊ की सन्धि—जुलाई सन् १८०१ में शर्तों को मंजूर कराने के लिए गवर्नर-जनरल का भाई हेनरी लखनऊ भेजा गया। थोड़े दिन बाद स्वयं गवर्नर-जनरल भी कलकत्ता से चल पड़ा। अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर नवम्बर सन् १८०१ में नवाब को सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस सन्धि से दोआब और रुहेलखंड के कुछ जिले कम्पनी को मिल गये। वेलेजली ने छाँटकर अवध की सीमा पर के जिलों को लिया। इन जिलों के निकल जाने से मराठा या अन्य किसी बाहरी शक्ति से अवध के राज्य का सम्बन्ध न रह गया। चारों ओर के जिलों पर अँगरेजों का अधिकार हो गया। नवाब की सेना घटा दी गई और आवश्यकता पड़ने पर बिना खर्चा लिये हुए नवाब की सैनिक सहायता करने के लिए वचन दिया गया। अँगरेज सरकार की सलाह से नवाब ने इस बचे-खुचे राज्य का शासन करना स्वीकार किया।

कम्पनी की माँग बराबर बढ़ती जाती थी। बीस पचीस लाख रुपया सालाना से बढ़ते बढ़ते यह रकम एक करोड़ पैंतीस लाख तक पहुँच गई थी। जब नवाब ने इतनी बड़ी रकम देने में अपनी असमर्थता प्रकट की तब उसका आधा राज्य छीन लिया गया। सन् १७८७ में कार्नवालिस ने और सन् १७९८ में सर जान शोर ने शासन में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया था। परन्तु इसका कुछ भी ध्यान न रखकर अँगरेज अफ़सरों की सलाह से शासन करने के लिए नवाब से कहा गया। इँग्लेंड लौटने पर, पाल नामक एक अँगरेज की सहायता से, जो बहुत दिनों तक अवध में रह चुका था, इस सम्बन्ध में वेलेजली पर भी पार्लामेंट में अभियोग चलाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु सफलता न हुई।

अवध का शासन—नवाब से छीने हुए जिलों का हेनरी वेलेजली लेफ्टिनेंट-गवर्नर बनाया गया। यह गवर्नर-जनरल का छोटा भाई था और उसके प्राइवेट सेक्रेटरी का काम करता था। हेनरी वेलेजली कम्पनी का नौकर न था। उसकी नियुक्ति से कम्पनी के संचालक वेलेजली से बहुत चिढ़ गये। अन्त में उनकी आज्ञा से हेनरी को यह पद छोड़ना पड़ा। इन जिलों में अँगरेजी कानून-कायदे जारी कर दिये गये। जनता के रीति-रिवाजों का कुछ भी ध्यान न रखा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अदालतों द्वारा न्याय की अपेक्षा अधिकतर अत्याचार होने लगा। मनमाना लगान लिया जाने लगा, जिससे थोड़े ही दिनों में इन जिलों की आमदनी बहुत बढ़ गई। नवाब से जितना रुपया नकद मिलता था, उससे कहीं अधिक इन जिलों से मिलने लगा। नवाब सादतअली ने भी सुधार का प्रयत्न किया। उसने मालगुजारी वसूल करने के लिए राज्य को 'चकलों' और 'इलाकों' में बाँट दिया और उनको ठेके पर उठा दिया। हेनरी लारेंस का कहना है कि वह एक योग्य शासक था। यदि उसके साथ अच्छा बर्ताव किया जाता तो बहुत कुछ सुधार होने की सम्भावना थी। अँगरेज रेजीडेंट बराबर उसके शासन में बाधा डालते थे और किसी प्रकार की उन्नति न होने देते थे। तिस पर भी थोड़े ही काल में उसने खज़ाने को धन से भर दिया था।

सूरत का अपहरण—भारतवर्ष आने पर अँगरेजों ने पहले पहल सूरत में ही पैर जमाया था। सन् १७५६ में उन्होंने जैसे तैसे किले पर कब्ज़ा कर लिया और नवाब के साथ सन्धि करके दोहरा शासन चला दिया। इस सम्बन्ध में एक डच यात्री का कहना है कि कानून-कायदे सब अँगरेज़ों के हाथ में थे तिसपर भी नवाब को गद्दी पर बिठलाये रखने का ढोंग दिखलाया जाता था। अँगरेजों की माँग बराबर बढ़ती जाती थी। वेलेजली की राय में नवाब का शासन ठीक न था और रक्षा के लिए सेना बढ़ाने की आवश्यकता थी। नवाब के मरने पर अँगरेजी सेना सूरत पहुँच गई और उसके भाई को पेंशन स्वीकार करके सूरत का शासन अँगरेजों के हाथ में छोड़ देना पड़ा। वह एक लाख रुपया सालाना देने के लिए तैयार था, पर वेलेजली को इतने से सन्तोष न था। सूरत के अँगरेज प्रतिनिधि की राय में अधिक रुपया देना नवाब के लिए सम्भव न था, उससे राज्य छीन लेना सरासर विश्वासघात था।[१] वेलेजली का कहना था कि शासन और सैनिक प्रबन्ध कम्पनी के हाथ में आ जाने से ही सूरत की दशा सुधर सकती थी, इसलिए उसको ले लेना कम्पनी का "कर्तव्य और अधिकार" था। इस मामले में एक अँगरेज ग्रन्थकार कहता है कि न्याय तो बेचारे नवाब की ओर था, अँगरेज़ों की तरफ केवल चालबाजी और धींगाधींगी थी।[२]

उनको राजदूत, मत्री, जज और शासको का काम करना पडता है। जब तक उनकी शिक्षा, योग्यता और आचरण का ध्यान नहीं रखा जायगा, शासन में सफलता होना असम्भव है। इन लोगो के लिए पाश्चात्य राजनीति, विज्ञान और साहित्य के साथ साथ पूर्वीय इतिहास, भारतवर्ष सम्बन्धी कानून-कायदो और देशी भाषाओ का ज्ञान बडा आवश्यक है।[1] सचालको की स्वीकृति बिना मिले हुए ही उसने यह कालेज बडी धूम-धाम से खोल दिया।

इसमे बहुत से अँगरेज अफसर और पादडी अध्यापक नियुक्त किये गये। देशी भाषाएँ सिखलाने तथा रीति-रिवाजो को बतलाने के लिए पडित और मोलवी रखे गये। इँग्लेंड से आने पर कम्पनी के साधारण कर्मचारियो को इस कालेज मे तीन वर्ष पढने के लिए नियम बना दिया गया। कम्पनी के संचालक वेलेज़ली से सहमत न थे, कर्मचारियो की शिक्षा के लिए वे अपने को जिम्मेदार न मानते थे। इसके अतिरिक्त कालेज के चलाने मे बडा खर्च पडता था। उनकी आज्ञा के विरुद्ध दो वर्ष तक इस्तीफे की धमकी देकर जैसे-तैसे वह इस कालेज को चलाता रहा। अन्त मे उसे उनकी आज्ञा मानकर इसको तोड़ना पडा। अँगरेज लेखको को, जो कहते है कि भारतवर्ष मे शिक्षा-प्रचार के लिए इस कालेज की स्थापना की गई थी, ध्यान रखना चाहिए कि यह कालेज कम्पनी के केवल अँगरेज़ कर्मचारियो के लिए खोला गया था। हिन्दुस्तानियो को पढाने की इसमे कोई व्यवस्था न थी। उनकी शिक्षा के लिए वेलेज़ली को कुछ भी चिन्ता न थी। इसमें सन्देह नहीं कि कालेज की योजना से वेलेज़ली की दूरदर्शिता और योग्यता का परिचय मिलता है। इससे कर्मचारियो की शिक्षा की ओर सचालको का ध्यान भी आकर्षित हो गया। कुछ दिनो बाद इसी ढंग का एक कालेज इँग्लेंड में खोला गया, जो बहुत दिनो तक चलता रहा।

धार्मिक नीति—वेलेज़ली भारतवर्ष मे ईसाई मत की उन्नति और प्रचार के लिए उत्सुक था। भारतवर्ष मे अँगरेजों को पथ-भ्रष्ट होते

---

[1] वेलेज़ली, डेसपैचेज, जि० २, पृ० ३२५—५५।

हुए देखकर उसको बड़ी चिन्ता हो रही थी। इस दोष को दूर करने के लिए फोर्ट विलियम कालेज में धार्मिक शिक्षा का खास प्रबन्ध किया गया था। कालेज का अध्यक्ष नियमानुसार एक पादड़ी ही हो सकता था। इस कालेज से हिन्दुस्तानियों को ईसाई बनाने में भी सहायता ली गई। वेलेजली की आज्ञा से बाइबिल का सात देशी भाषाओं में अनुवाद किया गया। परन्तु धर्म के प्रचार में वह पुर्तगालियों की सी भूल करनेवाला न था। इस सम्बन्ध में वह आधुनिक ढंग से काम लेना चाहता था। खुले तौर पर जबरदस्ती ईसाई बनाना उसकी नीति के विरुद्ध था। लंका के गवर्नर को स्पष्ट शब्दों में इसके लिए मना कर दिया गया था। उसकी राय में धर्म-प्रचार के लिए उसने जो कुछ किया, उससे कोई "ईसाई गवर्नर" कम न कर सकता था और न किसी "ब्रिटिश गवर्नर" को उससे अधिक करना ही वाजिब था।[1] सन् १८०२ में उसकी आज्ञा से बाल-हत्या बन्द कर दी गई। सती-प्रथा की जाँच करने और रोकने का भी प्रयत्न किया गया परन्तु अधिक सफलता न हुई।

परिच्छेद ८

साम्राज्य के लिए युद्ध

(२)

मराठों की स्थिति—खर्दा की विजय मराठो की अन्तिम विजय थी। परन्तु इससे यदि किसी को भ्रम नहीं हुआ था, तो वह युवक पेशवा था। विजय की बधाई मिलने पर उसका कहना था कि बिना लड़े-भिड़े मुगलो की बेढब हार और मराठों के गर्व को देखकर मुझे दोनो की पतित अवस्था पर दुख हो रहा है।[1] मराठो की इस अवस्था का प्रमाण उस समय का इतिहास है। इस अवसर पर नाना फडनवीस न

सवाई माधवराव

१ मैकडोनाल्ड, मेम्वायर ऑफ नाना फडनवीस, पृ० ९७।

मराठा-मण्डल में जो एकता स्थापित की थी वह एक दुर्घटना के कारण थोड़े ही काल में छिन्न-भिन्न हो गई ।

राघोबा के मरने पर नाना फड़नवीस ने उसके बेटे बाजीराव को कैद कर रखा था । वह जानता था कि देशद्रोही राघोबा की सन्तान से मराठा-मण्डल का हित होना असम्भव है । बाजीराव संस्कृत का अच्छा विद्वान था और उसको मीठी मीठी बातें बनाना खूब आता था । वह गुप्त रीति से पेशवा के साथ पत्र-व्यवहार करने लगा । पेशवा तो भावुक था ही, थोड़े ही काल में उस पर बाजीराव का रंग जम गया । इसके लिए नाना फड़नवीस को कई बार पेशवा की भर्त्सना करनी पड़ी । इधर कुछ दिनों से उस का स्वास्थ्य बिगड़ रहा था और वह बराबर उदास रहा करता था । अक्तूबर सन् १७९४ में वह छत पर से गिरकर मर गया ।[1] यह माधवराव का गिरकर मरना ही न था वास्तव में पेशवाई का पतन था ।

मराठा-मंडल में जो एकता स्थापित की थी वह एक दुर्घटना के कारण थोड़े ही काल में छिन्न-भिन्न हो गई।

राघोबा के मरने पर नाना फड़नवीस ने उसके बेटे बाजीराव को कैद कर रखा था। वह जानता था कि देशद्रोही राघोबा की सन्तान से मराठा-मंडल का हित होना असम्भव है। बाजीराव संस्कृत का अच्छा विद्वान् था और उसको मीठी मीठी बातें बनाना खूब आता था। वह गुप्त रीति से पेशवा के साथ पत्र-व्यवहार करने लगा। पेशवा तो भावुक था ही, थोड़े ही काल में उस पर बाजीराव का रंग जम गया। इसके लिए नाना फड़नवीस को कई बार पेशवा की भर्त्सना करनी पड़ी। इधर कुछ दिनों से उस का स्वास्थ्य बिगड़ रहा था और वह बराबर उदास रहा करता था। अक्तूबर सन् १७९५ में वह छत पर से गिरकर मर गया।[1] यह माधवराव का गिरकर मरना ही न था वास्तव में पेशवाई का पतन था।

माधवराव के कोई सन्तान न थी। मरते समय उसने बाजीराव को गद्दी पर बिठलाने की इच्छा प्रकट की थी। नाना फड़नवीस इसका परिणाम जानता था। सिन्धिया और होलकर की सलाह से वह एक दत्तक पुत्र को गद्दी पर बिठलाना चाहता था, परन्तु बाजीराव के षड्यंत्र से नाना का सारा प्रयत्न व्यर्थ गया और बाजीराव पेशवा हो गया। वह अपने कुटुम्ब के प्रति नाना फड़नवीस का व्यवहार भूल न सकता था। कभी वह उसके विरुद्ध सिन्धिया को भड़काता था, कभी सिन्धिया को दबाये रखने के लिए उससे नाता जोड़ता था। पूना में इन दिनों बड़ा हलचल मचा था। कितने ही राजनैतिक दल हो गये थे। सबको अपने स्वार्थ-साधन की सूझ रही थी, मराठा-

उसने अपने विश्वास के अनुसार बाजीराव को सदा उसके हित की सलाह दी। यदि मराठा शासन बिना अँगरेजों की सहायता के फिर अच्छी तरह चलाया जा सकता था, तो वह लार्ड वेलेज़ली के प्रस्ताव को मानकर अँगरेजी सेना बुलाने के सर्वथा विरुद्ध था। अँगरेजों का वह आदर करता था, उनके चरित्र की सत्यता तथा उनके शासन की दृढ़ता की वह प्रशंसा करता था। परन्तु
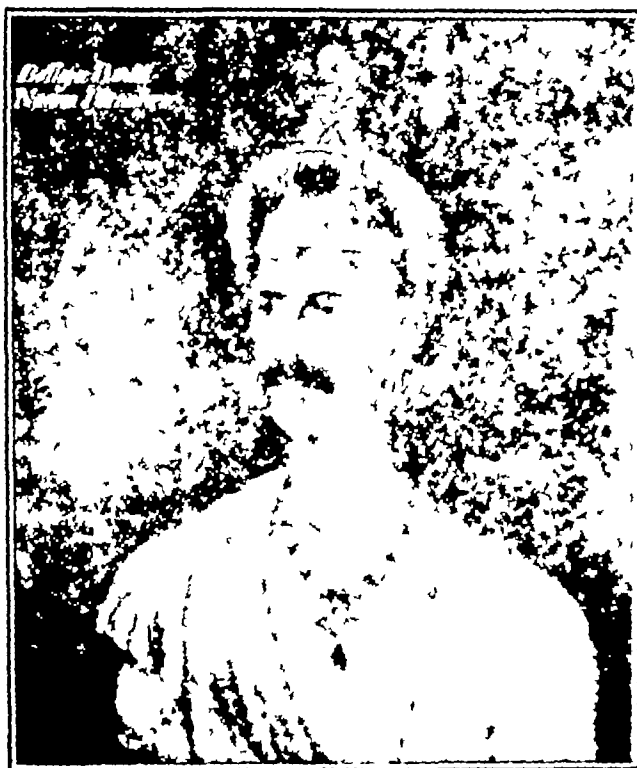
नाना फड़नवीस

राजनैतिक शत्रु की दृष्टि से अँगरेजों का भय और उनकी जलन उससे अधिक किसी को न थी। वह जानता था कि गवर्नर-जनरल के इच्छानुसार अँगरेजों को पैर जमाने की आज्ञा देने का अन्तिम परिणाम यह होगा कि उनका प्रभाव

जिस बात को नाना फड़नवीस और सिन्धिया चार वर्ष से टाल रहे थे, जिसके लिए वेलेजली ने कोई कसर उठा न रखी थी, वही बात अब आप ही आप सम्भव हो गई। पूना से भागकर बाजीराव ने अँगरेजों से सहायता माँगी। इसने उनकी सब शर्तों को स्वीकार कर लिया और दिसम्बर सन् १८०२ में अँगरेजी जहाज पर बेसीन पहुँचकर सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। इसने अपने खर्च से अँगरेजी सेना को रखना स्वीकार किया और इसके लिए २६ लाख रुपया सालाना की आमदनी के जिलों को दे देने का वचन दिया। यूरोप के किसी अन्य निवासी को अपने यहाँ नौकर न रखने तथा किसी राज्य से ब्रिटिश सरकार की इच्छा बिना युद्ध या सन्धि न करने की भी प्रतिज्ञा की, और निजाम तथा गायकवाड़ सम्बन्धी झगड़ों में अँगरेजों को पञ्च मान लिया। अँगरेजों ने इसको फिर से गद्दी पर बिठला देने और बराबर इसकी रक्षा करने का वचन दिया। इस तरह गद्दी के लालच में पड़कर बाजीराव ने राष्ट्रीय सम्मान और स्वतन्त्रता को अँगरेजों के हाथ बेंच दिया। राघोबा के बेटे से इसके अतिरिक्त और आशा ही क्या की जा सकती थी?

कार्नवालिस के मैसूर-युद्ध की आलोचना करते हुए क्रासिस ने ठीक कहा था कि हिन्दुस्तानी राजा अपने तात्कालिक लाभ के लिए बच्चों की तरह आतुर रहते हैं। अपना मतलब सिद्ध करने के लिए उपायों को ढूँढ निकालने में वे बड़े चतुर होते हैं। इनके चुनने में इन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता है। सुदृढ़, स्थायी तथा दूरवर्ती लाभ का इन्हें कुछ भी ध्यान नहीं रहता है। यदि ऐसा न होता तो क्या यह सम्भव था कि बंगाल के नवाबों का नाश, अवध के नवाबों की अधीनता और स्वयं बादशाह तथा अन्य राजाओं को, जो ब्रिटिश मित्रता के शिकार बन चुके हैं, निगाह में रखते हुए भी वे ऐसी सन्धियाँ करते, जिनमें इनको हमारी सहायता माँगने की आवश्यकता पड़ती ?[1]

आशंका थी।[1] इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मराठों को इन दिनों अपने ही झगड़ों से छुट्टी न थी, फिर अन्य राज्यों पर आक्रमण का कहना ही क्या था? यह भी कहा जाता है कि पेशवा ने अँगरेजों से सहायता माँगी थी, उसको सहायता न देना केवल नीति-विरुद्ध ही नहीं बल्कि "नीचता" थी।[2] परन्तु जब कम्पनी के परम मित्र निज़ाम पर संकट पड़ा था, तब यह उदारता कहाँ चली गई थी? इसके अतिरिक्त होलकर को, जिसने बाजीराव को निकाल बाहर किया था, दंड देने की क्या व्यवस्था की गई थी? मराठों के झगड़ों में पड़ने की आवश्यकता भले ही न रही हो सन्धि का तात्कालिक परिणाम युद्ध ही हुआ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि अन्ततः अँगरेजों का इससे पूरा लाभ हुआ। सिडनी ओवन का कहना है कि इस समय तक भारत में एक "ब्रिटिश साम्राज्य" था, परन्तु इससे कम्पनी के हाथ में "भारत का साम्राज्य" आ गया। उत्तर, दक्षिण और पूर्व में अँगरेजों का प्रभुत्व स्थापित ही हो चुका था, अब पश्चिम के मराठा साम्राज्य में भी उनका आतंक जम गया।[3]

बाजीराव की वापसी—अप्रैल सन् १८०३ में आर्थर वेलेज़ली ने एक बड़ी सेना के साथ पूना आकर बाजीराव को फिर से गद्दी पर बिठला दिया। बेसीन की सन्धि से चिढ़कर सिन्धिया और भोंसला ने बाजीराव का साथ नहीं दिया। होलकर भी चुपचाप रहा और बेचारे अमृतराव ने पेंशन स्वीकार कर ली। पेशवा की रक्षा के लिए पूना में अँगरेजी सेना रख दी गई। गवर्नर-जनरल लिखता है कि अधिकांश मराठा जागीरदार बाजीराव के पक्ष में थे और प्रजा उसको फिर से गद्दी पर बिठलाने में सहायता देने के लिए तैयार थी। यदि ऐसा न होता तो मैं उसको मसनद पर बिठलाने का प्रयत्न फ़ौरन ही छोड़ देता। प्रजामत के प्रतिकूल मराठों पर किसी शासक का रखना "न्याय और

बुद्धि'' के विरुद्ध था।[1] दक्षिण के जागीरदारों के सम्बन्ध में आर्थर वेलेजली लिखता है कि जब तक खूब सेना एकत्र करके उनको यह अच्छी तरह नहीं दिखला दिया जायगा कि हम बिना अपना मतलब सिद्ध किये हुए नहीं हटेंगे, तब तक वे हमारा साथ न देंगे।[2] यदि गवर्नर-जनरल के कथनानुसार अधिकांश जागीरदार बाजीराव के ही पक्ष में थे, तो फिर इस सैनिक भय के दिखलाने की क्या आवश्यकता थी? प्रजा उसके अत्याचार से पीड़ित थी, उसी की अनुमति से सिन्धिया ने पूना में लूट मचा रखी थी। फिर उसके साथ प्रजा की सहानुभूति कैसे हो सकती थी?

बाजीराव की अयोग्यता गवर्नर-जनरल से छिपी न थी। उसकी राय में वह निर्बल, कपटी और शासन के अयोग्य था। आर्थर का कहना था कि सार्वजनिक बातों का तो उसे कभी ध्यान ही न आता था। उसका व्यक्तिगत जीवन ''भयंकर'' था।[3] यदि प्रजा के हित का ही ध्यान था तो अमृतराव, जो आर्थर के शब्दों में ''बड़ा योग्य'' था, पेशवा क्यों न बनाया गया? उत्तर में आर्थर का, जो अपने भाई की तरह नीति-निपुण न था, स्पष्ट शब्दों में कहना है कि यदि वह विद्रोह करता तो अँगरेजों के मार्ग में बाजीराव से भी बढ़कर कंटक होता।[4] यह ठीक है कि शासक की अयोग्यता ही में अँगरेजों का हित था।

सिन्धिया और भोंसला—पूना दरबार से सिन्धिया को हटाने के लिए वेलेजली पहले ही से प्रयत्न कर रहा था। वह जानता था कि सिन्धिया की उपस्थिति में बाजीराव का फँसना असम्भव है। इसलिए पहले उसको उत्तरी भारत में जमाँशाह के आक्रमण का भय दिखलाया गया। इस पर भी जब यह नहीं हटा, तब उसके विरुद्ध निजाम और भोसला के साथ गुप्त सन्धि का प्रयत्न किया गया। इसमें भी असफलता होने पर यह दिखलाया

---

१ वेलजली, डेसपैचेज, जि० ३, पृ० ४२-४३।

२ वेलिंगटन, डेसपैचेज, पृ० २००-२०१।

३ वही, पृ० ३६७।

४ वही, पृ० ३६७।

जाने लगा कि उत्तरी भारत में सिन्धिया के राज्य में अशान्ति फैली हुई है। सन् १७९९ में ही क्लार्क को अवध की सीमा पर सेना एकत्र करने के लिए आज्ञा दे दी गई थी। साथ ही साथ यह भी लिख दिया गया था कि सिन्धिया या उसके सूबेदार अम्बाजी के कारण पूछने पर यह कह देना चाहिए कि अवध का पदच्युत नवाब वजीरअली बनारस से भागकर जमाँशाह के पास जानेवाला था। इन दोनों के आक्रमण को रोकने के लिए ऐसा करना पड़ा। इतना ही नहीं यह भी कह दिया गया था कि लड़ाई छिड़ते ही राजपूत राजाओं को अपने पक्ष में मिला लेना चाहिए और सिन्धिया के कुटुम्बियों तथा नौकरों को, जो उससे असन्तुष्ट हों, सहायता का वचन देकर भड़काना चाहिए।[1] इस तरह पहले ही से सिन्धिया के विरुद्ध तैयारियाँ प्रारम्भ हो गई थीं, परन्तु इस समय उनका गुप्त रखना आवश्यक था। सिन्धिया को विवश होकर कुछ काल के लिए पूना छोड़ना ही पड़ा, पर वह शीघ्र ही फिर लौट आया।

सिन्धिया के विरुद्ध भोंसला को हाथ में लाने का काम कोलब्रुक को सौंपा गया। परन्तु टीपू के पतन से अँगरेजों की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि भोंसला मराठों की रक्षा के लिए चिन्तित हो रहा था। मई सन् १८०१ में निराश होकर कोलब्रुक वापस चला गया। भोंसला ने दो प्रतिनिधियों को पूना भेजा और सिन्धिया तथा होलकर के परस्पर वैर को मिटाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु बेसीन की सन्धि हो जाने से उसका बना बनाया काम बिगड़ गया।

मराठों का दूसरा युद्ध—बेसीन की सन्धि के सम्बन्ध में सिन्धिया या अन्य किसी मराठा राजा से कोई परामर्श नहीं किया गया था। उसकी क्या शर्तें थीं, इसका भी उनको ठीक ठीक पता न था। सिन्धिया और भोंसला की राय में सन्धि के पूर्व अँगरेजों तथा पेशवा का उनके साथ परामर्श करना कर्तव्य था। जब सिन्धिया, होलकर और भोंसला को सन्धि के समाचार मिले, तब इन लोगों ने इस सम्बन्ध में परस्पर विचार करना आवश्यक

---

[1] ता० ८ मार्च का गुप्तपत्र डेस्पैचेज़, जि० ४, पृ० ६६०—६१।

समझा। इसी उद्देश्य से फरवरी सन् १८०३ में सिन्धिया उज्जैन से चलकर बरहानपुर पहुँचा। यहाँ उसको अँगरेज रेजीडेंट कालिंस मिला। मई में नागपुर से भोंसला भी चल पड़ा। कालिंस की राय में इन दोनों का उद्देश्य पूना की ओर बढ़ने का था। इन दोनों के मिलने में वह अँगरेजों का हित न समझता था। वह सिन्धिया का स्पष्ट मत जल्दी जानना चाहता था, इसी लिए निज़ाम की सीमा से सेना हटाने का आग्रह कर रहा था। ता० २७ मई को कालिंस के बहुत ज़ोर देने पर सिन्धिया की ओर से उसको विश्वास दिलाया गया कि अँगरेजों के मार्ग में वह किसी प्रकार की बाधा नहीं डालना चाहता। कहा जाता है कि इसी अवसर पर सिन्धिया ने यह भी कहा कि भोंसला से भेंट होने के बाद कहा जा सकता है कि "युद्ध होगा या सन्धि"।

बरार में मलकापुर नामक स्थान पर सिन्धिया और भोंसला की भेंट हुई। इन दोनों ने कालिंस को विश्वास दिलाया कि निज़ाम के राज्य की सीमा पार करने या पूना की ओर बढ़ने का उनका कोई विचार नहीं है। बेसीन की सन्धि की रक्षा करने का वे गवर्नर-जनरल को वचन दे चुके हैं। परन्तु कालिंस की राय में यह सब बहानाबाजी थी। उस स्थान से हटना ही मित्रता का केवल प्रमाण हो सकता था। इस पर ता० २८ जुलाई को सिन्धिया और भोंसला ने कहला भेजा कि यदि जनरल वेलेजली अपनी सेना लेकर हट जाय, तो वे भी बरहानपुर वापस चले जायँगे। ता० ३१ जुलाई के पत्र में सिन्धिया ने गवर्नर-जनरल को भी स्पष्ट लिख दिया कि इस समय तक पेशवा ने सन्धि के विषय में मुझे कुछ नहीं लिखा है, सब हाल जानने के लिए मैं पेशवा के यहाँ दूत भेज रहा हूँ। पेशवा, भोंसला तथा अन्य मराठा सरदारों के साथ मेरे जो परस्पर के प्राचीन सम्बन्ध हैं, यदि उनमें बेसीन की सन्धि से कोई रुकावट नहीं पड़ती है, तो उसके विरुद्ध जाने का मेरा कभी विचार नहीं है।[1] इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया गया, निज़ाम की सीमा से हटने के लिए कोई तारीख भी निश्चित नहीं की गई और न अँगरेजी सेना हटाने के विषय में

१ वेलेज़ली, डेसपैचेज़, जि० ३, पृ० २५०—५१।

ही कुछ कहा गया। ता० ३ अगस्त को कालिंस दरबार छोड़कर चला गया और ता० ६ अगस्त को अहमदनगर पर आक्रमण करके सेनाध्यक्ष आर्थर वेलेजली ने युद्ध की घोषणा कर दी।

युद्ध पर विचार—सिन्धिया और भोंसला बेसीन की सन्धि से असन्तुष्ट अवश्य थे, पर इस युद्ध में पड़ने का न उनका विचार ही था और न वे तैयार ही थे। ता० १६ अप्रैल के पत्र में स्वयं गवर्नर-जनरल गुप्त कमेटी को लिखता है कि सिन्धिया बराबर अँगरेजों से झगड़ा बचा रहा है। भोंसला से बेसीन की सन्धि के सम्बन्ध में किसी प्रकार की आशंका नहीं है। सिन्धिया, होलकर और भोंसला आत्मरक्षा के लिए एक गुट्ट बनाना चाहते हैं, जिससे ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध शत्रुता का भाव सिद्ध नहीं होता है।[1] ता० २३ अप्रैल के पत्र में आर्थर वेलेजली ने भी स्टिवेंसन से ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं।[2] ता० १४ मई के पत्र में पूना का रेजीडेंट कर्नल क्लोज भी गुप्त कमेटी को लिखता है कि किसी शत्रुता के भाव से सिन्धिया इस गुट्ट में शामिल हो यह "बिलकुल असम्भव" है। सिन्धिया और भोंसला ने कोई आक्रमण नहीं किया था। उनकी सेनाएँ उनके राज्य में थीं, तब भी आर्थर वेलेजली के हटने पर वे बरहानपुर वापस जाने के लिए तैयार थे और गवर्नर-जनरल तथा रेजीडेंट कालिंस को अपनी मित्रता का सब तरह से विश्वास दिला रहे थे। युद्ध की कोई तैयारी न थी। कालिंस ही के शब्दों में सिन्धिया के पास पचास हजार से अधिक रुपया न था।

दूसरी ओर गवर्नर-जनरल ने सन् १७९९ में ही निश्चित कर लिया था कि अच्छा अवसर मिलने पर सिन्धिया की शक्ति को नष्ट कर डालना चाहिए। जनवरी सन् १८०२ में ही सेनापति लेक को सिन्धिया के राज्य की सीमा पर सेना एकत्र करने की आज्ञा दे दी गई थी। वेलेजली लिखता है कि ऐसा करने में उसका उद्देश्य केवल भय दिखलाना था। इस तरह भय दिखलाने

---

[1] वेलेजली, डसपेचेज, जि० ३, पृ० ७२—८२।

[2] वेलिंगटन, डेसपैचेज, पृ० ३३७।

का पार्लामेंट को कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। हिन्दुस्तानी राजाओं के दूत पार्लामेंट के सामने नहीं आते हैं। इन्हीं का देश लूटा जाता है, इन्हीं की सम्पत्ति अपहरण की जाती है और इन्हीं पर युद्ध छेड़ने तथा शान्ति-भंग करने का दोष लगाया जाता है। मराठा युद्ध के जो कारण बतलाये जाते हैं, उनमें कुछ भी तत्त्व नहीं है। देशी राजाओं के दोष दिखलाना उन्हें विषयी बतलाना एक साधारण बात है। वेलेजली की सरकार जिस भाषा का प्रयोग कर रही है, उसी से सन्देह होता है। सिन्धिया को जैसा बुरा-भला कहा गया है वह छिपा नहीं है। जिन फ्रांसीसियों के भय पर जोर दिया जाता है, सिन्धिया की सेना में उनके अफसरों की संख्या १२ से अधिक नहीं थी। सिन्धिया स्वयं विदेशियों को सेना में रखने का पक्षपाती नहीं था, यह सबको ज्ञात है। इस तरह मराठों के विरुद्ध युद्ध का किसी प्रकार से समर्थन नहीं किया जा सकता। बेसीन की सन्धि की उद्दंड शर्तों पर क्षोभ का होना स्वाभाविक था। यदि ऐसा न होता तो आश्चर्य की बात थी। मराठा साम्राज्य की राजधानी को विदेशियों के हाथ में देखकर कौन मराठा राजा जिसमें किंचित् भी सम्मान था, चुप रह सकता था? इस कार्य में उनसे सहायता के लिए कहना निस्सन्देह अपमान करके लात मारना था। इस अवस्था का स्वयं अनुभव करना चाहिए। ऐसे मामलों में मनुष्य-स्वभाव सर्वत्र एक ही सा है।[५]

युद्ध के उद्देश्य और क्षेत्र—इस युद्ध में वेलेजली के उद्देश्य पहले ही से निश्चित थे। फ्रांसीसी अफसरों की सेना को नष्ट करके वह गंगा और जमुना के बीच का सिन्धिया का कुल राज्य जीतना चाहता था और इस तरह कम्पनी के राज्य की सीमा को जमुना नदी तक पहुँचा देना चाहता था। दिल्ली तथा आगरा के किलों पर अधिकार करके वह इस सीमा को सुरक्षित रखना चाहता था। इसी विचार से वह वृद्ध मुगल सम्राट् शाहआलम को भी अपने हाथ में लाना चाहता था, जिसने उसकी निर्बलता के कारण

का प्रयत्न किया गया था। रेजीडेंट कालिन्स के सिन्धिया-दरबार छोड़ने पर आर्थर वेलेजली ने अहमदनगर के किले पर अधिकार कर लिया। इस अवसर पर घूस से काम लिया गया।[1] सैनिक दृष्टि से यह किला बड़े महत्त्व का था। इससे निजाम-राज्य के पश्चिम-दक्षिण की सीमा सुरक्षित हो गई और पूना से सहायता आने का मार्ग साफ हो गया।

असेई और अरगाँव—अहमदनगर के पतन का समाचार सुनकर सिन्धिया और भोंसला निजाम के राज्य मे घुसे। इनका पीछा करते हुए आर्थर वेलेजली भी आ पहुँचा। ता० २३ सितम्बर को असेई का विख्यात युद्ध हुआ, जिसमे मराठों की हार हुई। सिन्धिया का कुल तोपखाना अँगरेजों के हाथ मे आ गया और उसकी सेना खानदेश की ओर चली गई। इस युद्ध में सिन्धिया मौजूद न था, वह घोड़सवार सेना के साथ हैदराबाद की ओर बढ़ गया था। सिन्धिया की गोलाबारी से अँगरेजों के बहुत सैनिक मारे गये। आर्थर वेलेजली ता० ३ अक्तूबर सन् १८०३ के एक पत्र मे लिखता है कि सिन्धिया की पैदल सेना टीपू की सेना से कहीं अच्छी थी। उसका तोपखाना तो ऐसा था कि जिससे अपनी सेना मे बहुत काम लिया जा सकता था। इस युद्ध मे सिन्धिया के यूरोपियन अफसरों ने उसका पूरा साथ नहीं दिया। फार्टेस्क्यू का कहना है कि इस अवसर पर यदि पालमैन नामक जर्मन अफसर ने अपने कर्तव्य का पालन किया होता, तो आर्थर वेलेजली बड़ी मुश्किल में पड़ता।[2] इतिहासकार डफ लिखता है कि ब्रिटिश सरकार की एक घोषणा द्वारा सिन्धिया की नौकरी छोड़नेवाले अँगरेज तथा अन्य यूरोपियन अफसरों को पूरा वेतन देने का वचन दिया गया था। इस पर बहुतों ने नौकरी छोड़ दी थी।[3] ता० २४ अक्तूबर के एक पत्र मे आर्थर वेलेजली ने ऐसे १६

अकेले सिन्धिया के साथ सन्धि की बातचीत करके भोंसला से उसको अलग करना था। ये सब बातें इस समझौते से हो सकती थीं, परन्तु बराबर इसकी पाबन्दी करने का विचार उसका कभी न था। इसको उसने स्वयं स्वीकार किया है। ता० २४ नवम्बर के पत्र में वह जनरल स्टुआर्ट को लिखता है कि मैं जब चाहूँ, इस समझौते को तोड़ सकता हूँ।[1]

अरगाँव से बढ़कर अँगरेजी सेना ने भोंसला के प्रसिद्ध दुर्ग गाविलगढ़ पर अधिकार कर लिया। इसके साथ ही साथ दक्षिण का युद्ध समाप्त हो

गाविलगढ़
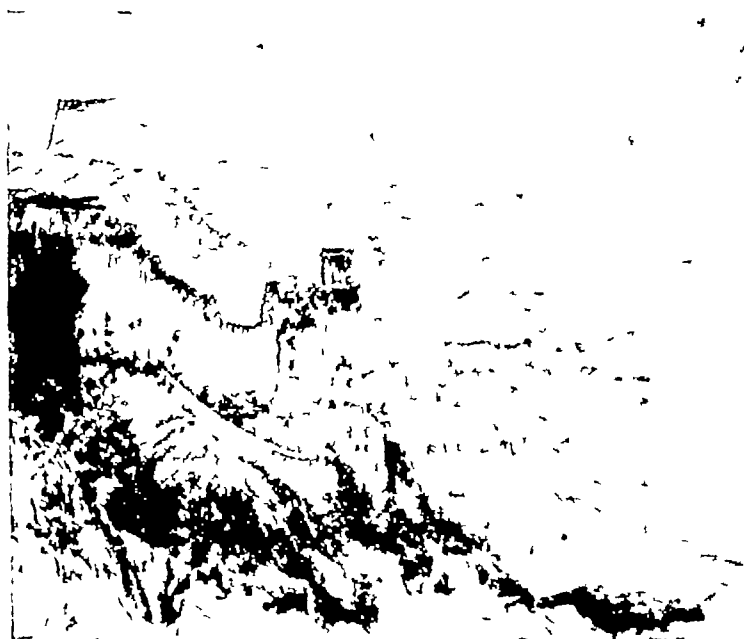
गया। इसमें सन्देह नहीं कि इस युद्ध में आर्थर वेलेज्ली ने बड़ी चतुरता

१ वेलिंगटन, डेस्पचेज़, पृ० [illegible]।

से काम लिया। मराठों की हर एक बात का उसे पता रहता था, रसद का पूरा प्रबन्ध था, ऐसी तोपें साथ में थीं, जो आसानी से सेना के साथ जा सकती थीं। इस युद्ध ने उसको नेपोलियन के साथ युद्ध करने के योग्य बना दिया। बड़े कठिन समय में उसने स्पेन की रक्षा की और वाटरलू के युद्ध में स्वयं नेपोलियन को हराया। इँग्लैंड का वह प्रधान सचिव भी हुआ। इतिहास में वह 'ड्यूक ऑफ वेलिंगटन' के नाम से प्रसिद्ध है।

गुजरात और बुँदेलखंड—सालबाई की सन्धि से भड़ोंच और गुजरात का कुछ भाग सिन्धिया के हिस्से में पड़ा था। व्यापार की दृष्टि से भड़ौच बड़े महत्त्व का स्थान था। बम्बई-सरकार की बहुत दिनों से इस पर दृष्टि लगी हुई थी। बड़ौदा से भड़ौच पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया गया। गायकवाड़ ने इस पर कुछ आपत्ति की, परन्तु उसको स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया कि अँगरेज़ों की सहायता करना उसका कर्तव्य है। मराठा राज्यों में सबसे पहले गायकवाड़ ही अँगरेजों की शरण में गया था, इसका उसे ध्यान रखना चाहिए था। भड़ौच के विजय करने में कोई कठिनता न हुई और थोड़े ही काल में गुजरात में सिन्धिया के अन्य स्थानों पर भी अँगरेजों का अधिकार हो गया।

बुँदेलखंड पर पहले पेशवा के समय में मराठों ने अधिकार कर लिया था। उसी के वंशज इस समय भी कई स्थानों में शासन कर रहे थे। बुँदेलखंड की सीमा कम्पनी के राज्य से मिली हुई थी, इसी लिए अँगरेज इसको बहुत दिनों से चाहते थे। यह देश पहाड़ियों के ऊँचे स्थल पर बसा हुआ है। भौगोलिक दृष्टि से यह "भारतवर्ष का स्विट्जलैंड" है। इन दिनों पेशवा का इस पर नाम मात्र के लिए अधिकार था, वास्तव में बहुत से सरदार स्वतंत्र थे। बेसीन की सन्धि से बाजीराव ने सहायक सेना के खर्च के लिए कुछ जिले अँगरेजों को दक्षिण में दिये थे। अब अँगरेजो ने उन जिलों के बदले में बुँदेलखंड ले लिया था, परन्तु बुँदेला सरदार अँगरेजो का आधिपत्य मानने के लिए तैयार न थे।

इन सरदारों को दबाने के लिए एक अँगरेजी सेना भेजी गई। मुख्य बुंदेला सरदार राजा हिम्मतबहादुर गोसाईं अँगरेजों से मिल गया। सिन्धिया का एक अँगरेज अफसर भी, जिसका नाम शेफर्ड था अपनी पैदल सेना लेकर अँगरेजों की सहायता के लिए आ गया।[१] पहले कालपी पर आक्रमण किया गया। यह स्थान उन दिनों रुई के व्यापार के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। यहाँ के सूबेदार नाना गोविन्दराव को हार माननी पड़ी। इसी अवसर पर झाँसी के सूबेदार से भी सन्धि हो गई और सिन्धिया का मुख्य सरदार अम्बाजी इंगलिया भी अँगरेजों से मिल गया। माहादजी के समय में उत्तरी भारत का यह मुख्य सूबेदार बनाया गया था। ग्वालियर का किला, उसके आसपास के जिले तथा गोहद का इलाका भी इसी के अधीन था। अम्बाजी ने बुंदेलखण्ड का कुछ भाग अपने लिए लेकर ग्वालियर का किला और उसके आस-पास की भूमि अँगरेजों को देना स्वीकार कर लिया।[२] सिन्धिया के साथ यह सबसे बड़ा विश्वासघात किया गया।
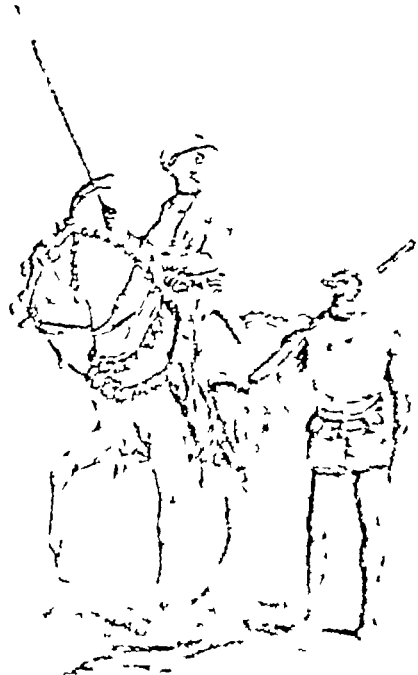
बुंदेलखण्ड के गोसाईं

उत्तरी भारत की रक्षा के लिए ग्वालियर सिन्धिया का मुख्य स्थान था। यहाँ उसका सबसे मजबूत किला था, जिसमें सब सैनिक सामग्री रहती थी। मुगलों के समय में बड़े बड़े राजकुमारों को कैद करने के लिए यह किला काम

मे लाया जाता था। नील और कपड़े का यहाँ अच्छा व्यापार होता था। वास्तव मे दक्षिण की ओर से भारत का यह मुख्य द्वार था। विश्वासघाती अम्बाजी की आज्ञा न मानकर भी यहाँ के किलेदार ने इसकी रक्षा करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसकी क्या चल सकती थी। अन्त मे यह किला भी अँगरेजो के हाथ मे आ गया।

उड़ीसा पर अधिकार—इलाहाबाद की सन्धि मे उडीसा की दीवानी अँगरेजो को मिल गई थी, परन्तु दो ज़िलो को छोड़कर बाकी प्रान्त भोसला के हाथ मे था। मराठो को न छेड़ना क्लाइव की नीति थी। सन् १७६७ मे पूरा उडीसा मिल जाने पर कम्पनी ने १२ लाख रुपया चौथ देना भी स्वीकार किया था, परन्तु भोसला के वकील उदयपुरी गोसाईं ने उडीसा देने से इनकार कर दिया था। उन दिनो उडीसा मे नित्य दुर्भिक्ष न पड़ा करते थे। गेहूँ रुपये का ७० सेर तक मिलता था।[१] मेजर थोर्न लिखता है कि खेती की दशा बहुत अच्छी थी। कटक प्रान्त मे पगडियो के लिए बड़ी बढिया तजेब बुनी जाती थी।[२] पूर्व की ओर बालासोर मे अँगरेजो ने अपनी पहली कोठी खोली थी। बगाल और मदरास के प्रान्तो को एक मे मिलाने तथा मार्ग मे किसी प्रकार की बाधा न रखने के लिए कटक का लेना बडा आवश्यक था। इसी उद्देश्य से इस अवसर पर बंगाल, मदरास तथा समुद्र तीनों ओर से उड़ीसा पर आक्रमण किया गया। सबसे पहले जगन्नाथ जी के पडों को मिलाकर पुरी पर अधिकार कर लिया गया। मन्दिर पर हिन्दू सिपाहियो का पहरा रख दिया गया और वहाँ के प्रबन्ध मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया गया। जनता पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और अँगरेजी सेना को उससे बराबर सहायता मिलने लगी। बहुत से जमीन्दार भी अँगरेजो से मिल गये। बालासोर और कटक के जीतने मे कोई विशेष

---

१ जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी बगाल, जि० ५२ पृ० २४८।

२ थोर्न, मेम्वायर्स, पृ० २५४–५६।

कठिनाई न हुई। उड़ीसा पर अधिकार हो जाने से इस ओर से भोंसला के राज्य पर आक्रमण करने में भी सुभीता हो गया।

उत्तरी भारत की लड़ाइयाँ—माहादजी सिन्धिया दक्षिण जाते समय दिल्ली और उसके आस-पास का राज्य फ्रांसीसी अफसर डीबोयन को सौंप गया था। जब डीबोयन चला गया तब उसकी जगह पर पेरां नियुक्त किया गया। सेना का खर्च चलाने के लिए दोआब के कुछ ज़िले पहले ही से दे दिये गये थे। पेरां यहाँ बड़े ठाट-बाट से रहता था। राजाओं और सरदारों से सन्धि तथा युद्ध करने के उसे पूरे अधिकार थे। दौलतराव सिन्धिया को दक्षिण के झगड़ों से ही छुट्टी न थी, इसलिए उत्तर का राज्य उसने बिलकुल पेरां के हाथ ही में छोड़ रखा था। उसकी कुछ सेना दिल्ली में वृद्ध शाहआलम की रक्षा के लिए रहती थी, कुछ सेना सिन्धिया के साथ थी और बाकी सेना का पड़ाव अलीगढ़ में था। पेरां की जागीर को वेलेज़ली जमुना-तट पर "फ्रांसीसियों का राज्य" कहा करता था। इससे उसको सदा भय रहता था और जब से वह भारतवर्ष आया था, उसके नष्ट करने के प्रयत्न में लगा था।

कोयल और अलीगढ़—युद्ध छिड़ने के पहले ही वेलेज़ली ने उत्तरी भारत में पूरा प्रबन्ध कर लिया था। अन्धे बादशाह को तरह तरह की आशाएँ दिलाई गईं सिखों को उदासीन रखने के लिए चेष्टा की गई और राजपूतों तथा गूजरों को अपने पक्ष में मिलाने के लिए भी बड़ा उद्योग किया गया। सिन्धिया के विदेशी सैनिक अफसरों को फोड़ने में कोई कसर उठा न रखी गई। नौकरी छोड़कर अपने देश को वापस जाने के लिए पेरां को बहुत से लालच दिखलाये गये। इन सब बातों की सफलता से वेलेज़ली को उत्तरी भारत के युद्ध में बहुत कुछ सहायता मिली। लड़ाई छिड़ने के समाचार मिलने पर सेनापति लेक कानपुर से आगे बढ़ा। कोयल जीतने में उसको कोई विशेष कठिनता न हुई। ता० २६ अगस्त के पत्र में वह गवर्नर-जनरल को लिखता है कि पेरां की एक पल्टन के कुछ अफसर पहले ही से

अवसर पर सिन्धिया की ढाई हजार सेना उससे मिल गई।[1] आगरा का किला जीतने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई।

लासवाड़ी की लड़ाई—सिन्धिया की बची-खुची सेना आगरा से कुछ दूर लासवाड़ी नामक स्थान पर पड़ी हुई थी। बिना योग्य नेताओं के इनकी बड़ी दुर्दशा हो रही थी। परन्तु जब लेक ने इस पर आक्रमण किया, तब यह बड़ी वीरता से लड़ी। स्वयं लेक लिखता है कि ये सैनिक "भूतों की तरह" लड़े, यदि इनका कोई फ्रांसीसी सेनानायक होता तो जीतना कठिन हो जाता। जीवन भर में मुझे कभी ऐसी लड़ाई लड़नी नहीं पड़ी थी।[2] इस लड़ाई से उत्तरी भारत का युद्ध समाप्त हो गया। लासवाड़ी की विजय के लिए बधाई देते हुए शाहआलम ने लेक को खिलत भेजी, जिसको उसने एक दरबार में सम्मान के साथ ग्रहण किया। इसी के बाद अलवर, जयपुर और जोधपुर के राजाओं के साथ सन्धियाँ की गईं, जिनसे अँगरेजों ने उनकी रक्षा करने का वचन दिया। बेगम समरू की सेना भी सिन्धिया का साथ छोड़कर दक्षिण से वापस आ गई। उससे साथ भी सन्धि कर ली गई।

देवगाँव और अर्जुनगाँव की सन्धियाँ—इस तरह सारी शक्ति नष्ट हो जाने पर भोसला और सिन्धिया ने दिसम्बर सन् १८०३ में सन्धि करना स्वीकार कर लिया। देवगाँव की सन्धि से भोसला ने कटक तथा अन्य कई स्थान अँगरेजों को दे दिये और बरार के कुछ जिलों पर निज़ाम का अधिकार मान लिया। अँगरेजों से शत्रुता रखनेवाले किसी देश के निवासी को नौकर न रखने का भी उसने वचन दिया। अर्जुनगाँव की सन्धि से सिन्धिया को दोआब के सब जिले अँगरेजों को देने पड़े। शाहआलम और राजपूत राजाओं पर भी उसका किसी प्रकार का अधिकार न रहा। गुजरात में भड़ौंच और दक्षिण में अहमदनगर तथा अन्य कुछ स्थान अँगरेजों को मिल गये। सिन्धिया ने भी अँगरेजों से शत्रुता रखनेवाले किसी देश के निवासी को

---

१ वेलेज़्ली, डेस्पैचेज़ जि० ३, पृ० ४८०।

२ वही, पृ० ४१७—१८।

नौकर न रखने का वचन दिया और पेशवा तथा निजाम के साथ कोई झगड़ा होने में अँगरेजों को पञ्च मान लिया।

गवर्नर-जनरल इन दोनों को भी सहायक सम्बन्ध के जाल में बाँधना चाहता था, परन्तु आर्थर वेलेजली इसके विरुद्ध था। उसने अच्छी तरह समझ लिया था कि सिन्धिया का अधिक दबाना असम्भव है। गवर्नर-जनरल को इन सन्धियों में सन्तोष न था। वह इनकी शर्तों का मनमाना अर्थ लगाकर अपना मतलब सिद्ध करना चाहता था। उसकी इस नीति से आर्थर वेलेजली भी तंग आ गया था। ग्वालियर का वापस न करना और देवगाँव की सन्धि के पहले छोटे छोटे जमीन्दारों के साथ जो जबानी समझौते हुए थे, उन पर जोर देना उसकी राय में गवर्नर-जनरल की सरासर जबरदस्ती थी। वह स्पष्ट शब्दों में लिखता है कि गवर्नर-जनरल जिसको "नम्रता" कह रहा है, दूसरों की दृष्टि में उसी का नाम "महत्त्वाकांक्षा" है। उसको अपने ऊपर विश्वास बहुत बढ़ गया है। कलकत्ते में डर की वजह से उसको कोई उचित सलाह देनेवाला नहीं है। देशी राजाओं के साथ नम्रता का व्यवहार करने ही से हित हो सकता है।[1] वेलेजली इन बातों को कब सुननेवाला था? जब तक फरवरी सन् १८०४ में सिन्धिया के साथ दूसरी सन्धि नहीं हो गई, उसको सन्तोष नहीं हुआ। भोंसला के दरबार में भी रेजीडेंट रख दिया गया और घूस देकर सब भेदों का पता लगाये रखने की उसको पूरी ताकीद कर दी गई।[2]

मराठों की हार के कारण—इन दिनों आपस ही में फूट थी, पहले से युद्ध की कोई तैयारी न थी, विदेशी अफसरों ने धोखा दिया था, इन सब का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि मराठों ने अपनी युद्ध-पद्धति छोड़कर कवायदी ढंग से काम लेने और पैदल सेना पर अधिक जोर देने में बड़ी भूल की। एक मराठा लेखक का कहना

१ वेलिंगटन, डेसपैचेज, पृ० ३६९–७०, ३९७, ३९९।
२ वही, पृ० ३५८–६०।

है कि "जिस दिन मराठों ने घोड़े की सवारी छोड़ी उसी दिन उनका राज्य भी चला गया'। आर्थर वेलजली का भी कुछ ऐसा ही मत था, वह अपने भाई गवर्नर-जनरल की इस बात को पसन्द न करता था कि मराठा यूरोपियन अफसर न रखें। उसका कहना था कि पुराने ढंग की घोड़सवार मराठी सेना से लड़ना सहज नहीं है।[1] किसी अंश में यह बात ठीक है। परन्तु अपने ढंग से लड़ाई लड़कर अन्त में मराठों की विजय हुई होती, इसमें बहुत सन्देह है। युद्ध के नये साधनों को स्वीकार करने में भूल न थी, वास्तव में भूल थी विदेशी सरदारों के रखने में। माहादजी के समय में डिबोयन का जो प्रभाव और उपयोग था, वह दौलतराव सिन्धिया के समय में न रहा था।

होलकर के साथ युद्ध—यदि होलकर ने पूना पर आक्रमण न किया होता, तो बहुत सम्भव था कि पेशवा अँगरेजों की शरण में न जाता। होलकर को इसका कुछ सन्देह भी न था। वह आक्रमण के पहले और बाद में भी पेशवा को अपनी मित्रता का विश्वास दिला रहा था और उसकी रक्षा करने के लिए तयार था। उसको जलन केवल सिन्धिया से थी जिसका पेशवा खुले तौर पर पक्षपात करता था। बेसीन की सन्धि हो जाने पर भी पेशवा इन दोनों में मेल कराना चाहता था, परन्तु अँगरेजों की कुटिल नीति के सामने उसकी कुछ भी न चली। मराठों के परस्पर वैर से लाभ उठाना ही कम्पनी की मुख्य नीति थी। वह पहले ही से सिन्धिया को दबाये रखने के लिए होलकर को जिस तरह सम्भव हो मिलाये रखने का प्रयत्न कर रहा था। पेशवा अँगरेजों का मित्र था। जिस समय होलकर ने पूना पर आक्रमण किया, अँगरेज रेजीडेंट वहीं मौजूद था, परन्तु उसने किसी तरह का विरोध प्रकट नहीं किया। ट्रावणकोर राज्य पर आक्रमण करने के लिए टीपू के साथ युद्ध छेड़ दिया गया था, परन्तु कम्पनी के परम मित्र निज़ाम के राज्य में औरंगाबाद लूटने के लिए होलकर को दण्ड देना तो दूर रहा, स्पष्ट रीति से विरोध तक

नहीं किया गया। इस तरह एक ओर तो होलकर को सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न किया गया और दूसरी ओर गुप्त रीति से उसके मुख्य सेनानायक अमीरखाँ को फोड़ने में कोई कसर उठा न रखी गई। होलकर अँगरेजों की इन चालों को समझ न सका। वह किसी न किसी तरह सिन्धिया का नाश देखना चाहता था, इसी लिए वह युद्ध में चुपचाप रहा।

होलकर की यह बड़ी भूल थी। यदि इस अवसर पर उसने सिन्धिया और भोंसला का साथ दिया होता, तो अँगरेजों का इस तरह विजय पाना सहज न था। उन दोनों के हारने पर उसकी आँखें खुलीं। अँगरेजों की विजय में उसका कोई लाभ भी नहीं हुआ और मराठों की शक्ति नष्ट हो गई। जिस तरह अब सिन्धिया, भोंसला और पेशवा के साथ व्यवहार किया जा रहा था, उसे देखकर होलकर को अपने लिए भी चिन्ता होने लगी। अपना सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए वह कुछ प्रश्नों को समझौता द्वारा निपटाना चाहता था। उसका कहना था कि चौथ वसूल करना मेरा पुराना अधिकार है, उसमें अँगरेजों को हस्तक्षेप न करना चाहिए और दोआब, बुँदेलखंड तथा दक्षिण की कुछ भूमि को, जो मेरे पूर्वजों के पास थी, वापस कर देना चाहिए। ऐसा करने से वह सिन्धिया के ढंग की सन्धि करने के लिए तैयार था।

परन्तु विजय की उमंग में अँगरेज उसकी इन बातों को कब सुननेवाले थे? अपना काम निकल जाने पर यह कहा जाने लगा कि वह तो गद्दी का अधिकारी तक नहीं है, वास्तव में गद्दी उसके भाई काशीराव को मिलनी चाहिए। अँगरेजों के अधीन जयपुर के राजा पर वह आक्रमण करने का विचार कर रहा है, समरूबेगम तथा रुहेलों को अपने पक्ष में मिलाने के प्रयत्न में लगा हुआ है और हिन्दू तथा मुसलमानों को अँगरेजों के विरुद्ध भड़का रहा है। जब होलकर ने देखा कि समझौते की कोई आशा नहीं है, तब उसने अपनी सेना के तीन अँगरेज अफसरों को, जो उसकी नौकरी छोड़कर सेनापति लेक से मिलना चाहते थे, मरवा डाला। वह सिन्धिया की सी भूल करनेवाला न था, उसको विदेशियों पर कभी विश्वास न था। उसका यह कार्य भी अँगरेजों प्रति शत्रुता के भावों का प्रमाण समझा जाने लगा।

युद्ध के लिए समय उपयुक्त न था। इसके अतिरिक्त अपनी ओर से लड़ाई छेड़ने के दोषारोपण से भी गवर्नर-जनरल बचना चाहता था। इसलिए कुछ दिनों तक सन्धि की बातचीत होती रही। परन्तु सेनापति लेक तो लड़ाई के लिए कमर कसे बैठा था। वह लिखता है कि "मुझे किसी ने इतना परेशान नहीं किया जितना कि यह शैतान कर रहा है।" जब तक इस "लुटेरे" की शक्ति नष्ट नहीं की जायगी, भारतवर्ष में शान्ति स्थापित होना असम्भव है।[1] इसकी बात मानकर, अप्रैल सन् १८०४ में, गवर्नर-जनरल ने होलकर पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी।

आर्थर वेलेजली का मत—आर्थर वेलेजली की दृष्टि में भी होलकर केवल एक "लुटेरा सरदार" ही था, परन्तु इस अवसर पर उसके साथ युद्ध करने का वह पक्षपाती न था। उसकी राय में होलकर "मराठों में सबसे अधिक शक्तिशाली" था। अँगरेजों की सेना पिछले युद्ध से थकी हुई थी। होलकर की सेना में सिन्धिया और भोंसला के बहुत से सिपाही मिल गये थे। धन की भी कमी थी। सब रुपया युद्ध में खर्च हो जाने से कम्पनी के संचालक वेलेजली की नीति से असन्तुष्ट हो रहे थे। सिन्धिया तथा भोंसला पिछली हार से छटपटा रहे थे और बदला निकालने के लिए अवसर ताक रहे थे। गवर्नर-जनरल सन्धियों का मनमाना अर्थ लगाकर इन दोनों के साथ ऐसा व्यवहार कर रहा था कि जिससे इन दोनों से किसी प्रकार की सहायता मिलने की सम्भावना न थी। उलटे होलकर के पक्ष में इन दोनों के मिल जाने का बराबर भय था। दक्षिण में दुर्भिक्ष पड़ रहा था। ऐसी दशा में देशी राजाओं के साथ नम्रता की नीति का अनुसरण करके उनको सन्तुष्ट रखना ही उचित था।[2] परन्तु सेनापति लेक गवर्नर-जनरल को बराबर बढ़ावा दे रहा था। विजय के मद से वास्तविक स्थिति का उसको ज्ञान न था और न इस समय उसको कोई स्पष्ट सलाह ही देनेवाला था। आर्थर वेलेजली की उचित

राय पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। पिछली सन्धियों के समय से ही दोनों भाइयों में मतभेद था। युद्ध या सन्धि करने का पूरा अधिकार इस बार लेक को दिया गया। आर्थर वेलेजली की एक एक बात सच निकली। यदि उसकी राय मानी गई होती, तो इस युद्ध में अँगरेजों की जैसी कुछ दुर्दशा हुई, न होने पाती।

युद्ध का प्रारम्भ—इस युद्ध में भी दक्षिण, गुजरात और उत्तरी भारत में तीनों ओर से होलकर पर आक्रमण करने का प्रबन्ध किया गया। पूर्ण सहायता देने के लिए सिन्धिया को लिखा गया और पजाब में सिखों को शान्त रखने का भी प्रयत्न किया गया। पहले तो कोई अड़चन न पडी और उत्तरी भारत में होलकर के मुख्य स्थान रामपुरा पर अधिकार कर लिया गया। इस पर वह मालवा की ओर हटने लगा। उसका पीछा करने या बरसात भर आगे न बढने की आर्थर वेलेजली ने सलाह दी, पर सेनापति लेक ने, उसकी बात न मानकर, कर्नल मानसन को होलकर का मार्ग रोकने के लिए भेज दिया। इतने ही में समाचार मिला कि बुँदेलखड की रक्षा के लिए जो अँगरेजी सेना थी, उसको अमीरखाँ ने लूट लिया और बहुत सी तोपें छीन लीं। अँगरेजों के बहुत कुछ लालच देने पर भी उसने होलकर की नौकरी छोडी न थी। इस समय तक अँगरेजी सेना की बराबर विजय होती रही थी, यह एक ऐसा धक्का लगा, जिसकी गवर्नर-जनरल को कभी सम्भावना न थी। वह लिखता है कि ब्रिटिश सेना के लिए यह बडी लज्जा की बात थी, ऐसी दुर्घटना कभी नहीं हुई थी। इसका कितना बुरा प्रभाव पडेगा यह अनुमान करना कठिन है।[1]

दूसरी ओर कर्नल मानसन की बडी दुर्दशा हो रही थी। वह एक सेना लेकर चम्बल की ओर इस आशा से बढ रहा था कि मालवा की तरफ से कर्नल मरे आ रहा होगा। परन्तु जब वह मुकुन्दरा पहुँचा तब उसको पता लगा कि होलकर के पड़ाव का समाचार पाकर कर्नल मरे गुजरात लौट गया। होलकर पर अकेले आक्रमण करने का मानसन को साहस न हुआ, रसद भी चुक गई, इस

---

१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० ४, पृ० ८१–८५।

पर वह पीछे हटने लगा। होलकर के सवार अवसर पाकर भागती हुई अँगरेज़ी सेना पर टूट पड़े। उन्होंने रसद लूट ली और सारी सेना को छिन्न-भिन्न कर
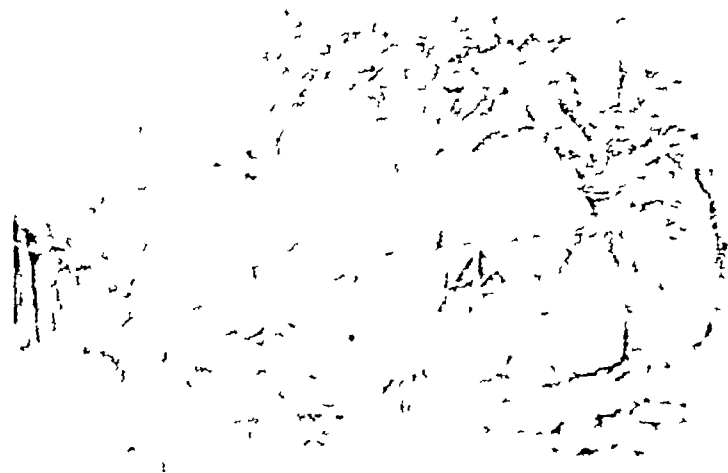
मुकुन्दरा

दिया। बची हुई सेना बेतहाशा भाग निकली। इतने ही में वर्षा आरम्भ हो गई और नदियों का पार करना मुश्किल हो गया। [illegible] मानसन रामपुरा पहुँचा। यहाँ उसको कुछ और सेना मिली पर तब भी उसको शत्रु पर आक्रमण करने का साहस न हुआ।

भरतपुर का घेरा—होलकर की सफलता देखकर उसका दल धीरे धीरे बढने लगा। सिन्धिया और पेशवा को गवर्नर-जनरल अपने पक्ष में किसी न किसी तरह मिलाये रखना चाहता था। होलकर के जीते हुए राज्य को उसने उन्हीं दोनों में बाँट देने तक का वचन दे दिया था। पहले सिन्धिया ने भी अँगरेजों की सहायता के लिए एक सेना भेजी, परन्तु अब यह सेना होलकर से मिल गई। सिन्धिया ने अपने एक अँगरेज अफसर को कैद कर दिया और वह खुले तौर पर होलकर की सहायता करने का विचार करने लगा। मध्य भारत के कुछ राजा भी अँगरेजों के व्यवहार से असन्तुष्ट थे और होलकर का साथ देने के लिए तैयार थे। इनमें सबसे मुख्य भरतपुर का राजा रणजीतसिंह था। यह पहले सिन्धिया के अधीन था, परन्तु युद्ध छिड़ने पर इसने अँगरेजों के साथ सन्धि कर ली थी। अब वह अँगरेजों के व्यवहार से बहुत असन्तुष्ट हो रहा था। उसके शासन में किसी तरह का हस्तक्षेप न करने का वचन दिया गया था, पर अँगरेज इसके लिए बराबर प्रयत्न कर रहे थे और उसके राज्य में अपनी अदालतें खोलना चाहते थे। तीर्थस्थानों में भी गोवध करने में अँगरेजों को संकोच न होता था। इससे हिन्दू जनता बड़ी क्षुब्ध हो रही थी। अँगरेजों के विरुद्ध भरतपुर के राजा को यह बड़ी भारी शिकायत थी।[1]

होलकर ने पहले मथुरा पर अधिकार कर लिया। उसने दिल्ली छीनने का भी प्रयत्न किया, पर लेक के बढने का समाचार पाकर वह आगरे की तरफ हट गया। मानसन की हार से लेक झुँझला गया था और बड़ी तेजी से आगे बढ रहा था। होलकर अपनी घोड़सवार सेना के साथ फतेहगढ के निकट पड़ा हुआ था। लेक ने उस पर सहसा आक्रमण कर दिया। उसको पहले से इसका कुछ पता भी न था। वहाँ से बढकर लेक ने डीग के किले पर, जहाँ पहले ही से युद्ध हो रहा था, अधिकार कर लिया। भरतपुर का पहला राजा सूरजमल डीग ही में रहता था। थॉर्न लिखता है कि यहाँ का

१ वेलेजली, डेसपैचेज, जि० ४, पृ० १८३–८८।

किला बड़ा दृढ़ बना हुआ था। इसके पास ही राजा का सुन्दर महल और विशाल उद्यान था।

टाग व येनार

की हिम्मत ऐसी टूटी हुई थी कि उनसे आगे बढा न जाता था, इस पर हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने आगे बढकर अपने साहस का परिचय दिया।[1] इन धावों मे लगभग तीन हजार अँगरेजी सैनिक मारे गये। अन्त मे लेक को इस किले के लेने का विचार छोडना पडा। सुरंग और तोपों से किलो को तोडने का जो ढंग है, उससे काम न लेकर बार बार धावा करने मे सेनापति लेक ने अपना हठ दिखलाया। यदि ऐसा न किया जाता तो सम्भव था कि अँगरेजो की इतनी हानि न होती। इसके बाद ही सन्धि की बात-चीत होने लगी। एक छोटे से राज्य के लिए अँगरेजो की शक्ति से अधिक दिनों तक टक्कर लेना असम्भव था। दूसरे होलकर की भी हार हो रही थी। बीस लाख रुपया राजा से हरजाना मॉगा गया, पर उसने तीन लाख से अधिक नहीं दिया। अँगरेजों ने उसको डीग भी वापस कर दिया और जैसे तैसे इस मामले को, जिससे उनकी चारो ओर बदनामी हो रही थी, समाप्त किया।

वेलेज़ली की वापसी—कम्पनी के संचालको और वेलेजली मे बहुत दिनों से मतभेद चल रहा था। वे लोग रुपया चाहते थे, वेलेजली शान चाहता था। जहाँ वे बचत करना चाहते थे, वहाँ वह खर्च करना चाहता था। वे लोग प्रत्येक कार्य्य को आर्थिक लाभ की दृष्टि से देखते थे, पर वेले-जली को रुपये की पर्वाह न थी, उसे किसी न किसी तरह साम्राज्य का निर्माण करना था। इस मतभेद के कारण दोनो मे जरा जरा सी बात पर झगडा होता था। वेलेजली ने उनसे बिना पूछे ही अपने दोनो भाइयो को बडे बडे ओहदे दे दिये थे, फोर्ट विलियम कालेज खोल दिया था, कलकत्ते मे गवर्नर-जनरल के रहने के लिए शानदार कोठी बनवा ली थी और अवध का मामला भी अपने मनमाने ढग से निपटा लिया था। उसकी इन सब बातो से संचा-लक बहुत चिढ रहे थे। निजी व्यापार के सम्बन्ध मे भी दोनों की राय एक न थी। इँग्लैंड की सरकार वेलेजली के पक्ष मे रहती थी, इसलिये वह संचालकों की कुछ भी पर्वाह न करता था। खुले तौर पर वह उनकी आज्ञाओं

---

१ थार्न, मेम्वायर्स ऑफ दि लेट वार इन इंडिया, पृ० ४५२।

का उल्लंघन करता था और उनको ''बनिया'' कहकर सदा उनका तिरस्कार किया करता था।

बेसीन की सन्धि से इंग्लैंड-सरकार को भी इसकी नीति में सन्देह होने लगा था। सिन्धिया और भोंसला के साथ युद्ध में विजय होने पर यह सन्देह कुछ काल के लिए दब गया और इसकी बड़ी प्रशंसा की गई। संचालकों ने भी इसको बधाई दी, पर साथ ही साथ यह स्पष्ट कर दिया कि युद्ध के न्याय-संगत होने में उनको सन्देह है। उनकी इस ''अनुदारता'' से वेलेज्ली बहुत चिढ़ गया। वह पहले दो बार इस्तीफा दे चुका था, लेकिन केसलरी के समझाने-बुझाने पर ठहरा हुआ था।

परन्तु सन् १८०४ की दुर्घटनाओं से यह स्थिति एकदम बदल गई। अब इंग्लैंड-सरकार को भी इसका समर्थन करना कठिन हो गया। कम्पनी का कर्जा दुगुना हो गया था, खर्चे का कोई अन्त न था, खजाना खाली था, युद्ध के शीघ्र समाप्त होने की आशा न थी, होलकर बराबर लड़ रहा था और सिन्धिया भी युद्ध की तैयारी कर रहा था। कोर्ट सब, मनमानी नियुक्ति और बार बार आज्ञा उल्लंघन करने के लिए संचालक उसकी निन्दा कर रहे थे। कौंसिल की बैठकों में अनुपस्थित रहना 'बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल' की राय में भी अनुचित था। आर्थर वेलेजली और जनरल लेक को सन्धि तथा युद्ध के पूर्ण अधिकार दे देना बहुतों की दृष्टि में नियम-विरुद्ध था।

का उल्लंघन करता था और उनको "बनिया" कहकर सदा उनका तिरस्कार किया करता था।

बेसीन की सन्धि से इँग्लेंड-सरकार को भी उसकी नीति में सन्देह होने लगा था। सिन्धिया और भोसला के साथ युद्ध में विजय होने पर यह सन्देह कुछ काल के लिए दब गया और उसकी बड़ी प्रशंसा की गई। संचालकों ने भी उसको बधाई दी, पर साथ ही साथ यह स्पष्ट कर दिया कि युद्ध के न्याय-संगत होने में उनको सन्देह है। उनकी इस "अनुदारता" से वेलेजली बहुत चिढ़ गया। वह पहले दो बार इस्तीफा दे चुका था, लेकिन कैसलरी के समझाने-बुझाने पर ठहरा हुआ था।

परन्तु सन् १८०४ की दुर्घटनाओं से यह स्थिति एकदम बदल गई। अब इँग्लेंड-सरकार को भी उसका समर्थन करना कठिन हो गया। कम्पनी का क़र्ज़ा दुगुना हो गया था, खर्चे का कोई अन्त न था, खजाना खाली था, युद्ध के शीघ्र समाप्त होने की आशा न थी, होलकर बराबर लड़ रहा था और सिन्धिया भी युद्ध की तैयारी कर रहा था। बेहद खर्च, मनमानी नियुक्ति और बार बार आज्ञा उल्लंघन करने के लिए संचालक उसकी निन्दा कर रहे थे। कौंसिल की बैठकों में अनुपस्थित रहना 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' की राय में भी अनुचित था। आर्थर वेलेजली और जनरल स्टुआर्ट को सन्धि तथा युद्ध के पूर्ण अधिकार दे देना बहुतों की दृष्टि में नियम-विरुद्ध था। मानसन की दुर्दशा का समाचार मिलने पर संचालकों ने उसको वापस बुलाना निश्चित कर लिया। वेलेजली के सबसे बड़े समर्थक, इँग्लेंड के प्रधान सचिव, पिट की भी राय थी कि गवर्नर-जनरल "बिना कुछ सोचे विचारे बिलकुल नियम-विरुद्ध काम कर रहा है, अब उसके हाथ में शासन रखना ठीक नहीं है।" वेलेजली भी किसी तरह जाना चाहता था, इँग्लेंड-सरकार को वह लिख भी चुका था। परन्तु उसके पत्र पहुँचने के पहले ही लार्ड कार्नवालिस दूसरी बार भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल नियुक्त कर दिया गया। ता० ३० जुलाई सन् १८०५ को वह कलकत्ता पहुँचा और १५ अगस्त को वेलेजली इँग्लेंड वापस चला गया।

टामस मनरो, जो वेलेजली के समय में इस नीति का पक्षपाती
मे लिखता है कि जिस राज्य मे रक्षा के लिए सहायक सेना
उसका राजा निर्बल और अत्याचारी हो जाता है। समाज
मे आत्म-सम्मान के भाव नष्ट हो जाते हैं और साधारण प्रजा दरिद्र तथा पतित हो जाती है। पहले राजा को प्रजा का कुछ भय रहता था, परन्तु रक्षा के लिए अंगरेजी सेना मिल जाने से, वह निश्चिन्त होकर भोग-विलास मे पड जाता है और प्रजा पर तरह तरह के अत्याचार करने लगता है। इन सन्धियो मे जो शर्तें रखी जाती हैं, उनका पूर्ण रूप से पालन करना असम्भव है। भारतवासियो में आत्म-सम्मान का भाव एकदम नष्ट नहीं हो गया है। वे चुपचाप अपमान को सहन न करेंगे, जिसका परिणाम यह होगा कि उनके राज्य कर्नाटक की तरह जब्त कर लिये जायँगे। यह रक्षक नीति भक्षक का काम करेगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाय कि इससे शान्ति स्थापित हो जायगी, तब भी यह कहना पडेगा कि इसके लिए स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय चरित्र और मनुष्य को उच्च बनानेवाले सभी भावों का बलिदान करना पडेगा। इस तरह भीतरी फूट फैलाकर राज्यों के अपहरण करने से लडकर जीत लेना कहीं अच्छा है।[1]

सिडनी ओयन का भी ऐसा ही मत था। वह लिखता है कि राज-सत्ता के जो वास्तविक चिह्न हैं, उनके छीन लेने से किसी राजा मे अच्छा शासन करने का उत्साह नहीं रह जाता है। वह विषयी हो जाता है और प्रजा भी उसी का अनुकरण करने लगती है। इस प्रथा से वास्तव मे "राज्य की रीढ टूट जाती है" और राजनैतिक जीवन चला जाता है। ऐसी दशा मे उनको ब्रिटिश राज्य मे मिला लेने के अतिरिक्त शासन के सुधार का कोई उपाय नहीं रह जाता है।[2] केवल सेना हाथ मे न होने से राजाओं मे ये दोष क्यो आ जाते हैं, इस प्रश्न के उत्तर मे विल्सन लिखता है कि "जब जिम्मेदारी

---

१ अर्बथनट, सेलेक्शंस फ्राम दि मिनिट्स ऑफ सर टामस मनरो, पृ० ११४–१५।

२ वेलेजली, डेसपैचेज, स० ओयन, भूमिका, पृ० २७–२८।

सहायक प्रथा रक्षा के लिए निश्चिन्तता हो जाती है, तब अच्छे काम करने
सहायक सन्धियों दब जाती हैं, या नष्ट हो जाती हैं और व्यक्तिगत सुख में
लिए अँगरेजों की रुचि उत्पन्न हो जाती है"।[१]

आर्थर वेलेजली भी इन सन्धियों के पक्ष में न था। उसकी राय में इनका एक और बुरा परिणाम हुआ। राजाओं की निजी सेनाएँ टूट जाने से बहुत से सैनिक बेकाम हो गये और वे लूट-पाट मचाने लगे। उसने गवर्नर-जनरल को इसके समझाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु उसकी बात पर कुछ भी ध्यान न दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर इन लोगों ने बड़ा उपद्रव मचाया।

वेलेज़ली का उद्देश्य—उसका उद्देश्य और उसकी नीति पहले से निश्चित थी। घटनाओं के अनुसार अपनी नीति स्थिर करने की उसके लिए कोई आवश्यकता न थी। उसे तो किसी न किसी तरह घटनाओं को खींच-तानकर अपनी नीति के अनुसार लाना था। जो अधीन राज्य थे, उनमें हस्त-क्षेप करने के लिए शासन ठीक न होने का बहाना था। जो स्वतंत्र राज्य थे, उनको अधीन बनाने के लिए जमांशाह और फ्रांसीसियों के भय का दिखावा था। सारे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित करना वास्तव में उसका मुख्य उद्देश्य था। परन्तु इसको छिपाकर जब कहा जाता है कि भारत में शान्ति स्थापित करना और जनता की दशा सुधारना उसका उद्देश्य था, तब उसकी नीति की विस्तृत रूप से आलोचना करने की आवश्यकता होती है। जमांशाह और फ्रांसीसियों के आक्रमण के भय में कितना तत्व था, यह दिखलाया जा चुका है। अवध और कर्नाटक में शासन की जो दशा थी, उसके भी कारण दिखलाये जा चुके हैं। टीपू और मराठों को किस तरह लड़ने के लिए मजबूर किया गया था, इसका भी उल्लेख किया जा चुका है। इतने पर भी हटन लिखता है कि उसको रुपये-पैसे की पर्वाह न थी। स्थायी शासन, अत्याचार से रक्षा, स्वतन्त्रता तथा उन्नति के लिए भारत व्याकुल हो रहा था। कोई भी हिन्दू या मुसल

---

१ मिल, जि० ६, पृ० ५५९।
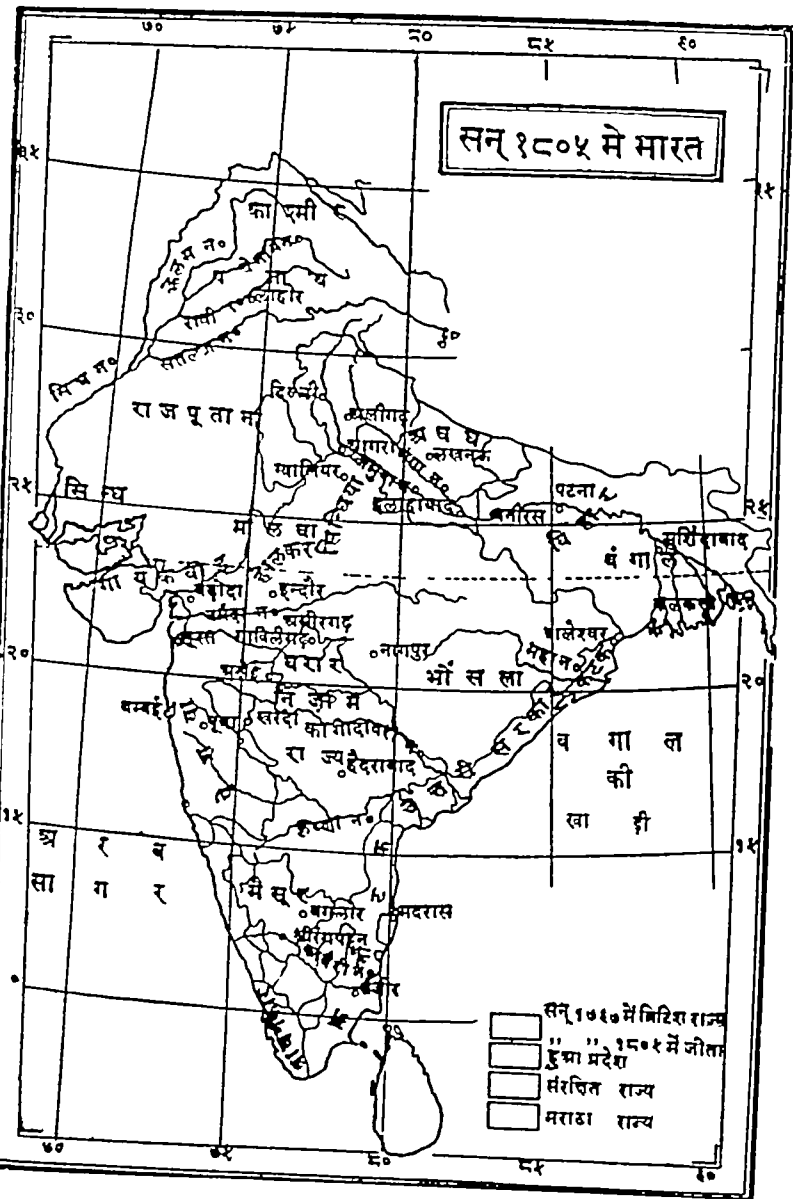
और कमजोरियो को उसने थोडे ही काल मे अच्छी तरह समझ लिया था। संचालकों के प्रति उसकी धृष्टता की कई एक इतिहासकारों ने निन्दा की है। महत्त्वाकाक्षा की मात्रा उसमे कितनी अधिक थी, यह उसके कार्यों ही मे प्रकट है। परन्तु इसमे व्यक्तिगत लाभ का उस पर दोष नहीं लगाया जा सकता। हाँ, अपने भाइयो की उसको अवश्य बडी चिन्ता रहती थी। यश और मान की उसमे एक बडी भारी कमजोरी थी। अपने पद का ध्यान रखते हुए उपाधियो पर असन्तोष प्रकट करना उसके लिए शोभा न देता था। वह अपने को एक व्यापारिक सस्था का सेवक न समझता था। उसको भारतवर्ष के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य के शासक होने का अभिमान था। अपने बोल-चाल, रहन-सहन, सभी मे वह इस बात के दिखलाने की चेष्टा करता था। तडक-भडक को वह बहुत पसन्द करता था। उसको लोग "सुलतानी अँगरेज" कहा करते थे।

साहित्य से उसको बहुत प्रेम था। अँगरेजी भाषा लिखने में वह बड़ा निपुण था। अपनी बात के समर्थन मे वह दलीलो की भरमार करता था। बोलने-चालने मे उसका मुकाबला करना सहज न था। व्यंग और हास्य की भी उसमे कमी न थी। स्वास्थ्य ठीक न रहने पर भी वह काम से कभी घबडाता न था। उसका कहना था कि काम करने मे मुझे कुछ कठिनाई अवश्य होती है, पर ये कठिनाइया ही मेरे प्रतिदिन का भोजन है, जिनसे मेरे शरीर का पालन होता है।[१] उसका ध्यान सभी ओर रहता था। भारतवर्ष के पशु-पक्षियो का अध्ययन करने के लिए उसने डाक्टर बुकानन को नियुक्त किया था। उसी की सहायता के लिए बारिकपुर मे पशुओं का अजायबघर बनवाया गया। कलकत्ता नगर की शोभा बढाने के लिए वेलेजली बराबर चिन्तित रहता था। शहर की सफ़ाई और सडको के प्रबन्ध के लिए उसने एक योजना तैयार की थी। कलकत्ता का विशाल और सुन्दर 'सरकारी भवन' उसी का बनवाया हुआ है। इँग्लैंड जाकर वह बहुत दिनों तक जीवित रहा। उस पर भी अभियोग चलाने का प्रयत्न किया गया, पर सफ

१ हटन, वेलेजली, पृ० १९६।

लता न हुई। बाद में कम्पनी के सचालकों ने भी उसकी योग्यता को स्वीकार किया। भारतवर्ष में उसकी एक मूर्ति स्थापित करने की आज्ञा दी
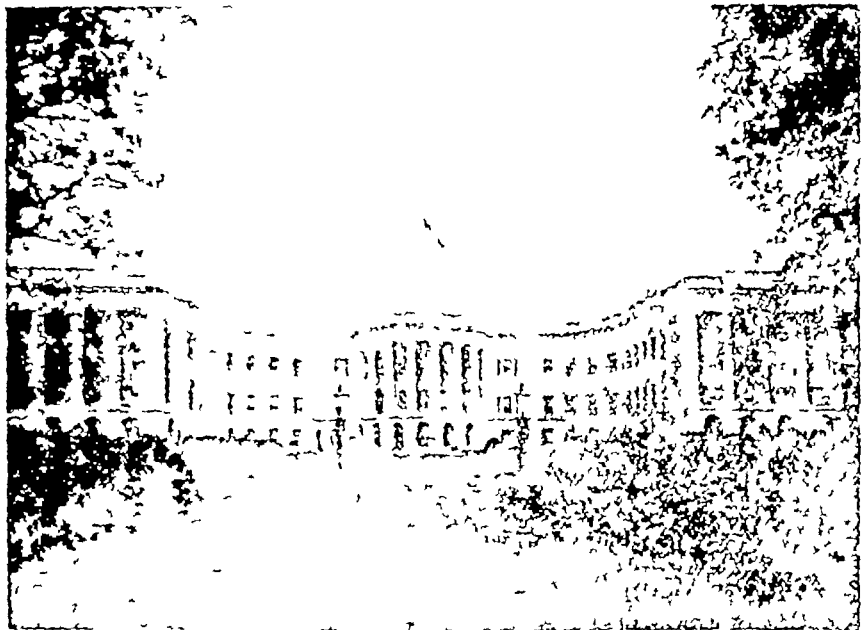
कलकत्ता का सरकारी भवन

गई और २० हजार पौंड उसको भेंट किये गये। सन् १८४२ में उसका देहान्त हुआ।

परिच्छेद ६

मराठों का पतन

नीति में परिवर्तन—इँग्लेंड की सरकार और कम्पनी के संचालक दोनों वेलेजली की नीति से तंग आ गये थे। खजाना खाली हो रहा था और लड़ाइयों का कोई अन्त न था। वे किसी न किसी तरह भारतवर्ष में शान्ति स्थापित करना चाहते थे। यह कार्य्य वृद्ध कार्नवालिस को सौंपा गया। ६७ वर्ष की अवस्था में वह दूसरी बार गवर्नर-जनरल होकर जुलाई सन् १८०५ के अन्त में भारतवर्ष पहुँचा। इस समय सिन्धिया को किसी तरह युद्ध से अलग रखना था। उसके साथ सबसे बड़ा झगड़ा ग्वालियर और गोहद का था। पिछले युद्ध में इन दोनों स्थानों पर अधिकार कर लिया गया था और अर्जुनगाव की सन्धि हो जाने पर भी ये स्थान उसको वापस नहीं किये गये थे। आर्थर वेलेजली की राय में गवर्नर-जनरल की यह सरासर जबरदस्ती थी। सिन्धिया के कुछ सरदारों को १६ लाख रुपया साल की पेंशन देना भी निश्चित हुआ था। इसके हिसाब में भी झगड़ा पड़ रहा था। इन सब बातों से चिढ़कर सिन्धिया ने नायब रेजीडेंट को निगरानी में रख छोड़ा था और होलकर से मेल करने का प्रयत्न कर रहा था।

इन झगड़ों के मिटाने के लिए कार्नवालिस ने ग्वालि[illegible] और गोहद का वापस करना निश्चित कर लिया। सन्धि के लिए वह ऐसा उत्सुक कि नायब रेजीडेंट को मुक्त करने की शर्त पर भी वह इस समय जोर उचित न समझता था। वह जमुना नदी को कम्पनी के राज्य की

पश्चिमी सीमा बनाना चाहता था। राजपूत राजाओं के झगड़ों में पड़ना उसकी राय में भूल थी। वह शाहआलम को दिल्ली में रखकर उसकी रक्षा का भार लेने का भी पक्षपाती न था। मछेरी (अलवर) और भरतपुर के साथ जो सन्धियाँ हुई थीं, उनको भी वह तोड़ देना चाहता था। उसका अनुमान था कि इस तरह कम्पनी उनकी रक्षा की जिम्मेदारी से बच जायगी और सिन्धिया उनके झगड़ों में पड़ जायगा। जीती हुई भूमि को लौटाकर वह होलकर के साथ भी सन्धि करने के लिए तैयार था। उसका कहना था कि पिछली घटनाओं से ब्रिटिश सरकार के "न्याय तथा नम्रता" पर से देशी राज्यों का विश्वास उठ गया है। मैं उसको फिर से स्थापित करना चाहता हूँ। मेरी राय में "कम्पनी के राज्य की रक्षा तथा शान्ति के लिए इसकी बड़ी आवश्यकता है।"[१]

कार्नवालिस की मृत्यु—सेनापति लेक की राय में कार्नवालिस का यह प्रबन्ध राजपूत तथा अन्य छोटे छोटे राजाओं के साथ सरासर "विश्वासघात" था। सिन्धिया के साथ युद्ध के समय पर उनको रक्षा का वचन दिया जा चुका था। अब उनको इस तरह छोड़ देना किसी तरह उचित न था। यह समझौते लेक के ही किये हुए थे। अपनी बात को इस तरह जाते हुए देखकर उसे बड़ा दुख हो रहा था और वह इस्तीफ़ा देकर वापस जाना चाहता था। परन्तु कार्नवालिस अपनी बात पर तुला हुआ था। लेक का उसे पहले ही से अनुभव था। वेलेजली की तरह उसको पूर्ण स्वतंत्रता देकर वह युद्ध को बढ़ाना न चाहता था। उसकी राय में गवर्नर-जनरल और सेनापति के पदों को अलग अलग रखना नीतियुक्त न था। इसी लिए वह सेनापति भी बनकर आया था। भारतवर्ष में पहुँचते ही उसने युद्ध स्थगित करने के लिए लिख दिया था। सब झगड़ों को निपटाने के लिए वह कलकत्ते से उत्तरी भारत के लिए स्वयं चल पड़ा, परन्तु ता० ५ अक्तूबर को गाजीपुर ही में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी अवस्था बहुत हो चुकी थी, कर्तव्यवश उसने

---

१ लार्ड लेक के नाम पत्र, ता० १९ सितम्बर सन् १८०५।

गवर्नर-जनरल के पद को स्वीकार किया था। भारतवर्ष पहुँचने पर उसका स्वास्थ्य बहुत बिगड गया था। गाजीपुर मे उसका मकबरा बना हुआ है।

कार्नवालिस का यह विश्वास था कि मराठो के साथ अन्याय किया गया है। वह लिखता है कि होल्कर एक "योग्य और शक्तिशाली" शासक था। किसी न किसी तरह सिन्धिया और भोसला के साथ युद्ध शान्त हो जाने पर उसके साथ भिडना वेलेजली की बडी भूल थी। टीपू से वह स्वय अकारण लड बैठा था, परन्तु बुढापे मे वह मराठो के साथ अन्याय को दूर करने के लिए चिन्तित था। आते ही उसन सिन्धिया और भोसला को सहानुभूति-सूचक पत्र लिखे थे और उनकी शिकायतो को दूर करने के लिए वचन दिया था। साथ ही साथ उसका यह भी विश्वास था कि कम्पनी की आर्थिक दशा देखते हुए अधिक दिनो तक युद्ध का चलाना असम्भव था। वह लिखता है कि वास्तव मे शासन का साधारण काम चलाने के लिए भी रुपया नहीं था। इसके लिए उसको मदरास स रुपया मँगाना पडा था और चीन को जो चाँदी जा रही थी, उसे रोक लना पडा था। इस लडाई से कम्पनी को अधिक लाभ होने की भी उसे आशा नहीं थी क्योंकि जो कुछ मिलना था, वह मिल चुका था। ऐसी दशा मे उसने केवल "शान" के लिए धन का लुटाना और नरहत्या करना उचित न समझा।

इस नीति के लिए प्राय सभी अंगरेज इतिहासकारो ने उसको बहुत बुरा-भला कहा है। कुछ का तो कहना है कि बुढापे मे उसकी मति ठिकाने न थी। उन लोगो की राय मे यदि वेलेजली कुछ दिन भारतवर्ष मे और रह जाता, तो वह सबको ठीक कर देता। उन दिनो की स्थिति देखते हुए इसका विश्वास नही होता। होलकर पजाब अवश्य भाग गया था, पर मराठो मे धीरे धीरे एका हो रहा था। वेलेजली के अकारण हस्तक्षेप से बहुत से राजा असन्तुष्ट हो रहे थे। फिर सबसे भारी बात तो यह थी कि कम्पनी का खजाना खाली था, २० लाख रुपया अवध के नवाब से लेकर युद्ध का खर्च चलाया जा रहा था। वेलेजली स्वय इस समय जैसे-तैसे सन्धि करने के लिए [illegible]न्ति हो रहा था। भारतवर्ष छोडते समय इस सम्बन्ध मे बार्लो ने उससे

परामर्श भी किया था।[1] दूसरी बात यह कही जाती है कि उन राजाओं का, जिनको रक्षा का वचन दिया गया था, कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया। इतिहासकार स्मिथ लिखता है कि मराठों के लूटने पर लाखों करोड़ो गरीब किसानों की क्या दशा होगी, इसका कार्नवालिस ने कुछ भी विचार न किया।[2] वचन का पालन न करना हर समय निन्दनीय है। परन्तु भारतवर्ष के इतिहास मे अँगरेजों को इसका ध्यान ही कब रहा ? वेलेजली ने किस सन्धि का पालन किया ? जिस रीति से उसने सन्धियों का पददलन किया, शायद ही किसी दूसरे गवर्नर-जनरल ने किया हो। इसके लिए उसको दोष नहीं दिया जाता है, परन्तु उन सन्धियों को, जो केवल स्वार्थवश की गई थीं, तोड़ने के लिए कार्नवालिस बड़ा दोषी ठहराया जाता है।

सर जार्ज बार्लो—कार्नवालिस के मरने पर कौंसिल का सबसे बड़ा मेम्बर बार्लो गवर्नर-जनरल हुआ। मराठों से युद्ध करने के लिए वेलेजली को सबसे अधिक परामर्श इसी ने दिया था। उसका मत था कि भारतवर्ष मे एक भी ऐसे देशी राज्य को नहीं छोड़ना चाहिए, जिसकी रक्षा का भार और नीति का सचालन अँगरेजों के हाथ मे न हो।[3] परन्तु अपने मालिको की निगाह फिरी हुई देखकर अब उसको अपनी बात बदलने मे भी किसी प्रकार का सकोच न था। उसने भी कार्नवालिस की नीति का ही अनुसरण करना निश्चित कर लिया।

युद्ध का अन्त—नवम्बर सन् १८०५ में सिन्धिया के साथ फिर से सन्धि की गई। ग्वालियर और गोहद उसको वापस कर दिये गये। 'ब्रिटिश शान'' को बनाये रखने के लिए यह कहा गया कि उसके "मित्रता के भावों का ध्यान रखकर'' ऐसा किया गया। सिन्धिया के सरदारों को जो १६ लाख रुपये की पेंशन दी जाती थी, बन्द कर दी गई और स्वयं

---

१ जान के, लाइफ ऑफ मेटकाफ, जि० १, पृ० १७२।

२ स्मिथ, आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० ६०८।

३ हटन, वेलेजली, पृ० ९१।

उसको ४ लाख रुपया सालाना देने का वचन दिया गया। इस चार लाख के बदले में बार्लो होलकर की मुख्य जागीर टोंक-रामपुरा सिन्धिया को देना चाहता था। मालकम लिखता है कि इस तरह से वह सिन्धिया और होलकर में परस्पर का वैर बराबर बनाये रखना चाहता था, परन्तु सिन्धिया ने उसकी इस चाल को समझकर उस जागीर को मुफ्त लेने से भी इनकार कर दिया।[1] सिन्धिया की स्त्री और लड़की के लिए उत्तरी भारत में ३ लाख रुपये की जागीरें दी गई। उसके राज्य की चम्बल नदी उत्तरी सीमा मान ली गई। चम्बल के उत्तर या कोटा के पूर्व किसी राज्य से चौथ लेने का अधिकार सिन्धिया को न रहा। जयपुर के राजा के साथ जो सन्धि की गई थी, वह तोड़ दी गई। अपनी मित्रता का विश्वास दिलाने पर भी यह कहा गया कि वह शत्रुओं का साथ दे रहा था। उदयपुर, जोधपुर, कोटा तथा मालवा के कई राज्यों के साथ सन्धि न करने का अँगरेजों ने वचन दिया और यह मान लिया कि अपने अधीन राज्यों के साथ चाहे जैसा व्यवहार करने का सिन्धिया को पूरा अधिकार है। इस तरह राजपूत राज्यों को जो रक्षा का वचन दिया गया था, वह तोड़ दिया गया। इन मनमानी शर्तों को पाकर सिन्धिया ने होलकर का साथ छोड़ दिया।

होलकर सिखों से सहायता लेने की आशा से पंजाब गया था। परन्तु सिखों के राजा रणजीतसिंह को पहले अपनी शक्ति दृढ़ करने की पड़ी थी, इन दिनों वह अँगरेजों से टक्कर न लेना चाहता था। इसके अतिरिक्त अँगरेजों ने कई एक सिख सरदारों को पहले से ही अपने पक्ष में मिला रखा था।[2] इस अवसर पर होलकर ने काबुल से भी सहायता लेने का विचार किया था। परन्तु फारस दूत भेजकर अँगरेजों ने अफगानिस्तान की सीमा पर भी युद्ध छिड़वा रखा था। इसलिए वहाँ से भी सहायता की आशा न थी। सिन्धिया

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० ३६३।

२ कहा जाता है कि रणजीतसिंह होलकर की सहायता करने के लिए तैयार था, परन्तु झिन्द के राजा ने समझा बुझाकर उसको मना कर दिया। इस राजा का अँगरेजों मेल था।

ने साथ छोड़ ही दिया था। ऐसी दशा में होलकर ने भी सन्धि कर लेना उचित समझा। जनवरी सन् १८०६ में जो सन्धि की गई, उसके अनुसार दक्षिण में उसका जितना राज्य जीत लिया गया था, वापस कर दिया गया। चम्बल नदी के उत्तर की ओर उसका कुछ अधिकार न रहा, परन्तु उसके दक्षिण में उसको स्वतंत्रता दे दी गई। होलकर ने बिना अँगरेजों की सलाह के किसी यूरोपियन को नौकर न रखने का वचन दिया।

होलकर वंश के साथ अँगरेजों की यह पहली सन्धि थी। यशवन्तराव अपनी हार को सहन न कर सका। इन्दौर वापस आकर वह नई तोपें ढलवा रहा था और सेना का फिर से संगठन करने में लगा था। शासन में भी वह सुधार करना चाहता था। पर इतने ही में उसका दिमाग ठिकाने न रहा और वह पागल हो गया। बन्दूक की नली फटने से उसकी एक आँख जाती रही थी, इसी लिए वह 'एकचश्मुद्दौला' के नाम से प्रसिद्ध था। मालकम लिखता है कि उसकी शिक्षा अच्छी हुई थी। वह फारसी समझ सकता था, पर लिख न सकता था। मराठी लिखने का उसको अच्छा अभ्यास था, हिसाब में भी वह बड़ा चतुर था। घोड़े की सवारी और भाला चलाने में वह अद्वितीय था। उसकी योग्यता के अनुसार उसका साहस भी था। आवश्यकता पड़ने पर वह किसी बात में हिचकता न था। वह एक वीर योद्धा था, पर शासन की उसमें योग्यता न थी। वह मराठा युद्ध-प्रणाली के सहारे भारतवर्ष में फिर से मराठा साम्राज्य स्थापित करना चाहता था।[1] यदि वह नीतिज्ञ हुआ होता और सिन्धिया तथा भोंसला के साथ मिलकर युद्ध करता, तो मराठा साम्राज्य का इतना शीघ्र पतन न होता।

निज़ाम और पेशवा—बार्लो यद्यपि हस्तक्षेप न करने की नीति का पक्षपाती था, पर जब मतलब का प्रश्न आ जाता था, तब वह भी न चूकता था। निजाम अपने दीवान मीरआलम को निकालकर उसकी जगह पर राजा महीपतराम को रखना चाहता था। मीरआलम कहने को तो निजाम का

---

१ मालकम, मेम्वायर्स ऑफ़ सेंट्रल इंडिया, जि० १, पृ० २५४–५५।

दीवान था, पर वास्तव में वह अँगरेजों का नौकर था। निजाम की इच्छा के विरुद्ध वह दीवान बनाया गया था और उसको बराबर रुपया दिया जाता था। निजाम के दीवान को अपने हाथ में रखना अँगरेजों की नीति थी। अन्त में राजा चन्दूलाल नायब दीवान बनाया गया, जो बराबर अँगरेजों का कहना करता रहा और भोग-विलास में फूँकने के लिए निजाम को भी काफी रुपया देता रहा।[1] सहायक सन्धियों से देशी राजाओं को यही शासन की स्वतन्त्रता दी गई थी।

कम्पनी के सचालक बेसीन की सन्धि को भी, जिसके कारण मराठा युद्ध हुआ था, बदलना चाहते थे। यह सन्धि वार्लो की सलाह से हुई थी, इसका बदलना वह सहन न कर सकता था। परन्तु प्रकट रूप से अपने स्वामियों की आज्ञा का विरोध करने की अपेक्षा उसने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि स्वय पेशवा सन्धि में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहता था।[2] यह बात सत्य नहीं जान पडती। सन्धि होने के बाद से ही वह स्वतन्त्र होने का प्रयत्न कर रहा था। उसकी तरफ से जो चाहे कह दिया जाता था, अपने विचार प्रकट करने की उसको स्वतन्त्रता ही कब दी जाती थी?

विल्लौर का उपद्रव—टीपू के बेटे और रिश्तेदार विल्लौर में नजरबन्द रहते थे। जुलाई सन् १८०६ में यहाँ एक बडा उपद्रव हो गया। मदरास के गवर्नर विलियम बेंटिक की अनुमति से स्थानीय सेनापति ने एक आज्ञा निकाल दी कि सिपाहियों को एक नये ढंग की पगडी बाँधनी पडेगी, दाढी मूछ भी एक खास ढग से बनवानी पडेगी और माथे पर तिलक या अन्य कोई धार्मिक चिह्न न लगाया जायगा। इस 'मूर्खता की आज्ञा" से सारी सेना में सनसनी फैल गई और सिपाही समझने लगे कि उनको ईसाई बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। उन्होंने किले पर कब्जा कर लिया और कुछ अँगरेजों को मार डाला। अर्काट से एक अँगरेजी सेना आ गई और

---

१ ग्रिविल, हिस्ट्री ऑफ़ दि डेकन, जि० २, पृ० १४६-४७।

२ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इडिया, जि० १, पृ० ३८१-८३।

उपद्रव शीघ्र ही शान्त हो गया। सिपाहियों को बड़ा कड़ा दंड दिया गया और टीपू के बेटे कलकत्ता भेज दिये गये। वास्तव में उनका कोई दोष था या

मदरास के सिपाही

नहीं, इसकी पूरी तरह से जाँच तक नहीं की गई। इस पर संचालकों ने मदरास के सेनापति तथा गवर्नर दोनों को वापस बुला लिया।

बार्लो ने खर्च घटाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, इसी लिए कम्पनी को कुछ लाभ भी होने लगा। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि वह "सबसे नीच गवर्नर-जनरल" था। उसके समय में सिन्धिया और होलकर के साथ जो सन्धियाँ की गईं, उनसे "ब्रिटिश शान" पर धब्बा लग गया। वह नीच था, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु उसकी नीचता इन सन्धियों के करने में न थी, इसका पता उसके दूसरे ही कामों में मिलता है। वह देशी राज्यों को आपस में लड़ाने का बराबर प्रयत्न किया करता था। मालकम लिखता है कि वह कुछ भूमि देकर के भी मछेरी और भरतपुर के साथ सन्धियाँ तोड़ देना चाहता था।[1] मेटकाफ का तो यहाँ तक कहना है कि गवर्नर-जनरल की राय में देशी राज्यों के झगड़ों ही में ब्रिटिश शासन की दृढ़ता थी, इसी लिए वह जान-बूझकर इन झगड़ों को

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० ३७३।

बढ़ाया करता था।[1] अपने स्वामियों को प्रसन्न रखने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार था।
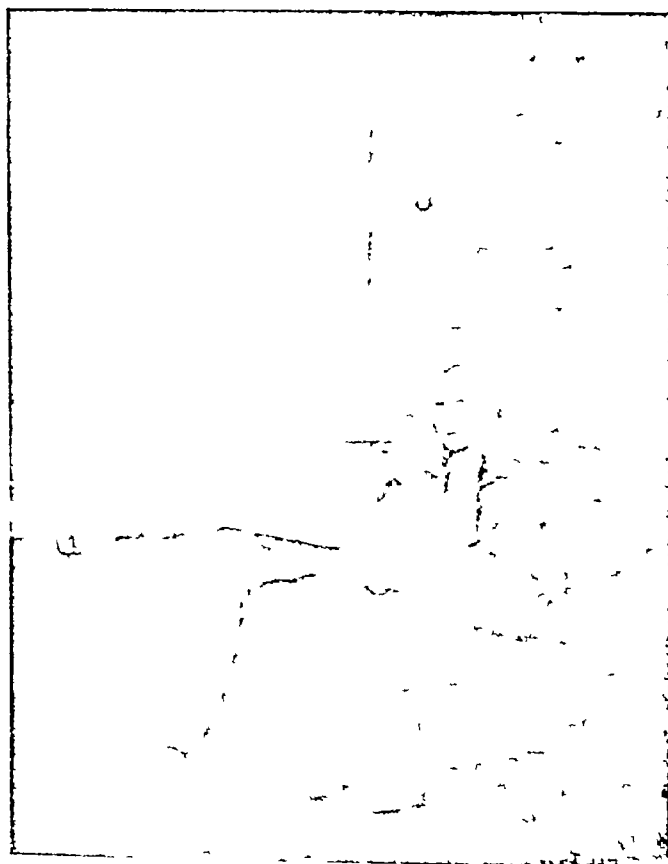
लार्ड मिंटो

लार्ड मिंटो—संचालक बार्लो को ही गवर्नर-जनरल रखना चाहते परन्तु इँग्लेंड की सरकार एक दूसरे ही व्यक्ति को चाहती थी। अन्त

१ जान के, सेलेक्शन्स फ्राम दि पेपर्स ऑफ मेटकाफ, पृ० ७।

दोनों की राय से, सन् १८०७ में 'बोर्ड ओफ कन्ट्रोल' का सभापति लार्ड मिंटो गवर्नर-जनरल बनाया गया और बार्लो मदरास का गवर्नर बना दिया गया। मिंटो बर्क का मित्र था, हेस्टिंग्ज पर अभियोग चलाने में भी उसने भाग लिया था, परन्तु फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति से उसके विचारों में भी बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था।

महाराजा रणजीतसिंह—रणजीतसिंह का जन्म सन् १७८० में हुआ था। उसका पिता महानसिंह 'सुकर चकिया' नामक मिसल का मुख्य सरदार था। रणजीतसिंह बचपन से ही अपने पिता के साथ लड़ाइयों पर जाया करता था। अपने पिता के मरने पर वह बराबर लड़ता रहा और [illegible]रे उसने कई एक मिसलों को दबा लिया। सन् १७९९ में जमांशाह ने उसको लाहोर का राजा बना दिया। लाहोर सिखों का मुख्य स्थान था, सन् १७९७ में इसको जमांशाह ने छीन लिया था। सन् १८०२ में रणजीतसिंह ने अमृतसर पर भी अधिकार कर लिया। अब वह एक स्वतंत्र राजा हो गया और उसके नाम के सिक्के चलने लगे। रणजीतसिंह की उन्नति से सिख मिसलों की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई। कई एक मिसलों का एक बड़ा राज्य बन गया और उसके भाग्य का निपटारा लाहोर के राजा के हाथ में आ गया।

खालसा दल—रणजीतसिंह के पहले मिसलों की सेनाएँ अलग अलग थीं, इनका आपस ही में युद्ध हुआ करता था। परन्तु रणजीतसिंह ने इन सबको मिलाकर एक बड़ी सेना तैयार की। मराठों की तरह उसने भी सिखों की युद्धप्रणाली को छोड़ दिया और सेना को कवायद सिखलाने के लिए कई एक यूरोपियन अफसरों को नौकर रखा। इनमें सब से मुख्य वेंचुरा था, यह महाराजा की 'फौज खास' का सेनापति था। रणजीतसिंह का इस पर बहुत विश्वास था। उसने इसको लाहोर का 'काजी' और 'हाकिम' भी बना दिया था। सिखों की सेना में भी घोड़सवार की अपेक्षा पैदल पर अधिक ध्यान दिया जाता था। इस पैदल सेना में ज्यादातर 'अकाली' थे, जो सदा लड़ने मरने के लिए तैयार रहते थे। तीस तीस मील का

धावा यह पैदल सेना एक दिन में लगाया करती थी। दीवान मोहकमचन्द प्रधान सेनापति था। उसके अधीन कई प्रसिद्ध सिख सरदार थे। तोपखाना का अध्यक्ष इलाहीबख्श नाम का एक मुसलमान था। सिपाही अँगरेजी ढंग की वर्दी पहनते थे। सेना में भर्ती होने का सिखों को ऐसा चाव था कि रणजीतसिंह को सिपाहियों का कभी अभाव न रहता था। इसी विशाल सेना के सहारे वह अपने राज्य की सीमा को बराबर बढ़ाया करता था।

अमृतसर की सन्धि—सिन्धिया के साथ जब युद्ध हो रहा था, तभी से अँगरेज सिखों को अपने पक्ष में मिलाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। रणजीतसिंह ने पंजाब में होल्कर का पीछा करने के लिए भी अँगरेजी सेना को आज्ञा दे दी थी। इस समय उसके राज्य का प्रारम्भ ही था, ऐसी दशा में वह अँगरेजों से कोई झगड़ा न करना चाहता था। परन्तु अब एक ऐसा प्रश्न उपस्थित हो गया, जिसके कारण उसको अँगरेजों का सामना करना पड़ा। सतलज और जमुना के बीच का देश पहले नाम मात्र को सिन्धिया के अधीन था। इसमें कई एक छोटे छोटे सिख राज्य भी थे, जिनमें मुख्य पटियाला, नाभा और झिन्द, 'फुलकिया मिसल' के राज्य थे। इन सबके राजा एक ही घराने के थे और बराबर आपस में लड़ा करते थे। सन् १८०६ में अपने चचा झिन्द के राजा के बुलाने पर रणजीतसिंह अपनी सेना लेकर पहुँच गया। लुधियाना पर उसका अधिकार हो गया और वह धीरे धीरे इस ओर भी अपना राज्य बढ़ाने लगा।

इस पर इन राजाओं ने अँगरेजों से सहायता माँगी। लार्ड मिंटो ने हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर देखा। इधर फारस और अफगानिस्तान होकर फ्रांसीसियों के आक्रमण की खबर उड़ रही थी। यह भी एक बहाना मिल गया। रणजीतसिंह से कहा गया कि सिन्धिया पर विजय पाने से यह प्रदेश अँगरेजों के अधीन हो गया, उसकी रक्षा करना उनका कर्तव्य है। ऐसी दशा में सेना लेकर रणजीतसिंह को सतलज नदी के उस पार चला जाना चाहिए। उसको समझाने का काम मेटकाफ को सौंपा गया। साथ साथ लुधियाने की ओर अँगरेजी सेना भी भेज दी गई। रणजीतसिंह ने

पहले तो बहुत विरोध किया, वह लड़ने तक के लिए तैयारी करने लगा, परन्तु अपने एक मंत्री अजीजुद्दीन के बहुत समझाने पर उसने सन्धि करना स्वीकार

अमृतसर

कर लिया। सन् १८०९ मे अमृतसर की सन्धि हो गई। सतलज नदी दोनो राज्यों की सीमा मान ली गई। इसके उत्तर तथा पश्चिम मे रणजीत-सिंह को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई और इसके दक्षिण का देश अँगरेजों के अधीन मान लिया गया। इसके बाद से रणजीतसिंह अपने जीवन भर अँगरेजों से बराबर मित्रता का व्यवहार करता रहा।

सीमाओं की रक्षा—भारतवर्ष मे कुछ शान्ति होने के कारण मिंटो का ध्यान अधिकतर राज्य की सीमाओं को सुरक्षित बनाने की ओर था। जब उसको पता लगा कि फ्रांस से एक दूत फारस भेजा गया है, तब उसने भी मालकम को फिर से फारस भेजा। वेलेजली के समय मे यह एक बार फ़ारस जा चुका था। तभी अफ़गानिस्तान की सीमा पर जमांशाह को अरझाये रखने के लिए फारस के शाह को कुछ रुपया देने का भी वचन दिया गया था। इधर इँग्लैंड-सरकार का भी एक दूत तेहरान पहुँच गया। शाह ने

उसको फ्रांसीसियो की सहायता न करने का वचन दे दिया। उसके सामने माल-कम की कोई पूछ न हुई और वह वापस लौट आया। मिंटो इस प्रबन्ध से सन्तुष्ट न था। उसने मालकम को दूसरी बार फिर से भेजा, परन्तु कोई लाभ न हुआ। सन् १८१० मे लौटने पर मालकम अपने रोजनामचे में लिखता है कि "झूठ, कपट और षड्यंत्रों" से मेरा पिंड छुटा।[1] जिस ढग से उसको फारस मे काम करना पडा था, इसका पता इसी से लगता है।

इसी उद्देश्य से एलफिंस्टन काबुल भेजा गया, परन्तु उसे पेशावर ही मे पता लगा कि अमीर शाहशुजा अफगानिस्तान से निकाल दिया गया है। यहीं अमीर के मन्त्रियो से उसकी भेंट हुई। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कह दिया कि यदि फ्रांसीसियो के विरुद्ध हमसे सहायता चाहते हो, तो शत्रुओं के विरुद्ध हमारी सहायता करना तुम्हारा कर्तव्य है। एलफिंस्टन के पास इसका कुछ उत्तर न था। अफगानिस्तान मे झगडा बढ़ाये रखने के लिए फारस को रुपया दिया जा रहा था, काबुल पर आक्रमण करने के लिए रणजीतसिंह को स्वतंत्रता दे दी गई थी, तिस पर भी अफगानिस्तान के साथ मित्रता की सन्धि का प्रस्ताव किया जा रहा था। इस अवसर पर एक लाभ अवश्य हुआ, एलफिस्टन को कई एक सरदारो से अफ़गानिस्तान की बहुत सी बातो का पता लग गया।

सिन्ध के अमीरो के साथ भी फ्रासीसियो के विरुद्ध एक सन्धि की गई। फ्रांसीसियो का जो कुछ भय था, वह तो था ही, पर सिन्ध मे हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर मिल गया। इस तरह लार्ड मिंटो की नीति से चार स्वतन्त्र राज्यो मे अँगरेजों का पैर जमने लगा।

समुद्री युद्ध—मिंटो ने केवल स्थल से ही भारत पर आक्रमण करने के मार्गों को नहीं रोका, बल्कि उसने समुद्र की ओर से भी किसी के आने की सम्भावना नहीं रखी। भारतवर्ष के निकट दो ऐसे स्थान थे, जहाँ से आक्रमण होने की आशंका थी। एक तो मारिशस और उसके निकटवर्ती टापू, जो

---

१ जान के, सर जान मालकम, जि० २, पृ० ३५।

फ्रासीसियो के अधीन थे और दूसरे जावा तथा मसाला के टापू, जो डच लोगों के पास थे। मारिशस से फ्रासीसी अँगरेजो के व्यापार को वडी हानि पहुँचाया करते थे। दस वर्ष मे उन्होंने लगभग ३० लाख रुपये का नुकसान किया था। मसाला के टापुओं पर अँगरेजो की पहले ही से दृष्टि थी। सन् १८१० मे एक जहाजी वेडा भेजकर फ्रासीसी टापू जीत लिये गये। उसी समय गवर्नर-जनरल ने स्वय जाकर जावा तथा मसाला के टापुओं पर भी अधिकार कर लिया। सन् १८११ मे वह जावा से लिखता है कि "गुडहोप अन्तरीप से लेकर हार्न अन्तरीप तक ब्रिटिश जाति का कोई शत्रु या सामना करनेवाला नहीं रह गया"। फ्रास और हालेड के साथ सन्धि हो जाने पर सब टापू वापस कर दिये गये, केवल मारिशस रख लिया गया। यही "मिर्च के टापू" के नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ भारतवर्ष से कुली भेजे जाते है। यहाँ ऊख की खेती होती है और कुलियो से वडी निर्दयता के साथ काम लिया जाता है।

कृष्णाकुमारी का आत्मबलिदान—इस समय राजपूताने की वड़ी शोचनीय दशा थी। अँगरेजों ने रक्षा का विश्वास दिलाकर राजाओ का साथ छोड दिया था। होलकर सबसे मनमाना रुपया वसूल कर रहा था। जयपुर, जोधपुर और उदयपुर मे वडे झगडे चल रहे थे। इनका मुख्य कारण उदयपुर के महाराणा की लडकी कृष्णाकुमारी थी। जयपुर तथा जोधपुर दोनो के राजा उसके साथ विवाह करना चाहते थे और होलकर की सहायता माँग रहे थे। इस पर अमीरखाँ ने राजकुमारी को मरवा डालने की महाराणा को सलाह दी। उस वीर वालिका ने सब झगडो को मिटाने के लिए स्वहर्ष विष-पान कर लिया।

ईसाई मत का प्रचार—वेलेजली की नीति से पादडियो का उत्साह वढ गया था और भारत मे ईसाई मत के प्रचार का प्रयत्न किया जा रहा था। मिंटो को भारत आने पर पता लगा कि श्रीरामपुर के 'मिशन' से कई एक किताबे देशी भाषाओं मे निकाली गई है, जिनमे हिन्दू और मुसलमानो के धर्मो पर अनुचित आक्षेप किये गये है। मिंटो ने ऐसी किताबो का छापना वन्द

भारतवासियों की शिक्षा के लिए पहले-पहल एक लाख रुपया सालाना मंज़ूर किया गया। नेपोलियन की नीति से यूरोप में अँगरेजों का व्यापार चौपट हो जाने के कारण इंग्लैंड के बहुत से व्यापारी अपना माल भारत में भेजना चाहते थे। उनका कहना था कि कम्पनी को अब राज्य मिल गया है, इसलिए व्यापार का ठेका उसके हाथ में रहना ठीक नहीं है। इस पर बहुत बहस हुई और अन्त में भारत के व्यापार का द्वार सब अँगरेजों के लिए खोल दिया गया। ईसाई मत के प्रचार के लिए लाइसेंस लेकर पादड़ियों को भारतवर्ष जाने की अनुमति दे दी गई। कलकत्ते में एक 'बिशप' और चार पादड़ी भी नियुक्त कर दिये गये, जिनका वेतन भारतवर्ष की आय से देना निश्चित हुआ। सन् १७९३ के आज्ञापत्र में यह स्पष्ट कह दिया गया था कि भारत में राज्य-वृद्धि के लिए युद्ध करना "इस राष्ट्र की इच्छा, प्रतिष्ठा तथा नीति के विरुद्ध है"। परन्तु इस नये आज्ञा-पत्र में इसके दोहराने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

लार्ड हेस्टिंग्ज

लार्ड हेस्टिंग्ज़—यह पहले 'अर्ल आफ मोयरा' के नाम से प्रसिद्ध था। इस समय इसकी अवस्था ५९ वर्ष की थी। का...८११।

यह भी स्वतंत्रता के आन्दोलन को दबाने के लिए अमरीका गया था। इँग्लेंड के युवराज का यह बड़ा घनिष्ट मित्र था और उसके साथ पड़कर अपनी बहुत सी सम्पत्ति उड़ा चुका था। इसी की सिफारिश से, लार्ड मिंटो का बिना कुछ ध्यान किये हुए, यह भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल और सेनापति बना दिया गया। जब यह भारतवर्ष पहुँचा तब इसको "सात ऐसे झगड़े जान पड़े जिनमें युद्ध की सम्भावना थी।" इनमें सबसे पहला झगड़ा नैपाल राज्य के साथ था।

नैपाल का राज्य—इस राज्य में पहले राजपूत शासन करते थे, परन्तु सन् १७६८ से गोरखों का अधिकार हो गया था। सतलज नदी से लेकर भूटान तक हिमालय की दक्षिणी पहाड़ियों में यह राज्य फैला हुआ था। यही एक ऐसा राज्य रह गया था, जिसमें मुसलमान न पहुँच सके थे और जहाँ प्राचीन हिन्दू ढंग से शासन होता था। उत्तर में इसका चीन के साम्राज्य से सम्बन्ध था। दक्षिण का ढालू भाग, जो तराई के नाम से प्रसिद्ध है, अवध के राज्य से मिला हुआ था। सन् १७६५ में एक अँगरेजी सेना ने तराई में घुसने का प्रयत्न किया था, परन्तु गोरखों ने इसको निकाल बाहर किया था। सन् १७९१ में कार्नवालिस ने कर्नल कर्कपैट्रिक को भेजकर नैपाल के साथ एक व्यापारिक सन्धि की थी। इस राज्य का वर्णन करते हुए कर्कपैट्रिक लिखता है कि यहाँ परम्परा से चली आई हुई शासन-व्यवस्था इतनी दृढ़ हो गई थी कि किसी स्वेच्छाचारी राजा का उसके विरुद्ध जाना एक प्रकार से असम्भव था। शासन का कुल भार प्रधान सचिव के हाथ में रहता था। न्याय विभाग का अध्यक्ष 'धर्माधिकारी' कहलाता था। इस विभाग का ऐसा उत्तम प्रबन्ध था कि चोरी का कहीं नाम तक न सुनाई देता था। यहाँ से भारत का माल तिब्बत और चीन जाता था। व्यर्थ की शान में बहुत रुपया न फूँका जाता था, इसी लिए ख़जाने में खूब जिसने व, संस्कृत विद्या का अच्छा प्रचार था। वृक्ष की छाल से, जो 'कागजी' थी कि कम्पनी थी, कागज बनता था। भाटगाँव 'नैपाल का बनारस' समझा गया। शासन के केवल एक पुस्तकालय में उस समय भी १५ हज़ार से अधिक

ग्रन्थ थे। कर्कपेट्रिक सैनिक रहस्यो का भी पता लगाना चाहता था, परन्तु इसमे उसको सफलता नही हुई।[1]

गोरखो का युद्ध—वेलेजली के समय मे गोरखपुर का जिला कम्पनी के हाथ मे आ जाने से उसके राज्य की सीमा नैपाल की तराई तक पहुँच गई। इस सीमा पर बराबर झगडा हुआ करता था। दोनो ओर से भूमि दबाने का प्रयत्न किया जाता था। इन दिनो श्यौराज और बुटवल के गाँवों पर झगड़ा था। कहा जाता है कि गोरखो ने इनको दबा लिया था। पहले समझौते से मामला निपटाने का प्रयत्न किया गया जिसमे सफलता न होने पर अँगरेजो की एक सेना ने कई स्थानो पर अधिकार कर लिया। गोरखो ने इस समय तो विरोध नहीं किया पर बाद मे अँगरेजी पुलिस के कुछ सिपाहियो को मार डाला। इसी पर गवर्नर-जनरल ने युद्ध की घोषणा कर दी।

अँगरेजों की ओर से चार स्थानों पर आक्रमण करने का प्रबन्ध किया गया। इसके लिए ३४ हजार सेना एकत्र की गई। परन्तु गोरखो से लडना सहज न था। नैपाल पहाडी देश है, गोरखा वीरता मे भी किसी से कम नहीं है। उनकी सेना इस समय १२ हजार से अधिक न थी, तब भी उन्होंने अँगरेजो को अच्छी तरह छका दिया। बलभद्रसिंह ने केवल ६०० गोरखों को लेकर जनरल जिलेस्पी को हरा दिया और उसको युद्ध में मार डाला। विल्सन लिखता है कि इस युद्ध मे जिलेस्पी के बहुत उत्तेजित करने पर भी गोरों की पल्टन आगे न बढ रही थी और अँगरेजी अफसर हताश हो रहे थे। लड़ाई मे इस तरह असफल होते देखकर फूट फैलाने की नीति से काम लिया गया। नैपाल के सरहद्दी राजाओं को, जो गोरखों के शासन से सन्तुष्ट न थे, मिलाने का प्रयत्न किया गया। पश्चिम में हिन्दूर के राजा की सहायता से कर्नल आक्टरलोनी आगे बढने लगा, पूर्व में शिकिम का राजा मिला लिया गया और एक सेना कमाऊँ की तरफ से भी घुस पडी। इस पर सन्धि की

---

१ कर्कपैट्रिक, अकाउट ऑफ दि किंगडम ऑफ नैपाल, सन् १८११।

बातचीत होने लगी। गोरखों को ६०० मील की सीमा की रक्षा करनी थी, सरहद्दी राजा उनके साथ न थे, जल के मुख्य मुख्य स्थानों पर अँगरेजों ने अधिकार कर लिया था। अँगरेज भी तंग आ गये थे, उन्हे पहाडी युद्ध का अभ्यास न था, इसलिए दोनों सन्धि चाहते थे।

सिगौली की सन्धि—सन् १८१६ मे सिगौली नामक स्थान पर सन्धि हो गई। इससे अँगरेजों को कुमाऊँ, गढवाल तथा तराई का बहुत कुछ भाग मिल गया। यह प्रदेश मिल जाने से देहरादून, मसूरी, नैनीताल तथा अलमोडा अँगरेजों के अधिकार मे आ गये। इस समय तक अँगरेजों के पास कोई पहाडी स्थान न थे। इनके मनोरम दृश्य और स्वच्छ जल-वायु का बडा भारी लालच था। बहुत से अँगरेज इन सुन्दर तथा रमणीक पहाडियो में बसना चाहते थे। जान पडता है, शायद इसी लिए यह लडाई लडी गई थी, स्योराज और बुटवल का झगडा तो साधारण था। गोरखों ने अपनी इच्छा के विरुद्ध अँगरेज रेजीडेंट को भी रखना स्वीकार कर लिया। उस समय से दोनों राज्यों में मित्रता का सम्बन्ध है। अँगरेजों ने गोरखों के स्वभाव को अच्छी तरह पहचान लिया है। वे उनके वीरोचित गुणों का आदर करते है। अँगरेजी सेना मे उनकी कई एक पलटनें है। सिपाही-विद्रोह के समय पर गोरखों ने अँगरेजों का पूरा साथ दिया और सन् १९१४ के यूरोपीय महायुद्ध मे भी ये बडी वीरता से लडे। ये स्वभाव से ही वीर, साहसी और बडे स्वामिभक्त होते है। इन भोले-भाले वीरो से अब दूसरो की स्वतत्रता अपहरण करने का काम लिया जाता है।

नैपाल राज्य को बिना ब्रिटिश सरकार की अनुमति के किसी अन्य राज्य से सम्बन्ध जोडने या किसी यूरोपियन को नौकर रखने का अधिकार नहीं है। इस दृष्टि से वह अँगरेजों के अधीन है। पर शासन मे उसे पूर्ण स्वतत्रता है। रेजीडेंट को किंचित् भी हस्तक्षेप करने की आज्ञा नहीं है। नैपालियो से जो कुछ मिलना था, वह मिल चुका था, पहाडों की विकट घाटियो में कुछ रक्खा न था। गोरखों का मान रखने से उनकी अमूल्य सहायता मिलती थी। ऐसा न होता तो वहाँ के शासन मे भी, किसी न किसी बहाने, हस्तक्षेप

अवश्य किया जाता। बिना विशेष आज्ञा के नैपाल में कोई जाने नहीं पाता है। गोरखों को विदेशियों पर बड़ा सन्देह रहता है। किसी राजनैतिक संकट के समय पर इनके सरदारों की एक सभा एकत्र होती है। सन् १८४६ में कई झगड़ों के कारण इस सभा ने तत्कालीन महाराजा को गद्दी से उतार दिया था।[1] तभी जंगबहादुर प्रधान सचिव बनाया गया। सन् १८५० में वह इँग्लैंड गया और वहाँ से लौटने पर उसने शासन में कई सुधार किये। सन् १८५७ के गदर में उसने अँगरेजों का साथ दिया। सन् १९२८ में दासता की प्रथा, जो बहुत दिनों से नैपाल में प्रचलित थी, उठा दी गई।

पिंडारियों का दमन—दक्षिण के कुछ पठानों ने अपना पेशा लड़ना-भिड़ना बना रखा था। राज्यों के परस्पर युद्ध में ये बराबर भाग लिया करते थे और शत्रुओं को लूटकर अपना काम चलाते थे। औरंगजेब के समय में इन्होंने शिवाजी का साथ दिया था और मुगल सेना को खूब लूटा था। नसरू नाम का इनका एक सरदार शिवाजी की सेना का जमादार था। इसी के वंशज गाजीउद्दीन की सहायता से पेशवा बाजीराव पहले ने मालवा पर आक्रमण किया था। तभी से ये लोग मालवा में बस गये थे। कुछ हिन्दुओं के शामिल हो जाने से इनका दल बहुत बढ़ गया था। इनमें धर्म या जाति का कुछ भी भेद न था। लड़ना इनका मुख्य काम था, तलवार और भाला इनके अस्त्र थे। घोड़े की सवारी में ये बड़े निपुण होते थे। एक दिन में चालीस चालीस, पचास पचास मील का धावा लगाते थे। ये सबके सब पिंडारी कहलाते थे। यह नाम कैसे पड़ा, इस पर मतभेद है। मालकम का कहना है कि ये 'पिंड' नाम की शराब बहुत पिया करते थे, इसी लिए पिंडारी कहलाते थे।

इनकी सेनाएँ बन गई थीं, जो हर समय लड़ाई के लिए तैयार रहती थीं। इनको वेतन देने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी, वे केवल शत्रु को

---

१ ह्वीलर, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० ५८७—८८।

लूटने की आज्ञा चाहती थीं। सिन्धिया और होलकर दोनों पिंडारियों से सहायता लेते थे। इसलिए इनके दो दल बन गये थे, जो 'सिन्धियाशाही' और 'होलकरशाही' के नाम से प्रसिद्ध थे। पिछले मराठा युद्ध में आर्थर वेलेजली भी पिंडारियों से सहायता लेना चाहता था। शत्रुओं को ये खूब लूटते थे और उनके साथ कभी कभी निर्दयता का भी व्यवहार करते थे, इसमें सन्देह नहीं है। पर केवल लूटना ही इनका पेशा न था जैसा कि अँगरेज इतिहासकारों का कहना है। मालकम लिखता है कि होलकर की सेना में इनका पड़ाव अलग रहता था और चार आना रोज के हिसाब से इनको भत्ता मिलता था। इसके अतिरिक्त अपने टट्टुओं और बैलों पर नाज तथा लकड़ी लाद करके भी ये लोग कुछ कमा लेते थे। जब लूटने की आज्ञा मिलती थी तब यह भत्ता बन्द कर दिया जाता था। विल्सन का कहना है कि सिन्धिया और होलकर ने नर्मदा के निकट इनको जागीरें दे रखी थीं, जहाँ ये शान्ति के समय में रहते और लड़ाई छिड़ने पर अपने मालिकों का साथ देते थे।

वेलेजली की नीति से इनकी संख्या बहुत बढ़ गई थी। निजाम, टीपू तथा मराठों के बहुत से बेकाम सिपाही इनमें शामिल हो गये थे। आर्थर वेलेजली ने गवर्नर-जनरल को तभी सचेत किया था, परन्तु तब इस बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। इन दिनों करीमखाँ, वासिल-मुहम्मद और चीतू इनके मुख्य सरदार थे। सिन्धिया के राज्य में करीमखाँ तथा चीतू की जागीरें थीं और ये दोनों नवाब कहलाते थे। इन दिनों मालवा, राजपूताना और दक्षिण में पिंडारी ऊधम मचाये हुए थे। कर्नल टाड ने राजपूताने में इनके अत्याचारों का बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया है। इधर कुछ दल बिहार की सीमा तक पहुँच गये थे और कुछ निजाम के राज्य में लूट-पाट मचाये हुए थे। सन् १८१६ में जब निजाम की अँगरेजी सेना ने इन पर आक्रमण किया तब ये उत्तरी सरकार के जिलों पर टूट पड़े। इस पर 'बोर्ड आफ कन्ट्रोल' की अनुमति से लार्ड हेस्टिंग्ज ने इनका दमन करना निश्चित कर लिया।

अँगरेज इतिहासकारो ही के मतानुसार इनकी संख्या ३० हजार से अधिक न थी। पर इनके दमन करने के लिए १ लाख २० हजार सेना एकत्र की गई, जिसमें १३ हजार गोरे सिपाही थे। पहले नये समझौते करके मराठों की शक्ति अच्छी तरह जकड दी गई, जिसमे उनसे पिंडारियो को किसी प्रकार की सहायता न मिले। फिर यह सेना पिंडारियो पर टूट पडी। इतनी बडी सेना से लडने के लिए उनमें दम ही कितना था? करीमखाँ ने हथियार डाल दिये, उसको गोरखपुर के जिले मे एक जागीर दे दी गई। वासिल-मुहम्मद ने निराश होकर आत्मघात कर लिया। चीतू कुछ दिनों तक लडता रहा, पर जगल मे एक चीते ने उसको खा डाला। इनकी सेनाएँ छिन्न-भिन्न हो गईं और सैनिक अन्य कामो मे लग गये। इस तरह सन् १८१८ मे पिंडारियो का अन्त हो गया।

मराठों का भय—पिंडारियों को दमन करने के लिए जैसी कुछ तैयारी की गई थी, उसे देखकर मराठे चिन्तित हो रहे थे। सर जान के लिखता है कि इस अवसर पर चारों ओर से जिस तरह सेना उमड रही थी, उससे यही जान पडता था कि घेरकर मराठा राजाओ का शिकार किया जायगा। उनका यह सोचना कि "फिरगी अब काफी विश्राम कर चुके हैं, वे फिर से घोर युद्ध के लिए कमर कस रहे हैं और अपनी सारी सैनिक शक्ति को एकत्र करके इस बार भूमि पर से देशी राजाओ का नाम मिटा देना चाहते है," स्वाभाविक था।[१] इतनी भारी सेना के आगे बढने से वे डर रहे थे। उनको भय था कि अन्त मे इसका वार मराठों पर अवश्य होगा। उनका यह सन्देह निराधार न था। पिंडारियो पर आक्रमण के परिणाम स्वरूप मराठा युद्ध की सम्भावना की चर्चा उन दिनों सरकारी कागजात में बडे विस्तार के साथ हो रही थी। कौंसिल भवन में राजनीतिज्ञ बडी गम्भीरता से इस पर बहस कर रहे थे। मराठा राजाओ को पूर्ण रूप से अधीन बना लेने पर मेटकाफ जोर दे रहा था। उसका कहना था कि यदि पिंडारी-युद्ध में मराठे पूरा साथ न दें या

१ जान के, लाइफ ऑफ सर जान माल्कम, जि० २, पृ० १८७।

किसी प्रकार की बाधा डाले तो, शत्रु समझकर, उन पर आक्रमण कर देना चाहिए और उनके राज्यों को थोड़ा बहुत छीन लेना चाहिए। इससे युद्ध का खर्च भी चल जायगा और अधिक सेना रखने के लिए काफी रुपया भी मिल जायगा।[1] इन वाक्यों से पिंडारी-युद्ध का वास्तविक उद्देश्य स्पष्ट प्रकट हो रहा है। के लिखता है कि ऐसी दशा मे भी यदि मराठों के साथ युद्ध न हुआ होता तो आश्चर्य्य था। जिस तरह भावी भय के लिए तैयारी करने का हमें अधिकार था उसी तरह उनको भी था। यदि उनकी तैयारी को, जिन्हें हमसे कहीं अधिक भय की आशका थी, हम विद्रोह या मूर्खता कहते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि राष्ट्रीय स्वार्थ से हम अन्धे हो रहे थे। जब हमारी तोपें भरी हुई हैं और हाथ में पलीता सुलग रहा है, तब निस्सन्देह हम इस बात की आशा नहीं कर सकते कि अन्य राज्य अपनी चढ़ी हुई तोपों को उतार लेंगे।[2]

मराठों से इस समय कोई ऐसा भय न था। ब्रिटिश सरकार की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि मनरो की राय में अब देशी राज्यों के किसी गुट से उसे कोई डर नहीं था।[3] परन्तु अँगरेजों की नीति अब पलट चुकी थी। वास्तव मे नैपाल का युद्ध नीति के परिवर्तन की घोषणा थी। वीर नेपोलियन, जिसके नाम से अँगरेज काँपते थे, कम्पनी के अधीन सेंट हेलेना के टापू में पड़ा सड़ रहा था। उसके साथ लड़ने मे इँग्लेंड की जो चति हुई थी, उसकी किसी न किसी तरह पूर्ति करनी थी। पिंडारियों के दमन के बहाने से मराठों की राजनीति मे हस्तक्षेप करने का लार्ड हेस्टिंग्ज को अच्छा अवसर मिल गया। भारत आते ही उसने निश्चित कर लिया था कि ब्रिटिश सरकार को 'सर्वोच्च' बना देना चाहिए और देशी राजाओं को नाम से भले ही नहीं पर वास्तव में उसके 'जागीरदार' बनाकर रखना चाहिए।[4]

---

१ जान के, लाइफ ऑफ मेटकाफ, जि० १, पृ० ४३७।

२ जान के, लाइफ ऑफ सर जान मालकम, जि० २, पृ० १८९-९०।

३ ग्लीग, लाइफ ऑफ मनरो, पृ० २४६, २५०।

४ लार्ड हेस्टिंग्ज, प्राइवेट जर्नल, (पाणिनि आफिस सस्करण) पृ० ३०।

भोंसलाओं की अवनति—मार्च सन् १८१६ में राघोजी भोंसला की मृत्यु हो गई। नागपुर का यह अन्तिम स्वतंत्र राजा था। इसका पुत्र, जो अन्धा था, नाम मात्र के लिए राजा मान लिया गया, परन्तु शासन किसके हाथ में रहे, इस पर झगड़ा चल पड़ा। घुसने के लिए अँगरेजों को यह अच्छा अवसर मिल गया। लार्ड हेस्टिंग्ज लिखता है कि "राघोजी भोंसला की अचानक मृत्यु से मैं उस कार्य्य को कर सका जिसके लिए बारह वर्ष से बराबर प्रयत्न किया जा रहा था।" इस मामले में तरह तरह की चालें चली गईं और घूस से काम लिया गया।[1] राघोजी का भतीजा अप्पा साहब अँगरेजों की सहायता से राजा का संरक्षक बन गया। उसने गुप्त रीति से अँगरेजों के साथ सहायक सन्धि कर ली। जब तक नागपुर में अँगरेजी सेना पहुँच न गई, इसका किसी को पता भी न लगा। मालकम लिखता है कि इस सन्धि का समाचार मिलने पर रनिवास तक में कोलाहल मच गया। "मराठा-मंडल की शक्ति पर यह भीषण आघात हुआ"।[2]

फरवरी सन् १८१७ में नये राजा बाला साहब की भी मृत्यु हो गई, इस पर अप्पा साहब राजा बना दिया गया। अब स्वयं अप्पा साहब को अँगरेजों का हस्तक्षेप असह्य होने लगा। राज्य की आमदनी के एक तिहाई भाग से भी अधिक केवल सेना का खर्च माँगा जा रहा था और मन्त्रियों की नियुक्ति में भी बाधा डाली जा रही थी। भोंसला मराठा-मंडल का सेनापति माना जाता था, इसी लिए गद्दी पर बैठते समय पेशवा के यहाँ से खिलत आई थी। यह बात अँगरेजों को बहुत खटकी, क्योंकि एक तो इन दिनों पेशवा से उनकी चल रही थी, दूसरे मराठा-मंडल के अस्तित्व को जतानेवाले किसी रीति-रिवाज को वे मानने के लिए तैयार न थे। अप्पा साहब को हाथ में रखने के लिए रेजीडेंट ने अँगरेजी सेना को नागपुर बुला भेजा।[3] अप्पा साहब

---

१ लार्ड हेस्टिंग्ज, प्राइवेट जर्नल, पृ० २५४।

२ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० ४९४-९५।

३ वही, पृ० ५०५।

की सेना इस अपमान को सहन न कर सकी और उसने सीताबल्डी की छावनी पर आक्रमण कर दिया, पर सफलता न हुई। अप्पा साहब ने फिर समझौता कर लिया, जिससे सेना का प्रबन्ध और मुख्य गढ़ अँगरेजों के हाथ में आ गये। इस पर भी अँगरेजों को सन्तोष न हुआ। अब कहा जाने लगा कि वह सेना को भड़का रहा है और बाजीराव से पत्र-व्यवहार कर रहा है। इतने दिनों बाद बाला साहब की मृत्यु का दोष भी उसी के मत्थे मढ़ा जाने लगा। रेजीडेंट की आज्ञा से वह गिरफ्तार करके इलाहाबाद भेज दिया गया, जहाँ से वह भाग निकला। कुछ दिनों तक वह रणजीतसिंह के दरबार में रहा। वहाँ से हटाये जाने पर वह जोधपुर चला गया, जहाँ के राजा ने उसे अँगरेजों के हवाले करने से इनकार कर दिया। जून सन् १८१८ में राघोजी का नाती, जो बालक था, नाम मात्र के लिए राजा बना दिया गया। कुल शासन रेजीडेंट के निरीक्षण में होने लगा। नर्मदा नदी के उत्तर का प्रदेश, जिसमें सागर का जिला है, सेना का खर्च चलाने के लिए ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। इस तरह आधुनिक 'मध्यप्रान्त' की नींव पड़ी।

सिन्धिया के साथ नई सन्धि—इस समय तक सिन्धिया की शक्ति पूर्ण रूप से नष्ट न हुई थी। पिछली सन्धि में अँगरेजों ने यह वचन दिया था कि राजपूत राज्यों के साथ उसका जो सम्बन्ध है, उसमें वे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेंगे। उसे निर्बल बनाने के लिए किसी न किसी तरह इस शर्त को बदलना था। अब उस पर यह अपराध लगाया गया कि वह गुप्त रीति से पिंडारियों की सहायता कर रहा है और अँगरेजों के विरुद्ध नैपाल के राजा से भी सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। इसी बात पर पिंडारियों को दमन करने के लिए जो सेना तैयार की गई थी, उसे लेकर स्वयं गवर्नर-जनरल ने सिन्धिया को इस तरह घेर लिया कि मजबूर होकर उसे अँगरेजों की सब शर्तें माननी पड़ीं। उसके दो मुख्य किले जमानत में ले लिये गये और राजपूत राज्यों के साथ सन्धियाँ करने के लिए अँगरेजों को स्वतन्त्रता मिल गई। लार्ड हेस्टिंग्ज़ लिखता है कि मैंने सिन्धिया को ऐसा जकड़ दिया है कि अब

विश्वासघात के लिए उसमें दम नहीं रह गया। इस सन्धि से "वास्तव में मराठों का पतन हो गया"।[1]

होलकर के राज्य की दुर्दशा—इस राज्य का कोई देखनेवाला न था। अमीरखाँ, जिस पर यशवन्तराव को बड़ा भरोसा था, उसके जीवन-काल से ही विश्वासघात कर रहा था। इस समय तो अँगरेजों ने होलकर के राज्य का ही एक भाग (टोंक) देकर उसको अपने पक्ष में मिला लिया था। नोलन नाम का एक अँगरेज अपने इतिहास में लिखता है कि "होलकर के राज्य की एकता नष्ट करने के लिए अमीरखाँ और अँगरेज जो चालें चल रहे थे, वे हमारे राष्ट्र के लिए प्रतिष्ठास्पद न थीं। उनके सम्बन्ध में, दरबार के सभी आदमी, राज्य के सभी दल, अँगरेजों के पक्ष में या उनके विरुद्ध और एक दूसरे के प्रतिकूल षड्यन्त्र रच रहे थे। झूठ, धोखेबाजी, अपहरण, वध, हत्या, लूट, विद्रोह और परस्पर के युद्ध से वह राज्य, जिस पर सुप्रसिद्ध होलकर कभी शासन करता था, छिन्न-भिन्न और कलुषित हो रहा था"।[2] रानी तुलसीबाई मार डाली जा चुकी थी। ऐसी दशा में भी यह सन्देह किया गया कि इस राज्य से भी पिंडारियों को सहायता मिल रही थी। दिसम्बर सन् १८१७ में महीदपुर में होलकर की सेना चारों ओर से घेर ली गई। बड़ी घोर लड़ाई हुई जिसमें अँगरेजों के बहुत से सैनिक मारे गये। रोशनबेग के तोपखाना ने बड़ा काम किया, परन्तु इतने ही में अब्दुलगफूर खाँ, जो होलकर का एक मुख्य सेनानायक था, अँगरेज़ों से मिल गया। इसी के सिपाहियों ने रानी तुलसीबाई का वध किया था। इस विश्वासघात के लिए उसके वंशजों को जावरा की जागीर दी गई।[3] जनवरी सन् १८१८ में सन्धि हो गई, तब से होलकर राज्य भी अँगरेजों के अधीन हो गया।

---

१ लार्ड हेस्टिंग्ज, प्राइवेट जर्नल, पृ० ३०९।

२ नोलन, ब्रिटिश एम्पायर, जि० २, पृ० ५२१।

३ लुतफुल्ला, आटोबायग्रेफी, पृ० १०३-१०४।

पेशवाओं का अन्त—बाजीराव अपने को बड़ा नीति-निपुण समझता था, पर अँगरेजों से कूटनीति में पार पाना सहज न था। पिछले मराठा युद्ध के समय से ही अँगरेजों ने घूस देकर उसके मंत्रियों को फोड़ रखा था।[1] इन दिनों उसके दरबार में एलफिन्स्टन रेजीडेंट था। पेशवा पर उसकी बड़ी कड़ी निगाह रहती थी। बाजीराव लिखता है कि वह किस दिन क्या खाता था, इसका भी पता रेजीडेंट को रहता था। इन्हीं दिनों गंगाधर शास्त्री, जो बड़ोदा राज्य का कुछ हिसाबी झगड़ा निपटाने के लिए पूना आया था, मार डाला गया। रेजीडेंट का कहना था कि यह कार्य्य पेशवा की राय से उसके मन्त्री त्र्यम्बकजी द्वारा किया गया। त्र्यम्बकजी अँगरेजों का बड़ा विरोधी था। रेजीडेंट के बहुत दबाने पर पेशवा ने उसको अँगरेजों के हवाले कर दिया, जिन्होंने उसे एक किले में क़ैद कर दिया। थोड़े दिन बाद वह किले से भाग निकला। रेजीडेंट की राय में इसमें भी पेशवा की साजिश थी। उसको यह भी सन्देह था कि पेशवा गुप्त रीति से युद्ध की तैयारी कर रहा था। इस पर गवर्नर-जनरल ने घोषणा कर दी कि बाजीराव 'शत्रु' है। अँगरेजी सेना भी पूना की ओर बढ़ने लगी। घबड़ाकर बाजीराव ने सन् १८१७ में नई सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके अनुसार मराठा-मंडल नष्ट कर दिया गया। अन्य मराठा राज्यों पर पेशवा का कोई अधिकार न रहा और दंड स्वरूप उसे रायगढ़ तथा पुरन्दर के क़िले और मालवा तथा उत्तरी भारत के सब इलाके अँगरेजों को दे देने पड़े। लार्ड हेस्टिंग्ज ने भी माना है कि ये शर्तें बड़ी कड़ी थीं। पर उसका कहना है कि यदि बाजीराव को गद्दी पर बिठलाये रखना था और अपनी रक्षा का भी प्रबन्ध करना था, तो उसे इस तरह से "पंगु बना देने" के अतिरिक्त और कोई उपाय न था।[2] यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बाजीराव के गुप्त भाव चाहे जो कुछ रहे हों, इस समय तक उसने बेसीन की सन्धि को किसी तरह

---

१ वेलिंगटन, डेसपैचेज, पृ० २७३-७६।

२ लार्ड हेस्टिंग्ज, प्राइवेट जर्नल, पृ० २९१।

भग नहीं किया था। शासन में भी वह थोड़े बहुत सुधार कर रहा था। इसको इतिहासकार मालकम ने भी माना है।[1]

इस नई सन्धि के अपमान को भी यदि बाजीराव चुपचाप सहन कर लेता तो आश्चर्य था। परन्तु अब यह बात उसके हाथ की न थी। पेशवा की गद्दी का इस तरह अपमान देखकर उसकी सेना उत्तेजित हो रही थी। मुख्य सरदार गोखले, जो स्वयं पहले अँगरेजों का पक्षपाती था, उनकी ज्यादती देखकर बिगड़ रहा था। इन दिनों कुछ अँगरेज़ी सेना पिंडारियों के साथ लड़ने के लिए बाहर गई हुई थी। अवसर पाकर गोखले ने नवम्बर सन् १८१७ में किरकी (खड़की) की छावनी पर आक्रमण कर दिया। मालकम के कथनानुसार पेशवा इस समय भी पहले अपनी तरफ से वार न करना चाहता था, परन्तु गोखले ने ऐसे स्वामी की बात न सुनना ही उचित समझा। रेजीडेंसी में आग लगाकर पेशवा की सेना ने घोर युद्ध किया, परन्तु अँगरेजी सेना अधिक आ जाने से उसे पीछे हटना पड़ा और पूना पर अँगरेजों का फिर से अधिकार हो गया। बाजीराव भाग निकला।

बापू गोखले

गोखले ने बराबर युद्ध जारी रखा, अन्त में वह बड़ी वीरता के साथ लड़ते हुए मारा गया। पेशवा का दल बढ़ रहा था। जिसके पूर्वजों ने "मलाबार से लेकर लाहोर" तक भगवा झंडा फहराया था, उसकी गद्दी का

---

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० ४६६-६७।

इस तरह नष्ट होना मराठा सरदार सहन न कर सकते थे। इस भाव को दबाने के लिए मैसूरवाली चाल चली गई। शिवाजी के वंशज सतारा के राजा को पेशवा का बहुत सा राज्य देने की घोषणा की गई। इस चाल का भी कोई प्रभाव न पड़ा, अंगरेजों की नीति से बराबर असन्तोष फैलने लगा। परन्तु बाजीराव ने इस अवसर पर भी अपनी कायरता का परिचय दिया। उसने अपने को अँगरेजी सेनाध्यक्ष मालकम के हवाले कर दिया, जिसने उसको ८ लाख रुपये साल की पेंशन देकर बिठूर भेज दिया, जहाँ वह बहुत दिनों तक जीवित रहा।

बाजीराव को इतनी बड़ी पेंशन देना गवर्नर-जनरल की राय में उचित न था। अँगरेज इतिहासकारों का कहना है कि पेशवा के साथ बड़ी उदारता की गई। परन्तु वास्तव में बात कुछ और ही थी। मालकम, जिसको तत्कालीन स्थिति का सबसे अधिक ज्ञान था और जिसने पेशवा को गद्दी छोड़ देने के लिए आठ लाख रुपया सालाना देने का लालच देकर राजी किया था, लिखता है कि पेशवा के पास इस समय भी चार पाँच हजार घोड़सवार बाकी थे, जो कुछ दिन विश्राम करके, फिर से लड़ने के लिए तैयार थे। उसके पास इतनी ही पैदल सेना थी, जिसमें बहुत से अरब लोग थे। "हम लोगों की दृष्टि में उसकी दशा चाहे जितनी गिरी हुई हो, पर उसके नाम से सहस्रों सैनिक एकत्र हो रहे थे।" सिन्धिया भी उसका साथ देने का विचार कर रहा था। मैसूर से लेकर मालवा तक सारा देश उसके लिए चिन्तित हो रहा था। पेशवा अपनी सेना के साथ असीरगढ़ की ओर बढ़ रहा था, जिसका बर्सात में जीतना कठिन था। ऐसी

दूसरा बाजीराव

दशा में किसी न किसी तरह समझा-बुझाकर बाजीराव को हाथ में लाने के सिवा और कोई उपाय न था।[1]

बाजीराव के प्रति जो राजभक्ति दिखलाई गई, उसके योग्य वह न था। उसमें व्यक्तिगत साहस का सर्वथा अभाव था, केवल धूर्तता में वह बड़ा निपुण था। संस्कृत का वह अच्छा विद्वान् था और पंडितों का सदा आदर करता था। जबान का वह ऐसा मीठा था कि उसका सभी पर प्रभाव पड़ता था और उसके भावों का जानना कठिन हो जाता था। वह बड़ा व्यसनी और आलसी था, इसी लिए गंगा के तट पर आठ लाख रुपया सालाना से आनन्द करने के सामने उसको पेशवाओं का नाम मिटाने में भी संकोच नहीं हुआ।

पेशवाई शासन—पेशवाओं के समय में शिवाजी की राज्य-व्यवस्था में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। इन दिनों मराठों का साम्राज्य कई एक राज्यों का समूह था। इन राज्यों को शासन की स्वतंत्रता थी, पर तब भी इन सब की शासन-पद्धति में बहुत कुछ समानता थी। गाँव का मुखिया पटेल कहलाता था। इसका मुख्य काम लगान वसूल करना होता था। इसके नीचे एक 'कुलकर्णी' रहता था, जो प्राय ब्राह्मण होता था। इसको गाँव का कुल हिसाब रखना पड़ता था। पटेल की ही अध्यक्षता में गाँव का काम करनेवाले पेशेवर रहते थे।[2] इन सब का सालियाना बँधा होता था, जो गाँव की आमदनी से ही मिलता था। पटेलों की निगरानी के लिए सूबेदार और सर सूबेदार रहते थे, जिनके ऊपर राज्य के दीवान और मंत्री होते थे। पटेलों से रुपया वसूल करने के लिए कभी कभी सूबेदार अपने नौकर रखते थे, जो मामलतदार और तहसीलदार कहलाते थे। शिवाजी के समय में मालगुजारी के लिए मलिक अम्बर का चलाया हुआ बन्दोबस्त था। बालाजी बाजीराव ने फिर से पैमा-

---

१ मालकम, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० १, पृ० ५२१-२३।

२ बढ़ई, लोहार, धोबी, नाई, कुम्हार, सोनार, पुजारी, भिश्ती, मोची, रस्सी बटनेवाला, चौकीदार और मुल्ला ये गाँव के 'बारह बलुते' कहलाते थे।

यश कराकर कई साल के लिए नया बन्दोबस्त किया था, जिससे गाँवों की मालगुजारी बहुत बढ गई थी। दूसरे बाजीराव ने अँगरेजों की देखा-देखी ठेके की प्रथा चला दी थी, जिससे प्रजा पर अत्याचार होने लग गया था।

पूना के न्यायाधीश के पद पर चार शास्त्री काम करते थे। न्यायाधीश राम-शास्त्री की योग्यता प्रसिद्ध थी। प्रान्तों में इसी ढंग की छोटी छोटी अदालतें थीं। इनके अतिरिक्त पटेल, मामलतदार और तहसीलदारों को भी फौजदारी तथा दीवानी के कुछ अधिकार रहते थे। परन्तु अधिकतर न्याय पचायतों द्वारा होता था। उनका फैसला मान्य न होने पर सरकारी अदालतों में अपील होती थी। दीवानी में स्मृति ग्रन्थों से कानून का काम लिया जाता था, पर अधिकतर देश, कुल तथा गाँव के रीति-रिवाजों ही पर विशेष ध्यान दिया जाता था। राजनैतिक अपराधों को छोड़कर अन्य अपराधों के लिए दंड की व्यवस्था बहुत कठोर न थी। प्राणदण्ड तो बहुत ही कम दिया जाता था। जेल का अच्छा प्रबन्ध रहता था। कैदियों को बहुत कुछ स्वतंत्रता रहती थी और उनका अपमान कभी न किया जाता था। अपराधियों के साथ यथाशक्ति सौम्य व्यवहार किया जाता था।

जमीन के लगान के सिवा और भी बहुत से कर लिये जाते थे। परन्तु इनके वसूल करने में देनेवालों की स्थिति का बराबर ध्यान रखा जाता था।[१] पेशेवरों से जो कर लिया जाता था, वह 'मोहतरफा' कहलाता था। व्यापार पर चुगी लगती थी, जो 'जकात' के नाम से प्रसिद्ध थी। लोकोपयोगी व्यापार पर 'जकात' माफ कर दी जाती थी। बिना माफी के पर वाने के पेशवा तक के माल पर जकात ली जाती थी। विदेशियों को बिना रोक-टोक के व्यापार करने की आज्ञा थी और उन्हें सब तरह की सुविधाएँ दी जाती थीं। अनेक स्थानों पर सरकारी दूकानें रहती थीं, जिनके द्वारा विशेष वस्तुओं का व्यापार किया जाता था। इन दूकानों से किसानों को कभी कभी कर्ज भी दिया जाता था। नये बाजार और हाट बसाने की ओर पेशवाओं

१ सुरेन्द्रनाथ सेन, ऐडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम ऑफ दि मराठाज, पृ० २९८।

का बडा ध्यान रहता था। खाने-पीने की चीजें बहुत सस्ती बिकती थी।[1] खेती की उन्नति के लिए भी प्रयत्न किया जाता था। पडती जमीन को तोड़-कर चैनी बनाने के लिए किसानो को धन दिया जाता था और बहुत दिनों तक लगान वसूल न किया जाता था। दुर्भिक्ष या युद्ध के समय पर भी किसानो के साथ खास रियायत की जाती थी। सिंचाई के लिए नहरें और बड़े बड़े तालाब खोदवाये जाते थे। खेतो को रहन या बय करने का अधिकार किसानो को न था।

उन दिनो गाँवो का जीवन ऐसा था कि गाँववाले अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति का प्रबन्ध आप ही कर लेते थे। इसलिए राज्य को इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता न रहती थी। पर तब भी गरीबो के लिए चिकि-त्सालय खोलना, उनको अन्न देना, धर्मशाले और मन्दिर बनवाना, सभी हिन्दू राजा अपना कर्तव्य समझते थे। राज्य की ओर से शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था, यह कार्य्य साधारणत गाँव के शिक्षको द्वारा ही होता था। बडे बडे पडितो को राज्य से दक्षिणा अवश्य मिलती थी। गाँवों की उन्नति के लिए आजकल की तरह न कोई अलग विभाग ही था और न उसके लिए अलग धन ही रखा जाता था। उनकी जो कुछ आमदनी होती थी, उसमें से इन कार्यों के लिए कुछ भाग अलग कर दिया जाता था। बाहरी आक्रमण से उनकी रक्षा करना राज्य का कर्तव्य था।

गाँव की रखवाली वहाँ का चौकीदार ही कर लेता था। विशेष अवसरो पर सरकार की ओर से इसका प्रबन्ध किया जाता था। तहसीलदार की मात-हती में पहरेदार और सवार पुलिस का काम करते थे। बडे बडे नगरों में कोतवाल भी रहते थे, जिन्हें वहाँ का सब हाल लिखकर रखना पडता था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में पूना की पुलिस बडी अच्छी समझी जाती थी।[2]

---

१ माधवराव के समय में चावल एक रुपया चार आना मन, गेहूँ दो रुपया मन और घी एक रुपये का डेढ या दो सेर बिकता था। पेशवाओं की डायरी, जि० ७, पृ० ३११-१४।

२ केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० ५, पृ० ३९३।

हिन्दुओं के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में भी हस्तक्षेप करने का पेशवाओं को अधिकार था। मुसलमानों के हाथ में पडकर जिनका धर्म भ्रष्ट हो जाता था, उनकी शुद्धि कर ली जाती थी।[1] बाजीराव ने सती प्रथा बन्द कर दी थी। अन्य मतावलम्बियों को पूरी स्वतंत्रता थी। उनकी बराबर रक्षा की जाती थी। गांवों में मुसलमानों के लिए मुल्ला का सालियाना बँधा रहता था। पुर्तगालियों के गिरजाघरों को भी सहायता मिलती थी। बहुत से इलाकों में शराब बनाने की मनाही थी, केवल यूरोपियन लोगों को भट्टी चढाने की आज्ञा मिलती थी, उनको भी साधारण जनता में इसके बेचने का अधिकार न रहता था। बेगार और गुलामी की भी चाल थी, पर गुलामों के साथ निर्दयता का व्यवहार न होता था।

आवश्यकता पडने पर सरकार को साहूकारों से कर्ज भी लेना पडता था। पेशवा लोग बहुत कर्ज लिया करते थे। निजी खर्च और दरबारी खर्च बढा हुआ न था। मुगल बादशाहों की नकल करने में पेशवाओं का भी बहुत खर्च होता था। सिक्के अनेक प्रकार के चलते थे, जिनके बदलने में बट्टा लगता था और प्राय बहुत झगडा होता था।

फडनवीस की अध्यक्षता में पूना में पेशवा का 'हजूर दफ्तर' रहता था, जिसमें २०० कारकुन काम करते थे। इसमें सभी विषयों के कागजात रहते थे। आजकल यह दफतर पूना के इनाम कमीशन के अधिकार में है। 'डेकन वर्नाक्युलर ट्रांसलेशन सोसायटी' की ओर से इन कागजात की कई एक जिल्दें प्रकाशित हुई है, जिनमें सेना, जहाजी बेडा, जमीन की पैमायश, गावों के झगडे, कर्मचारियों और जागीरदारों के दुराचार तथा छलकपट, पुलिस और जेल की व्यवस्था, सरकारी डाक, वैद्यक्रिया, शस्त्रक्रिया, ऋण, टकसाल, व्यापार, सामाजिक जीवन, बाजारदर तथा मजदूरी और उत्सव तथा अन्य बहुत सी बातों का बडा रोचक वर्णन दिया हुआ है।

नाना फडनवीस के समय तक सब व्यवस्था अच्छे ढँग से चलती रही। पेशवा माधवराव बल्लाल के जीवनकाल में बडे बडे सरदारों को भी इसके

[1] पेशवाओं की डायरी, जि० ३, पृ० २१५, २१९।

विरुद्ध जाने का साहस न होता था। सिन्धिया और होलकर ने कई इलाकों से जबरदस्ती 'घास दाना' वसूल कर लिया था, जिसके लिए उनको पेशवा की डाट सुननी पडी थी। परन्तु केन्द्रीय सरकार के निर्बल होने पर यह व्यवस्था भी बिगड गई। बाजीराव के समय में तो किसी की सुनवाई ही न होती थी। घासीराम कोतवाल का अत्याचार प्रसिद्ध था। दूसरे यह व्यवस्था केवल महाराष्ट्र देश के लिए ही थी। मराठों ने जो और बहुत सा देश जीत लिया था, वहाँ न तो किसी प्रकार का सुधार ही किया गया था और न प्रजा के हित की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया था। उन प्रान्तों में केवल रुपया वसूल किया जाता था। यही कारण था कि उन्होंने अन्त में मराठों का साथ नहीं दिया।

इस शासनव्यवस्था में बहुत से दोष भी थे। अधिकारी स्वेच्छाचारी होते थे, उनके निरीक्षण का अधिक प्रबन्ध न रहता था। आजकल की बहुत सी सुविधाएँ उन दिनों न थीं। यह सब होते हुए भी यह व्यवस्था 'निन्दनीय' नहीं कही जा सकती, जैसा कि मुख्य अँगरेज इतिहासकारों का मत है। इसमें जो दोष थे, उनसे तत्कालीन यूरोप के बहुत से राज्य भी मुक्त न थे।

मराठों का पतन—पेशवाओं के अन्त के साथ ही साथ मराठों का भी वास्तव में पतन हो गया। अन्य मराठा राज्य अँगरेजों के अधीन हो गये। गायकवाड, होलकर और सिन्धिया के राज्य अब भी हैं। भोंसला का बचा-खुचा राज्य डलहौजी के समय में हडप कर लिया गया। युद्ध में हारने के कुछ कारणों का वर्णन पहले किया जा चुका है, पर सबसे मुख्य बात इस समय आपस की फूट थी। शिवाजी के जीवनकाल में देशभक्ति का जो भाव उदय हुआ था, वह अब अस्त हो चुका था। पेशवाओं के समय में मराठों का साम्राज्य जागीरों का एक समूह बन गया था, जिसको एकता में बाँधनेवाला कोई दृढ बन्धन न था। नाना फडनवीस के साथ नीति विदा हो गई थी। इस समय कोई योग्य नेता न रह गया था। संसार में क्या हो रहा है, इसका कुछ भी ज्ञान तत्कालीन मराठा राजाओं को न था।

अँगरेजों का राज्य स्थापित हो जाने से भारतवर्ष का सम्बन्ध यूरोप की राजनीति से हो गया था। उसी की चाल के साथ साथ भारतवर्ष में अँगरेजों की नीति बदलती थी। अमरीका स्वतन्त्र हो गया था। यूरोप में इन दिनों फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति का जोर था। परन्तु मराठा राजाओं को इनकी खबर तक न थी। भूगोल और इतिहास तो वे जानते ही न थे। इस सम्बन्ध मे दूतों को पेरिस भेजकर टीपू ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया था। शिवाजी के समय में मराठों के जीवन मे जो सादगी थी, वह भी इस समय लुप्त हो गई थी और उसके स्थान पर कई एक दुर्गुण आ गये थे। अँगरेजों की गूढ़ नीति, उनका रहन-सहन, उनकी सभी बातें मराठों के लिए नई थीं, जिनको जानने का उन्होंने कभी प्रयत्न तक न किया था। एक ओर आपस की फूट, यह अज्ञानता, उदासीनता तथा शिथिलता थी और दूसरी ओर राष्ट्रीय एकता, अद्भुत संगठन, सब बातों के जानने की उत्सुकता, कुटिल नीति, अदम्य उत्साह तथा बुद्धि की प्रखरता थी। ऐसी दशा मे परिणाम वही हो सकता था, जो वास्तव मे हुआ।

अवध के शाह—सन् १८१४ मे नवाब सादतअली की मृत्यु हो गई। हेबर लिखता है कि वह एक योग्य शासक था, उसने सीमाओं को सुरक्षित बना दिया, राज्य की आमदनी बढ़ा दी और वह खजाने मे बहुत सा धन छोड़ गया। वजीर हकीम मेंहदी ने शासन मे कई एक सुधार किये। उसके समय मे प्रजा सन्तुष्ट थी। वह अँगरेजों को शासन मे बहुत हस्तक्षेप न करने देता था। उसके बाद उसका लडका गाजीउद्दीन गद्दी पर बैठा। इन दिनों कर्नल बेली रेजीडेंट था। वह नवाब की हर एक बात मे हस्तक्षेप करता था। उसके विषय मे स्वयं लार्ड हेस्टिंग्ज लिखता है कि "वह छोटी छोटी बातों में भी नवाब को दबाता था, बिना सूचना दिये हुए उसके महल में घुस पडता था, अपने आदमियों को बडी बडी तनख्वाहें दिलवाता था, जो नवाब की सब बातों का उसको पता देते थे और सबसे भारी बात तो यह थी कि वह नवाब के साथ सदा शासक की भाषा का प्रयोग करता था, जिससे प्रजा और घरवालों की दृष्टि मे नवाब का बड़ा अपमान होता

था"।[1] गोरखा युद्ध के समय पर नवाब ने कम्पनी को दो करोड़ रुपया कर्ज दिया था। शासन में अँगरेजों के हस्तक्षेप से प्रजा में भी बहुत अशान्ति फैल रही थी। प्राचीन रीति-रिवाजों का नये प्रबन्ध में कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता था। इन सब बातों का विचार करके गवर्नर जनरल ने कर्नल बेली को रेजीडेंट के पद से हटा दिया और शासन में नवाब को कुछ स्वतंत्रता भी दे दी।

इस समय तक अवध के नवाब मुगल सम्राट् के वजीर कहलाते थे, परन्तु अब लार्ड हेस्टिंग्ज की सलाह से गाजीउद्दीन हैदर ने 'अवध के शाह' की उपाधि धारण की। इससे अवध का कम्पनी के साथ जो सम्बन्ध था, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भोले नवाब को प्रसन्न करने के लिए यह केवल एक खेलवाड़ ही नहीं था, बल्कि लार्ड हेस्टिंग्ज की इसमें भी नीति थी। वह नवाब के इस कार्य से मुसलमानों में फूट फैलाना चाहता था। इसको उसने अपने एक पत्र में स्वयं स्वीकार किया है।[2] इस समय तक उत्तरी भारत के मुसलमानों में दिल्ली सम्राट् के नाम का सम्मान था, परन्तु अब अवध के मुसलमानों का दल ही अलग हो गया। साथ ही साथ सबको यह भी दिखला दिया गया कि कम्पनी को भी बादशाह बनाने का अधिकार है। इस तरह मुगल सम्राट् का खुले तौर पर अपमान किया गया। अब दीवानी के दिन व्यतीत हो चुके थे, वह कम्पनी का वेतनभोगी था, फिर उसके नाम के मान रखने की आवश्यकता ही क्या थी?

गोरखा युद्ध के समय पर जो रुपया लिया गया था, उसके बदले में खैरीगढ़ और तराई का कुछ भाग अवध को दिया गया। सन् १८२५ में उससे डेढ़ करोड़ रुपया फिर कर्ज लिया गया। इस तरह अवध का खजाना कम्पनी की सहायता के लिए खाली किया जाता था और कुप्रबन्ध का दोष शासकों के मत्थे मढ़ा जाता था। गाजीउद्दीन तालुकदारों की मालगुजारी बढ़ाना

---

१ लार्ड हेस्टिंग्ज, प्राइवेट जर्नल, पृ० ९७।

२ मालकम, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जि० १, पृ० ५३६।

चाहता था, यह उसका अन्याय बतलाया जाता था। पादड़ी हेबर लिखता है कि गाजीउद्दीन बराबर कहा करता था कि कम्पनी की मित्रता पर भरोसा करना ही मेरी सब कठिनाइयों का मुख्य कारण है। इस पर विश्वास करके मैंने अपनी सेना हटा दी, इसीलिए अब मुझे सैनिक सहायता के लिए कम्पनी को इतना रुपया देना पड़ता है। यदि यह रुपया बच जाता, तो मैं अपनी प्रजा का कुछ हित कर सकता।[1] गाजीउद्दीन अवध का अन्तिम शासक था, जिसको प्रजा का कुछ ध्यान था। उसके बाद भोग-विलास ही वहाँ के शासकों का मुख्य काम रह गया।

शासन-प्रबन्ध—लार्ड हेस्टिग्ज के समय में शासन में भी कुछ परिवर्तन किये गये। इन दिनों अँगरेजी अदालतें अन्याय और अत्याचार के लिए बदनाम हो रही थीं। एलफिंस्टन लिखता है कि अदालतों के भय से लोग गाँव छोड़कर भाग जाते थे।[2] जिनका मुख्य काम न्याय था, उनसे इतना भय हो रहा था। अदालतों के सुधारने का कुछ प्रबन्ध किया गया और उनकी सख्या बढ़ा दी गई। इनमें कुछ हिन्दुस्तानी भी रखे गये। कार्नवालिस के समय से कलेक्टर के हाथ में केवल माल-विभाग ही रह गया था, अब उसको न्याय के अधिकार फिर से दिये गये। उड़ीसा में कर इतना बढ़ा हुआ था कि बड़े उपद्रव हो रहे थे। उसको शान्त करने के लिए एक कमिश्नर रखा गया, जिसको जनता के रीति-रिवाजों का ध्यान रखने की ताकीद की गई। आगरा प्रान्त में नया बन्दोबस्त करने के लिए फिर से पैमायश शुरू की गई। लार्ड हेस्टिग्ज के सौभाग्य से उसको बड़े योग्य अफसर मिल गये थे, जिनकी सहायता से वह शान्ति स्थापित कर सका।

सर टामस मनरो—यह मदरास का गवर्नर था। वेलेजली के समय में टीपू से जो राज्य छीना गया था, उसका बन्दोबस्त इसी ने किया

---

१ हेबर, नैरेटिव ऑफ ए जरनी, जि० २, पृ० ८६-८७।

२ कोलब्रुक, लाइफ ऑफ एलफिंस्टन, जि० २, पृ० १३१।

था। यह लार्ड कार्नवालिस के जमीन्दारी बन्दोबस्त का पक्षपाती न था। इसने मदरास में रेयतवारी बन्दोवस्त ही जारी रखा। इसका मत था कि प्राचीन समय से भारतवर्ष में यही बन्दोवस्त था। इसके अनुसार किसानो से सरकारी तहसीलदारो द्वारा लगान वसूल किया जाता है। जब तक किसान बराबर लगान अदा करता रहता है, वह बेदखल नहीं किया जा सकता। अपने खेतो को रहन-बय करने का भी उसको कुछ अधिकार रहता है। छोटे बडे सभी किसानो को एक ही तरह के अधिकार प्राप्त रहते है। इस बन्दोवस्त से तभी लाभ हो सकता है, जब तहसीलदारो को किसानो के हित का बराबर ध्यान रहे, जिसकी सदा आशा नहीं की जा सकती। यह दोष मनरो के समय मे ही दिखलाई देने लगा था और उसको कई एक तहसीलदार तथा कलेक्टरो की अच्छी तरह से खबर लेनी पडी थी। मनरो ने जो लगान बाँधा था, वह भी बहुत ज्यादा था। सन् १८५५ मे उसके प्रबन्ध मे बहुत कुछ परिवर्तन किये गये, तब से मदरास प्रान्त में यह ढँग अच्छी तरह चल रहा है। मनरो पंचायतो का बडा पक्षपाती था। उसके बहुत अनुरोध करने पर मदरास में जजो के साथ पंचायतो को बिठलाने का प्रबन्ध किया गया। परन्तु 'जूरी' के ढँग की पंचायतो का देश मे रिवाज न था, इसलिए विशेष सफलता न हुई।

टामस मनरो

हिन्दुस्तानियो को बड़े बड़े ओहदे न देना उसकी राय में बड़ी भूल थी। वह लिखता है कि जब तक हिन्दुस्तानियो को प्रतिष्ठित पद देकर उनको उनकी जिम्मेदारी का ध्यान नहीं दिलाया जायगा, तब तक उनके चरित्र में सुधार करने की आशा व्यर्थ है। ऐसा न होने ही के कारण अँगरेजों के अधीन प्रान्तो में रहनेवाले हिन्दुस्तानी "सबसे अधिक गिरे हुए है।" केवल भारतवर्ष के ही लोग घूस नहीं खाते हैं, प्रत्युत सब देशो का यही हाल है। उस शिक्षा के लिए उत्साह ही क्या हो सकता है, जिसके प्राप्त करने पर केवल लेखक का पद मिल सकता है? उसका कहना था कि यदि इँग्लेंड में इसी ढंग से कोई विदेशी शासन करने लगे, तो थोड़े ही काल में वहाँ की भी वही दशा हो जायगी, जो भारत की है। केवल अँगरेजों द्वारा शासन करना नीति और न्याय दोनो के विरुद्ध है। दासता में रहने से राष्ट्रीयता के गुणों का ह्रास हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य केवल सार्वजनिक जीवन ही में नहीं बल्कि व्यक्तिगत जीवन में भी गिर जाता है। इससे तो यही अच्छा होता कि अँगरेज भारतवर्ष को एक-दम छोड़ देते। यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो हिन्दुस्तानियो को शासन में पूरा हिस्सा देना चाहिए।[1]

माउंट स्टुआर्ट एलफिंस्टन—पेशवा से जो राज्य छीना गया, उसको पहले बगाल सरकार के अधीन रखने का विचार था, पर अन्त में वह बम्बई प्रान्त में मिला दिया गया और एलफिंस्टन, जो पेशवा के यहाँ रेजीडेंट था, बम्बई का गवर्नर बनाया गया। वह अच्छी तरह जानता था कि जनता के लिए पूना का प्रभुत्व भूलना सहज नहीं है, इसीलिए वह बराबर उसके भावों का ध्यान रखता था। उसने वहाँ एक-दम से कोई नया प्रबन्ध नहीं किया। सरदारो के न्यायाधिकार छीने नहीं गये, कलेक्टरों को दीवानी मामलात में यथासम्भव पचायतो द्वारा निर्णय कराने का आदेश किया गया। यह प्रबन्ध अँगरेजी अदालतों को पसन्द न था। सन् १८२३ में

१ अर्बथनट, सेलेक्शंस फ्राम दि मिनिट्स ऑफ़ सर टामस मनरो, पृ० ५६७–७६।

बम्बई मे 'सुप्रीमकोर्ट' स्थापित हो गया था, वह अपनी अधिकार-सीमा बढाना चाहता था। इसलिए थोडे समय मे अँगरेजी अदालतें खुल गई और महाराष्ट्र देश से भी पचायतों का लोप हो गया। मालगुजारी के लिए बाजीराव का चलाया हुआ ठेकेदारी का ढँग उठा दिया गया और मदरास की तरह यहाँ भी, कुछ फेर-फार के साथ, रैयतवारी बन्दोबस्त किया गया। बाजीराव के पहले भी ऐसा ही प्रबन्ध था। बन्दोबस्त को स्थायी करने के लिए सन् १८२५ मे पैमायश प्रारम्भ की गई। पटेलो से पुलिस के अधिकार ले लिये गये और कलेक्टर की अध्यक्षता मे सवार तथा पैदल पुलिस रखी गई। इतिहासकार किंकेड लिखता है कि बहुत दिनो तक इस नई पुलिस के अफसरो को वह योग्यता प्राप्त नहीं हुई, जो पेशवाओं के समय में प्राप्त थी। एलफिस्टन को फारसी का अच्छा ज्ञान था। उसने भारतवर्ष का एक अच्छा इतिहास लिखा है।

सर जान मालकम—एलफिस्टन के बाद सर जान मालकम बम्बई का गवर्नर हुआ। यह भी बहुत दिनो से भारतवर्ष में काम करता था। लार्ड मिंटो के समय में यह फारस भी गया था। देशी राजाओ के स्वभाव को यह ख़ूब पहचानता था और उनसे सहज ही मे अपना मतलब निकाल लेता था। बाजीराव को इस पर बडा विश्वास था। इसने भी भारतवर्ष का एक अच्छा इतिहास लिखा है। मध्य भारत पर भी इसका एक अच्छा ग्रन्थ है, जिसमें बहुत सी तत्कालीन बातो का बडा रोचक वर्णन है।

कर्नल जेम्स टाड—राजपूताना के सम्बन्ध मे टाड साहब का नाम प्रसिद्ध है। इसी की सहायता से राजपूत राजाओ के साथ सन्धियाँ हुई थीं। मराठों के विरुद्ध इसने राजपूतो को अच्छी तरह भडकाया था। राजपूतों के लिए इसके हृदय मे सच्चा आदर था। इसने बडे परिश्रम और खोज के साथ राजपूताने के मुख्य राज्यो का इतिहास लिखा है, जो "टाड राज-

स्थान" के नाम से प्रसिद्ध है। बिना इस ग्रन्थ के हमको राजपूतों की बहुत सी बातों का पता ही न चलता।
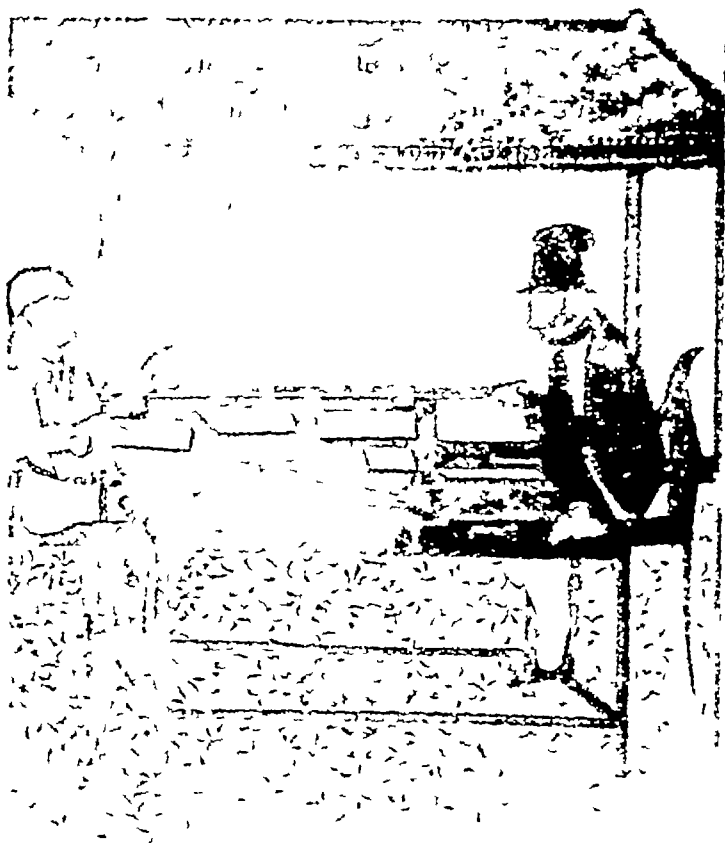
जैन पंडित और कर्नल टाड

लार्ड हेस्टिंग्ज़ का इस्तीफ़ा—हैदराबाद में पामर कम्पनी महाजनी का काम करती थी। निज़ाम पर उसका बहुत कर्ज़ा हो गया था। धीरे धीरे कर्नाटक के नवाबवाला हाल निज़ाम का भी हो रहा था। इस कम्पनी

के एक हिस्सेदार से हेस्टिंग्ज का भी कुछ सम्बन्ध था। कहा जाता है कि इसी लिए वह इस मामले में चुप रहता था। सचालकों को यह बात पसन्द न आई। इस पर जनवरी सन् १८२३ में उसने इस्तीफ़ा दे दिया। नौ वर्ष के शासन-काल में उसने बहुत कुछ किया। भारतवर्ष की उत्तरी सीमा को उसने हिमालय तक पहुँचा दिया, पिंडारियों की बला को दबा दिया और मराठा-मंडल को तोड-फोड़कर उसकी शक्ति को नष्ट कर दिया। कम्पनी के राज्य में उसने बहुत सी भूमि बढा दी। इन सब कामों के लिए सचालकों से उसको ८० हजार पौंड मिले। उसकी तुलना वारेन हेस्टिंग्ज या वेलेजली से नहीं की जा सकती। उसमें न उतनी चतुरता ही थी और न उतनी योग्यता ही। शासन में उसको जो कुछ सफलता हुई, वह योग्य अफसरों के कारण हुई। यह बात अवश्य है कि भारतवर्ष में उसने ब्रिटिश सरकार को "वास्तव में सर्वोच्च" बना दिया, जैसा कि उसका उद्देश्य था।

विलायती माल—इस समय तक भारतवर्ष केवल 'कृषिप्रधान' देश न बना था। इस समय की दशा का वर्णन करते हुए मनरो का कहना था कि सभी आवश्यक वस्तुएँ यूरोप की अपेक्षा भारतवर्ष में कहीं सस्ती और अच्छी बनती है। इनमें सूती तथा रेशमी कपडे, चमडा, कागज, लोहे तथा पीतल के बर्तन और खेती के औजार मुख्य है। मोटे ऊनी कपडे, बहुत अच्छे तो नहीं, पर सस्ते अवश्य होते हैं। बढिया कम्बल, हमारे कम्बलों से कहीं अधिक गरम और टिकाऊ होते हैं। भारतवर्ष के लोग वैसे ही व्यापारी हैं, जैसे कि हम लोग। उनके जितने पवित्र स्थान और तीर्थ हैं, वास्तव में वे मेले है, जहाँ सब तरह का माल बिकता है। भारतवर्ष मे धर्म और व्यापार एक साथ चलते हैं। व्यापार की ओर हिन्दुस्तानियों की प्रवृत्ति देखकर ऐसा जान पडता है कि अँगरेजों को वहाँ का व्यापार छोड़ना पड़ेगा। एक बात यह भी है कि हिन्दुस्तानियों का रहन-सहन इतना सादा और कम-खर्च है कि कोई यूरोपियन उनका मुकाबला नहीं कर सकता।[1]

---

१ अर्बथनट, सेलेक्शस फ्राम दि मिनिट्स ऑफ मनरो, पृ० ९४, ४८८।

सन १८१२ में पार्लामेंट की कमेटी के सामने कहा गया था कि यदि भारतवर्ष का माल इँग्लेंड में बेचा जाय तो वहाँ के बने हुए माल से ५० से ६० सैकड़ा कमीशन और लाभ के साथ बिक सकता है। मिलबर्न के 'ओरियंटल कामर्स' नामक ग्रन्थ में भी इस समय की व्यापारिक स्थिति का अच्छा वर्णन मिलता है। डाक्टर बुकानन के 'जर्नल' में दिये हुए विवरण से पता लगता है कि केवल पटना, शाहाबाद, भागलपुर और गोरखपुर के ज़िलों में, जिनकी आबादी ८३६३१५४ थी, ८१५५२६ लोग कताई का काम करते थे। साल भर में ५३१८१२७ रुपये का सूत काता जाता था। इन ज़िलों में ४३६६३ करघे चलते थे, जिनमें ५४२७६०१ रुपये साल का कपड़ा बनता था।[1] दक्षिण भारत की भी यही दशा थी। मैसूर में ब्राह्मणों को छोड़कर सभी जाति की स्त्रियाँ कताई का काम करती थीं। केवल मदरास से ५२ लाख रुपये से अधिक का माल बाहर जाता था।[2] इस तरह कताई-बुनाई भारतवर्ष का मुख्य व्यवसाय था।

इस व्यवसाय को चौपट करने का बराबर प्रयत्न हो रहा था। विदेशीय व्यापार को अपने हाथ में न रखकर हिन्दुस्तानियों ने बड़ी भूल की थी। इँग्लेंड ने इससे पूरा लाभ उठाया। अब वहाँ भारत से जानेवाले माल पर ७० से ८० सैकड़ा तक चुंगी बढ़ा दी गई और भारत में विलायती माल पर एकदम से चुंगी घटा दी गई। विलसन लिखता है कि यदि ऐसा न किया जाता तो भाफ के जोर से भी पेसली और मैंचेस्टर के मिल न चल पाते। भारतवर्ष में भी विलायती कपड़े के प्रचार करने का भरपूर प्रयत्न किया गया। देश की अन्य कलाओं को भी नष्ट करने में कोई कसर न रखी गई। वेलेजली के समय तक बंगाल में जहाज़ ख़ूब बनते थे।[3] बम्बई के बने हुए जहाज़ लन्दन या लिवरपूल के जहाज़ों से किसी तरह घटिया न होते थे।[4] अब इस बात का

१ पुन्ताम्बेकर और वरदाचारी, हाथ की कताई-बुनाई, (हिन्दी) पृ० ८५।

२ बुकानन, जर्नी फ़्राम मदरास थ्रू मैसूर, कनाडा एण्ड मलाबार, सन् १८०७।

३ वेलेजली, डेसपैचेज, स० ओयन, पृ० ७०५।

४ हेबर, जर्नल, जि० २, पृ० ३८२।

प्रयत्न किया गया कि भारतीय जहाजों पर अँगरेज व्यापारी माल न लादा करें। इससे इस कला को भी बड़ा धक्का पहुँचा। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि भारत की मुख्य कलाएँ नष्ट होने लगीं और विलायती माल की खपत बढ़ने लगी। बने हुए माल के बजाय कच्चा माल अधिक बाहर जाने लगा और भारतवर्ष 'औद्योगिक' से 'कृषिप्रधान' देश बनने लगा।

आर्थिक जीवन—इँगलैंड की नीति का देश के आर्थिक जीवन पर बड़ा विकट प्रभाव पड़ा। कपड़े की कला से बहुतों का निर्वाह होता था। औरत मर्द सभी इसमें काम करते थे। खेती के साथ साथ यह काम हो सकता था। कताई से स्त्रियों को आजकल की दर से दस बीस रुपया साल तक मिल जाता था। इसी तरह प्रति कर्घा २३ से ४३ रुपया तक लाभ होता था। पूरी मेहनत करनेवाले जुलाहे तो साल भर में आजकल की दर से पाँच सौ रुपये से भी अधिक कमा लेते थे।[1] उन दिनों सब चीजों का भाव भी सस्ता था। उस समय की दर से गेहूँ और चावल रुपये का मन भर मिलता था।[2] बुकानन लिखता है कि बहुत अच्छे ढँग से रहनेवाले पाँच आदमियों के कुटुम्ब के खाना-खुराक में ३३४ और कपड़े में २१० रुपया साल खर्च होता था। सबसे गरीब लोगों के इतने बड़े कुटुम्ब का खाने के लिए २१ और पहनने के लिए अढाई रुपये में ही काम चल जाता था।[3] परन्तु एक ओर तो कपड़े का व्यापार नष्ट होने लगा और दूसरी ओर लगान ऐसा बढ़ा दिया गया कि खेती में भी अधिक लाभ न रह गया। फल यह हुआ कि बेचारी जनता हर तरह से पिसने लगी। बुकानन का कहना है कि गोरखपुर की दशा नवाबों के समय से भी गई बीती थी। जहाँ पहले खेती होती थी, वहाँ जमीन ऊसर पड़ी थी। मदरास का इलाका, जो पचास वर्ष

---

१ हाथ की कताई-बुनाई, पृ० ८६, ८७।

२ मिल्बर्न, ओरियंटल कामर्स, सन् १८१३, जि० २, पृ० १५७।

३ हाथ की कताई-बुनाई, पृ० ८९।

सन् १८२३ मे भारत
रा ज पू ता ना
सि न्ध
अ व ध
ब गा ल
नि ज़ा म
मैसूर
मदरास
अ र ब
सा ग र
ब गा ल
की
खा ड़ी
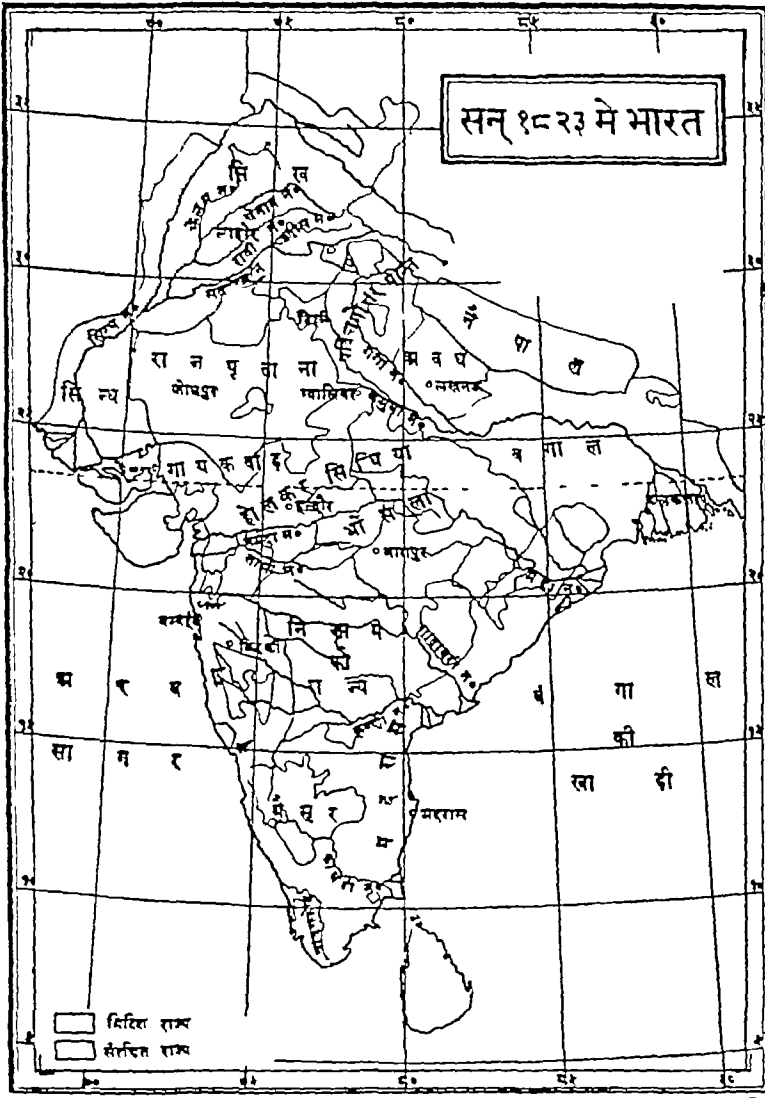
परिच्छेद १०

सुधार और शिक्षा

जान ऐडम और अखबार—लार्ड हेस्टिग्ज के चले जाने पर, सात महीने तक, कौंसिल का बडा मेम्बर जान ऐडम गवर्नर-जनरल के पद पर काम करता रहा। इसने 'कलकत्ता जरनल' नामक अँगरेज़ी पत्र के सम्पादक को, सरकारी अफसरों की तीव्र आलोचना करने के कारण, पकड़वा कर ज़बर-दस्ती इँग्लैंड भेजवा दिया। भारतवर्ष में सबसे पहला अँगरेज़ी पत्र सन् १७८० में निकला था। वारेन हेस्टिंग्ज की स्त्री पर आक्षेप करने के कारण इसके सम्पादक को बहुत दिनों तक जेल में रहना पड़ा था। लार्ड कार्नवालिस के समय में भी एक सम्पादक को देश-निष्कासन का दंड दिया गया था। लार्ड वेलेजली और मिंटो की भी समाचारपत्रों पर बडी तीव्र दृष्टि रहती थी। लार्ड हेस्टिंग्ज़ सरकारी कार्यों की विचारपूर्ण आलोचना के विरुद्ध न था, इसी लिए इसके समय में समाचारपत्रों को कुछ स्वतंत्रता मिल गई थी। सन् १८१८ से 'समाचार दर्पण' नाम का एक बँगला साप्ताहिक पत्र भी निकलने लगा था। इस समय तक भारतवासियों का छापाखाना की ओर ध्यान ही न गया था। पहले-पहल पादड़ियों ने कुछ पुस्तकें छपवाईं थीं। 'समाचार दर्पण' भी मार्शमैन नाम के एक पादडी का ही निकाला हुआ था। जान ऐडम को लार्ड हेस्टिंग्ज़ की नीति पसन्द न थी। उसने यह नियम बना दिया कि बिना सरकारी लाइसेंस लिये हुए किसी को अखबार छापने का अधिकार नहीं है।

लार्ड एमहर्स्ट—अगस्त सन् १८२३ में इँग्लैंड से लार्ड एमहर्स्ट गवर्नर-जनरल नियुक्त होकर आ गया। चीन में यह कुछ समय तक दूत रह

चुका था। इतने दिनो की लडाई से संचालकों की नीति में फिर परिवर्तन हो रहा था। उनका कोई निश्चित सिद्धान्त न था, उन्हे केवल रुपये की चिन्ता रहती थी। यदि युद्ध मे बराबर लाभ होता रहे, तो उसमें कोई दोष न था, पर ज्योंही खर्च बढने लगता था, उसको बन्द कर देने की पुकार मच जाती थी। लार्ड एमहर्स्ट से यह आशा थी कि उसके समय मे कोई युद्ध न होगा, पर उसकी नीति ने कम्पनी को ऐसे युद्ध में भिडा दिया, जिसका खर्च गत पंडारी तथा मराठा युद्धो से कई गुना अधिक था, जो बराबर दो वर्ष तक चलता रहा और जिसमें विजय होने पर भी ब्रिटिश सरकार की बहुत कुछ हानि हुई।

एमहर्स्ट

बर्मा का राज्य—जिस समय अंगरेज़ बंगाल मे लड रहे थे, उन्हीं दिनो, सन् १७६० के लगभग, अलोम्प्रा नामक एक सरदार ने बर्मा मे स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। वह पहले एक साधारण मनुष्य था, परन्तु उसने थोडे ही दिनो मे अपनी बुद्धि और बाहु-बल से सारे बर्मा को एक बना दिया। वह अधिकतर आवा नगर मे रहता था। उसके वंशजो ने राज्य का और भी अधिक विस्तार किया। पहले पीगू पर अधिकार करके सन् १७६६ मे स्याम राज्य से टेनासरिम छीन लिया गया। सन् १७८४ मे अराकान भी जीत लिया गया। यह पहले एक स्वतंत्र राज्य था और इसकी सीमा पश्चिम में ढाका तक थी। सन् १८१३ मे बर्मा के राजा ने मनीपुर पर अधिकार कर लिया और सन् १८२२ मे उसने आसाम जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इस तरह बर्मा का राज्य बंगाल की पूर्वोत्तर सीमा तक पहुँच गया।

पहला युद्ध—यह सीमा स्पष्ट न होने के कारण दोनों राज्यों में बहुत दिनो से झगडा चला आता था। अराकान के बहुत से निवासी भागकर अँगरेजो के राज्य में चटगाँव के समीप बस गये थे। ये लोग बराबर अराकान की सीमा पर लूट-मार किया करते थे। इनके एक सरदार ने इन दिनो बडा ऊधम मचा रखा था। अराकान का वर्मी हाकिम इन लोगो को निकाल बाहर करने के लिए अँगरेजो से बराबर अनुरोध करता था, परन्तु ये लोग उसकी एक भी न सुनते थे और इधर-उधर की बातो ही में टाला करते थे। उसके शब्दो मे इस स्थान पर "आग और बारूद" दोनो एकत्र हो रहे थे। समझौते से यह प्रश्न हल होते हुए न देखकर वर्मियो ने चटगाँव के निकट शाहपुरी नाम के टापू पर अधिकार कर लिया। उनका कहना था कि यह टापू वर्मा राज्य का है। चटगाँव और ढाका पर भी वे अपना हक़ दिखलाने लगे, क्योकि किसी समय ये स्थान अराकान राज्य में शामिल थे।

दूसरी ओर आसाम में भी झगडे चल रहे थे। वहाँ कई एक छोटे छोटे राज्य थे, जो आपस में लडा करते थे। वर्मा के आधिपत्य से वे सन्तुष्ट न थे। मनीपुर के राज्य का सन् १७६२ से अँगरेजो के साथ सम्बन्ध था। दो तीन और राजा भी अँगरेजों की सहायता से वर्मियो को निकालना चाहते थे। इसके लिए अँगरेजो की कुछ सेना उधर पहुँच चुकी थी और कचार के राजा से सन्धि की बातचीत हो रही थी। वर्मियो की सेना भी दो तरफ़ से आगे बढ रही थी। विक्रमपुर के निकट दोनो की मुठभेड़ हो गई, जिसमें वर्मी ऐसी वीरता से लडे कि अँगरेजी सिपाहियो को पीछे हटना पडा।[1] इस पर फरवरी सन् १८२४ में युद्ध की घोषणा कर दी गई। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि वर्मियो ने अँगरेजों पर कोई आक्रमण नहा किया था। वे कचार की तरफ बढ रहे थे, जिसके साथ अँगरेजों की इस समय तक सन्धि न हुई थी।

वर्मा के राजा ने महाबन्दूला की अध्यक्षता में एक सेना बगाल पर आक्रमण करने के लिए भी भेजी। रामू के निकट अँगरेजी सेना के साथ

[1] लॉरी, अवर वर्मीज वार्स, सन् १८८५, पृ० २१।

इसका युद्ध हुआ, जिसमें कप्तान नोटन मारा गया और अँगरेजी सेना भाग निकली। इस पर कलकत्ते में हलचल मच गया और अँगरेजों को बड़ा भय होने लगा। परन्तु इतने ही में समुद्र के मार्ग से एक अँगरेजी सेना रंगून पहुँच गई। इस पर महाबन्दूला वापस बुला लिया गया। गवर्नर-जनरल को बाँध ले जाने के लिए वह सोने की जंजीरें लाया था, लेकिन उसको खाली हाथ ही लौटना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि सैनिक दृष्टि से यह भूल की गई। उधर आसाम में भी कूटनीति से काम लिया गया और देशी राजाओं को अपने पक्ष में मिलाकर बर्मियों को वहाँ से हटाया गया।

बारिकपुर का विद्रोह—इस युद्ध के बीच ही में कलकत्ता के निकट बारिकपुर में एक बड़ा उपद्रव हो गया। यहाँ पर हिन्दुस्तानी सेना की एक बड़ी छावनी थी। उन दिनों बंगाल के हिन्दुस्तानी सैनिकों को कई एक शिकायतें थीं। बम्बई और मदरास के सिपाहियों से उनको भत्ता कम मिलता था। गोरों के लिए तम्बू लग जाते थे और उनका सामान लाद ले चलने का

बारिकपुर की कोठी

सब प्रबन्ध कर दिया जाता था, पर हिन्दुस्तानी सिपाहियों के कष्ट का कुछ भी ध्यान न रखा जाता था। रहने के लिए झोपड़े तक उन्हें स्वयं ही बनाने पड़ते

थे। वर्मा में युद्ध छिड़ने पर समुद्र के मार्ग से बंगाल की सेना को रंगून भेजना निश्चित किया गया था। इस सेना में बहुत से कुलीन थे, जो समुद्र-यात्रा निषिद्ध मानते थे। कुछ लोग अलग अलग अपने वर्तन ले जाना चाहते थे, जिनके ढोने के लिए अफसर कोई प्रबन्ध नहीं कर रहे थे। उनकी इन सब शिकायतों पर कुछ भी ध्यान न दिया गया और कहा गया कि वे आज्ञा न मानकर विद्रोह करना चाहते हैं। कलकत्ता से गोरी सेना बुलाकर उनको घेर लिया गया और पहली नवम्बर सन् १८२४ को कवायद करने से इनकार करने पर गोली चलाने की आज्ञा दे दी गई। इसमें बहुत से सिपाही मारे गये। कई एक नेताओं को फासी दी गई और बहुतों को जेल में रखकर सड़क पीटने का काम दिया गया। समझाने-बुझाने से ही यह उपद्रव शान्त हो सकता था। सिपाहियों की शिकायतों में बहुत कुछ सत्यता थी। किसी तरह की हानि पहुँचाना उनका उद्देश्य न था। पास की ही कोठी में लार्ड एमहर्स्ट ठहरा हुआ था। यदि वे लोग चाहते तो उस पर आक्रमण कर सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनकी जो बन्दूकें मिलीं, वे सब खाली थीं। ऐसी दशा में पहले उन पर गोली चलाना और फिर कठोर दंड देना उचित नहीं कहा जा सकता। अन्य सैनिकों पर भी इसका प्रभाव बहुत बुरा पड़ा। वर्मा युद्ध की असफलता और इसका समाचार मिलने पर संचालकों ने एमहर्स्ट को वापस बुलाना निश्चित कर लिया, परन्तु यह पता लगने पर कि इसमें गवर्नर-जनरल का अधिक दोष नहीं था, ऐसा नहीं किया गया।

वर्मा में युद्ध—बंगाल से सेना को रंगून भेजने का विचार छोड़ दिया गया और सर आर्चीबाल्ड कैम्पबेल की अध्यक्षता में मदरास से सेना भेजी गई। इस सेना ने मई महीने में रंगून पर अधिकार कर लिया, परन्तु यहाँ इसको बड़ा कष्ट सहना पड़ा। वर्मियों ने सारा देश उजाड़ कर दिया था, रसद का कोई प्रबन्ध न था, बरसात शुरू हो गई थी, नदियाँ भरी हुई थीं, अँगरेजों को देश का अधिक ज्ञान न था और बीमारी भी फैल रही थी। ऐसी दशा में बहुत दिनों तक अँगरेजी सेना पड़ी रही। इतने में बंगाल से

महाबन्दूला भी आ पहुँचा और अच्छी तरह से युद्ध प्रारम्भ हो गया। रगून से कुछ दूरी पर इसने अपने पडाव को बडे यत्न से सुरक्षित बना रखा था। एक अगरेज लिखता है कि इस सम्बन्ध में उसकी योग्यता किसी वैज्ञानिक इञ्जीनियर से कम न थी। यहाँ पर अचानक गोली लग जाने से उसकी मृत्यु हो गई। महाबन्दूला बडा योग्य और वीर सेनापति था।[1] यदि वह जीवित रहता तो अगरेजो के लिए इस युद्ध मे विजय पाना सहज नही था। इधर अँगरेजी सेना ने अराकान और टेनासरिम पर अधिकार कर लिया। महाबन्दूला के मरने पर कैम्पबेल ने आगे बढकर प्रोम नगर भी जीत लिया।

बर्मियो का जगी मच्चान

इस पर सन्धि की बातचीत होने लगी।

यांडबू की सन्धि—फरवरी सन् १८२६ को याडबू नामक स्थान पर सन्धि हो गई। अँगरेजो को आसाम, अराकान और टेनासरिम के सूबे मिल गये। आसाम मे कचार, जयन्तिया और मनीपुर के राज्य बर्मा के आधिपत्य से स्वतत्र हो गये। अँगरेजो को लडाई का खर्च भी मिला और

१ स्नॉडग्रास, नैरेटिव आफ दि बर्मीज़ वार, सन् १८२७, पृ० १७५–७८।

वर्मा के राजा ने अपने दरबार मे अँगरेज रेजीडेंट भी रखना स्वीकार किया। वर्मियो के हाथ से बहुत सा समुद्र-तट निकल गया और बगाल की पूर्वीय
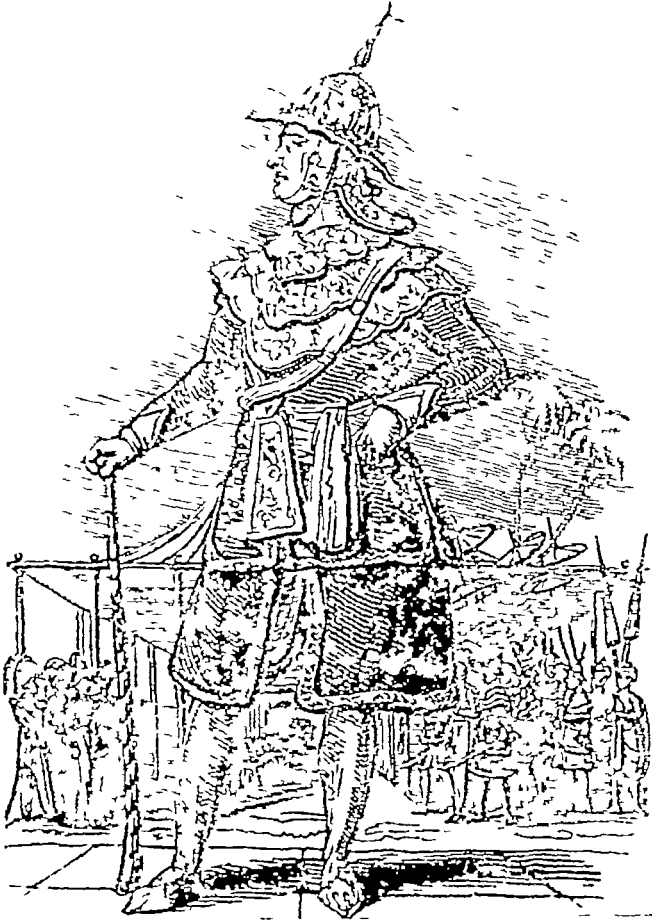
सन्धि-सम्मेलन

सीमा सुरक्षित हो गई। इस युद्ध में वर्मी बडी वीरता से लडे, उनके दूत मराठा राजाओ तक पहुँचना चाहते थे और भारतवासियो के साथ मिलकर

था और आक्टरलोनी, जो सेना लेकर भरतपुर की ओर बढ रहा था, वापस बुला लिया गया था। 'गुप्त कमेटी' का भी कहना था कि हमारी शक्ति की वृद्धि से अन्य राज्यों के घरेलू मामलात में हस्तक्षेप करने का हमारा अधिकार भी बढ गया, ऐसा कभी नहीं माना जा सकता। परन्तु मेटकाफ की दलीलों मे पडकर गवर्नर-जनरल को अपना मत बदलना पडा। उसका कहना था कि सन्धियो द्वारा हस्तक्षेप करने का अधिकार है या नहीं, इसका कोई प्रश्न नही है। "साधारण शान्ति, नियम और अधिकारों के सर्वोच्च संरक्षक" होने के कारण बालक को गद्दी पर बिठलाये रखना, हमारा कर्तव्य है।[1] इस पर "समझा बुझाकर" या "बलात्" इस कर्तव्य को पूरा करने की आज्ञा दे दी गई।

भरतपुर का किला

मेटकाफ से, जिसका भरतपुर की पिछली हार के सम्बन्ध में मत दिखलाया जा चुका है, यह आशा करना व्यर्थ था कि वह "समझा-बुझाकर" अपना काम निकालेगा। दिसम्बर सन् १८२५ मे २५ हजार सेना के साथ भरतपुर घेर लिया गया। इस बार लार्ड कम्बरमियर सेनापति था। सबसे पहले उस झील पर, जहाँ से किले के चारों ओर की खाई में पानी आता था, अधिकार

१ एमहर्स्ट, (रूलर्स ऑफ इण्डिया सिरीज) पृ० १३७।

राजा, नागपुर के भोंसला, यहाँ तक कि सिंहासनच्युत पेशवा भी न छोड़ा गया। लार्ड एमहर्स्ट, इतिहासकार स्मिथ के शब्दों में, गवर्नर-जनरल के उच्च पद के योग्य न था, इस पर उसका नियुक्त करना भूल थी। परन्तु तब भी बर्मा और भरतपुर के युद्ध में विजय के लिए पार्लामेंट की ओर से उसको बधाई दी गई और 'अर्ल' की उपाधि प्रदान की गई।

दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु—सन् १८२७ में दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु हो गई। तीस वर्ष तक उसके नाम से भारतवर्ष के इतिहास में हलचल मचा रहा। किसी समय सारे उत्तरी भारत में उसका आतंक था, दिल्ली का बादशाह उसके हाथ में था, राजपूत राजा उसके चौथ देते थे, पेशवा पर उसका पूरा अधिकार था और दोआब, बुंदेलखंड तथा मालवा के अधिक भाग में उसका राज्य था। रेजीडेंट मेजर स्टिवार्ट के शब्दों में उसकी समझ में किसी प्रकार की कमी न थी। उसका स्वभाव नम्र और सीधा था, परन्तु इससे उसके

दौलतराव सिन्धिया

गवर्नर-जनरल बना दिया गया। जुलाई सन् १८२८ में वह कलकत्ता पहुँचा। तब तक कौंसिल का सदस्य बटरवर्थ बेली गवर्नर-जनरल के पद पर काम करता रहा।

शासनसुधार—सबसे पहले आर्थिक दशा सुधारने की ओर ध्यान दिया गया। इन दिनों खर्च और आमदनी में एक करोड रुपया साल का अन्तर पड़ रहा था। सैनिकों को शान्ति के समय में भी आधा भत्ता मिलता था। अन्य विभागों के अफसरों को भी बडे बडे वेतन मिलते थे। संचालकों की आज्ञा से सैनिकों का भत्ता बन्द कर दिया गया, कुछ सेना भी घटा दी गई और अन्य विभागों में भी वेतन कम कर दिया गया। इस पर अँगरेजों में बडा असन्तोष फैला और बेंटिक को बहुत कुछ बुरा-भला सुनना पडा। खर्च घटाने के साथ साथ आमदनी बढाने का भी प्रयत्न किया गया। आगरा प्रान्त में जमीन्दारों के साथ तीस वर्ष के लिए बन्दोबस्त किया गया और इलाहाबाद में मालविभाग का बडा दफ्तर 'बोर्ड ऑफ रेविन्यू' खोला गया। इस प्रबन्ध से प्रान्त की मालगुजारी बहुत बढ गई। मालवा की अफीम कराची होकर चीन को जाती थी और वहाँ कम्पनी की बंगालवाली अफीम से सस्ती बिकती थी, जिससे कम्पनी को बडा घाटा होता था। बेंटिंक ने यह नियम बना दिया कि मालवा की सब अफीम बम्बई होकर कम्पनी द्वारा चीन जाया करे। इससे मालवा के राज्यों और अफीम के काश्तकारों को बड़ा घाटा हुआ, पर कम्पनी का काम बन गया। बहुत से लोगों के पास 'लाखिराज' अर्थात् कर न देनेवाले इलाके थे। इनमें से कुछ लोगों के मरने पर, कोई लडका न होने के कारण, उनके इलाके जब्त कर लिये गये और 'लाखिराज' इलाकों के उत्तराधिकार का निर्णय कलेक्टर के हाथ में छोड दिया गया। जान मालकम लिखता है कि यदि ऐसा करना था तो इलाके देना ही व्यर्थ था। इन जब्तियों से कम्पनी की आमदनी अवश्य बढ गई, पर साथ ही साथ कितने ही बडे बडे हिन्दुस्तानी घराने नष्ट हो गये।

न्याय के प्रबन्ध में भी कुछ परिवर्तन किया गया। बहुत से मुकदमे पिछले पडे हुए थे, अँगरेज जजों को रखने में बडा खर्च पडता था। इसलिए हिन्दु-

यात्रियों को अपनी बातों में फुसला लेते थे और जंगल में या किसी एकान्त स्थान में पहुँचने पर गले में रुमाल का फन्दा डालकर उनको मार डालते थे और सब माल-असबाब छीन लेते थे। फाँसी लगाने में ये बड़े निपुण होते थे, इनका वार कभी खाली नहीं जाता था, इसी लिए ये 'फाँसीगर' भी कहलाते थे। इनके सब काम गुप्त होते थे। लाशें तक इस ढँग से छिपा दी जाती थीं कि किसी को कुछ भी पता न लगता था। ये सभी जगह बने रहते थे और आवश्यकतानुसार भेष बदला करते थे। इनके किसी किसी दल में २०० से भी अधिक मनुष्य रहते थे। ये काली का पूजन करते थे और लड़कों को अपने दलों में भर्ती किया करते थे। ये प्राय स्त्रियों को न मारते थे।

मुसलमानों के समय में भी ये बड़ा ऊधम मचाया करते थे। कहा जाता है कि अकबर ने केवल इटावा के जिले में पाँच सौ ठगों को फाँसी लटकवा दिया था। औरंगजेब ने भी बहुतों को प्राणदंड दिया था। इधर राजनैतिक अशान्ति के कारण इनकी संख्या बहुत बढ़ गई थी। बहुत से बेकार सिपाही इनमें शामिल हो गये थे। कुछ जमीन्दार और व्यापारी भी इनकी गुप्त रीति से मदद करते थे और लूट का माल लेते थे। इनके दमन करने का काम कर्नल स्लीमैन को सौंपा गया। उसको फिरंगिया नाम के एक मुखबिर से इनकी सब गुप्त बातों का पता लग गया। चारों ओर से इनकी खोज होने लगी, प्राण बचाने के लिए बहुत से मुखबिर हो गये और ६ वर्ष में लगभग ३२६६ ठग पकड़ लिये गये। इनमें बहुतों को फाँसी लगाई गई और बहुत से कालेपानी भेज दिये गये। मुखबिर जब्बलपुर में रख दिये गये और उनके लड़कों को खेती-बारी सिखलाने का प्रबन्ध कर दिया गया।

सती-प्रथा का अन्त—सती का अर्थ वास्तव में पतिभक्ता स्त्री है। पति की सहगामिनी बनने के लिए बहुत सी स्त्रियाँ उसके मरने पर चिता में जलकर प्राण त्याग देती थीं। इसी लिए इस तरह जल मरने का नाम 'सती होना' पड़ गया। प्राचीन समय से भारत में स्त्रियाँ बराबर सती हुआ करती थीं। परन्तु प्रत्येक स्त्री के लिए सती होना आवश्यक है, ऐसा किसी धर्मशास्त्र में उल्लेख नहीं है। सती होना स्त्री की इच्छा पर निर्भर रहता था।

देने के अतिरिक्त, कोई उपाय न था। सन् १८१८ में अकेले कलकत्ता प्रान्त में ८४४ सतियाँ हुई थीं। स्वय हिन्दुओ में इसके विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था। राजा राममोहन राय और द्वारकानाथ ठाकुर इसके रोकने के लिए बडा प्रयत्न कर रहे थे।

लार्ड वेंटिक को यह अच्छा अवसर मिल गया। उसने इस विषय की पूरी जॉच करवाई, बडे बडे अफसरों से सलाह ली, निजामत अदालत का मत लिया और इस सम्बन्ध में हिन्दुस्तानी सेना तथा पुलिस की राय जानने का भी प्रयत्न किया। जब उसको यह मालूम हो गया कि अधिकाश लोगो का मत इस प्रथा के विरुद्ध है, तब उसने इसके लिए कानून बनाना निश्चित कर लिया। परन्तु बहुतों को सन्देह था कि कानून बनाने से बडा उपद्रव मचेगा। कुछ लोगो की राय मे सेना मे विद्रोह हो जाने का भय था। स्वयं राजा राममोहन राय का भी ऐसा ही अनुमान था। परन्तु सन् १८२९ में गवर्नर-जनरल ने बगाल मे इस प्रथा के बन्द करने का कानून पास ही कर दिया। इस पर कोई उपद्रव नहीं हुआ, इसी से सिद्ध है कि जनता इसके बन्द करने ही के पक्ष में थी। कुछ बगालियो ने इस कानून को तोडने के लिए पार्लामेंट को लिखा और मुकदमे चलाये, परन्तु राममोहन राय की सहायता से यह आन्दोलन थोडे ही दिनो मे शान्त हो गया। सन् १८३० मे बम्बई और मदरास प्रान्तो में भी यह कानून पास कर दिया गया। इस सम्बन्ध मे लार्ड वेंटिक का साहस सराहनीय है। जो स्त्री पति की सहगामिनी बनना निश्चित कर लेती है, उसको रोकनेवाला अब भी कोई नहीं है। कानून और पुलिस होते हुए भी वह किसी न किसी तरह आत्म-बलिदान कर ही देती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस कानून से उन सहस्रो स्त्रियो की रक्षा हो गई, जिनका उनकी इच्छा के विरुद्ध बलिदान कर दिया जाता था।

देशी राज्य—इनके सम्बन्ध मे ब्रिटिश सरकार की कोई निश्चित नीति न थी। जिस नीति से अपना काम बनता था, उसी का किसी न किसी तरह समर्थन किया जाने लगता था। कहने के लिए तो वेंटिक 'हस्तक्षेप न

लड़का न था, इसलिए "प्रजा की इच्छा" से कुर्ग अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया।[1] यहाँ बहुत से अँगरेज बस गये हैं, जो काफी की खेती कराते हैं। यहाँ का शासन एक कमिश्नर के हाथ में है, जो मैसूर के रेजीडेंट की निगरानी में काम करता है। पदच्युत राजा बनारस भेज दिया गया। सन् १८५२ में इंग्लैंड जाकर उसने कम्पनी पर दावा किया, परन्तु वह खारिज हो गया। उसकी लड़की ने ईसाई होकर एक अँगरेज से शादी कर ली।

कहने के लिए निज़ाम के साथ बराबरी का सम्बन्ध था। इस समय तक उसको पत्र लिखने में कम्पनी अपने लिए 'नयाजमन्द' (कृपापात्र) शब्द का प्रयोग करती थी। पर तब भी उसके शासन में हर तरह से बाधाएँ डाली जाती थीं। सहायक सेना के अतिरिक्त उसको एक अपनी सेना भी रखनी पड़ती थी, जिसके सब अफसर अँगरेज होते थे। इनको केवल भत्ते में १४ लाख रुपया साल दिया जाता था। चार्ल्स मेटकाफ का कहना था कि हम उसके राज्य में ऐसा हस्तक्षेप कर रहे हैं, जो किसी सन्धि के अनुसार उचित नहीं कहा जा सकता। हमने एक ऐसे आदमी (राजा चन्दूलाल) को दीवान बना दिया है, जो हमारी सहायता के कारण राज्य का शासक बन बैठा है और अपने स्वामी की कुछ भी पर्वाह नहीं करता है। ऐसी दशा में शासन के दोषों के लिए हम निज़ाम को जिम्मेदार नहीं ठहरा सकते। वास्तव में उनके जिम्मेदार हम हैं, क्योंकि उनके दूर करने का उपाय हमारे हाथ में है।[2] बेंटिक ने निज़ाम के साथ पत्र-व्यवहार में ऐसे शब्दों का प्रयोग उठा दिया, जिनसे निज़ाम का बड़प्पन जाहिर होता था। परन्तु राज्य की दशा सुधारने की ओर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया, उलटे निज़ाम और उसके दीवान को राज्य बरबाद करने की स्वतंत्रता दे दी।

---

१ इस अवसर पर कुर्ग-निवासियों ने राज्य के एक भाग में गोवध न होने देने का ब्रिटिश सरकार से वचन ले लिया। ह्वीलर, ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, पृ० ५३४।

२ ब्रिग्स, हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, जि० २, पृ० १७६–७९।

बर्मा-युद्ध के समय पर आसाम के कई एक राज्यो से सन्धियाँ की गई थीं। इनमे कचार, जयन्तिया और मनीपुर के राज्य मुख्य थे। कचार के राजा के मरने पर, कोई लडका न होने के कारण, उसका राज्य "प्रजा की इच्छा" से जब्त कर लिया गया। जयन्तिया के राजा पर भी बहुत से अपराध लगाये गये। कहा गया कि उसके राज्य मे तीन चार अँगरेज़ मार डाले गये हैं। मार्च सन् १८३५ मे उसका राज्य भी ले लिया गया। इन राज्यो की शासन-व्यवस्था ऐसी बुरी न थी। जयन्तिया मे बड़े बडे मामलो के निर्णय मे राजमाता, मत्री और बडे बडे सरदारों की राय लेना राजा के लिए आवश्यक था।

रूस का भय—फ्रासीसियो के भय के कारण मराठो का राज्य हड़प कर लिया गया। अब कहा जाने लगा कि हेरात और कन्दहार होकर रूस भारत पर आक्रमण करना चाहता है। उससे रक्षा करने के लिए पजाब, सिन्ध और अफगानिस्तान मे अँगरेजी शक्ति दृढ करना आवश्यक है। इसी नीति के अनुसार सिन्ध के अमीरों को एक व्यापारिक सन्धि करने के लिए मजबूर किया गया, पर वास्तव में इसका उद्देश्य राजनैतिक था। तब भी इसमे लिखा गया कि दोनों पक्ष "एक दूसरे के राज्य पर लालच की दृष्टि कभी न डालेंगे।" इस समय तक अँगरेज़ो को सिन्ध नदी का अधिक ज्ञान न था, इसके लिए भी एक चाल चली गई। गाडी और घोडो के उपहार महाराजा रणजीतसिंह को इस नदी के मार्ग से भेजे गये। सीधे-साधे अमीरों को इस चाल का पता भी न लगा। इसके अतिरिक्त रणजीतसिंह के दबाव के कारण वे कुछ कह भी न सकते थे। अफगानिस्तान से भागे हुए शाहशुजा को भी दोस्तमुहम्मद से राज्य छीनने के लिए उत्साहित किया गया। इसी के कारण आगे चलकर अफगानिस्तान से युद्ध हुआ। रणजीतसिह से भी घनिष्ठ मित्रता करने का प्रयत्न किया गया। उन दिनों उस मार्ग से रूसियो का आना एक प्रकार से असम्भव सा था, पर कहा यह जाता था कि "भारतवर्ष मे हम लोग बारूद की नली पर बैठे है, न जाने किस दिन वह फूट पडे।" इसलिए पहले ही से प्रबन्ध कर लेना उचित है।

सिखों का राज्य—इतने दिनों में महाराजा रणजीतसिंह ने अपने राज्य को बहुत बढ़ा लिया था। दस वर्ष तक घोर युद्ध करके उसने सन् १८१६ में मुलतान ले लिया। यहां का नवाब मुजफ्फरखां बड़ी वीरता से लड़ता हुआ मारा गया। सन १८१६ में उसने काश्मीर भी जीत लिया, इससे उसका राज्य दुगुना हो गया। अहमदशाह दुर्रानी के समय से यहां अफगानियों का राज्य था। महाराज की बहुत दिनों से इस पर दृष्टि लगी हुई थी। सन् १८२६ के लगभग कांगड़ा का राजपूत राज्य भी ले लिया गया। पंजाब के जितने छोटे छोटे मुसलमान राज्य थे, उन सबको उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। सन् १८२० में उसके राज्य की सीमा सतलज से लेकर सिन्ध नदी तक पहुँच गई। सन् १८२३ में उसने पेशावर पर भी अधिकार कर लिया। हजारा पहले ही से उसको मिल गया था। इस पर पश्चिमोत्तर सीमा के मुसलमानों ने 'जिहाद' छेड़ दी। कई वर्षों तक बराबर युद्ध होता रहा। दो एक नामी सिख सरदार काम आये, परन्तु अन्त में हरीसिंह नलवा की विजय हुई। सन् १८३३ में शाहशुजा ने पेशावर पर रणजीतसिंह का अधिकार मान लिया। यह काबुल से निकाल दिया गया था, और रणजीतसिंह की शरण में रहता था। इसी से रणजीतसिंह को प्रसिद्ध 'कोहनूर' हीरा मिला था। हरीसिंह नलवा पेशावर का सेनापति बनाया गया। सन् १८३५ में खैबर घाटी की रक्षा के लिए उसने जमरूद में एक दुर्ग बनवाया। काबुल से दोस्तमुहम्मद ने इस पर दो बार आक्रमण किया, परन्तु हरीसिंह ने बड़ी वीरता से इसकी रक्षा की। दूसरे आक्रमण में वह स्वयं मारा गया, पर लाहोर से सिख सेना ने आकर अफगानियों को भगा दिया।

बेंटिक और रणजीतसिंह—सिखों के इस राज्य-विस्तार से अंगरेजों को बड़ा भय हो रहा था। अब वे किसी न किसी तरह सिन्ध नदी को अपनी पश्चिमोत्तर सीमा बनाने के लिए चिन्तित हो रहे थे। इसी लिए सिन्ध के अमीरों के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा रहा था। सन् १८०६ की सन्धि से रणजीतसिंह को सतलज के पश्चिम ओर पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई थी,

तब भी सिन्ध पर उसका अधिकार न जमने पावे, इसके लिए बराबर प्रयत्न किया जा रहा था। साथ ही साथ उसके सन्देह को दूर रखने के लिए मित्रता भी बढ़ाई जा रही थी। सन् १८३१ में सतलज नदी के तट पर रुपुर में लार्ड बेंटिक ने उसके साथ भेंट की। इस अवसर पर दोनों ओर से एक दूसरे को अपनी अपनी सैनिक शक्ति दिखलाने का प्रयत्न किया गया। इँग्लेंड के राजा चौथे विलियम ने रणजीतसिंह को पत्र लिखा और अँगरेजी घोड़े उपहार में भेजे। यह मुलाकात राजनैतिक उद्देश्य से खाली न थी। दूसरे साल एक व्यापारिक सन्धि की गई और
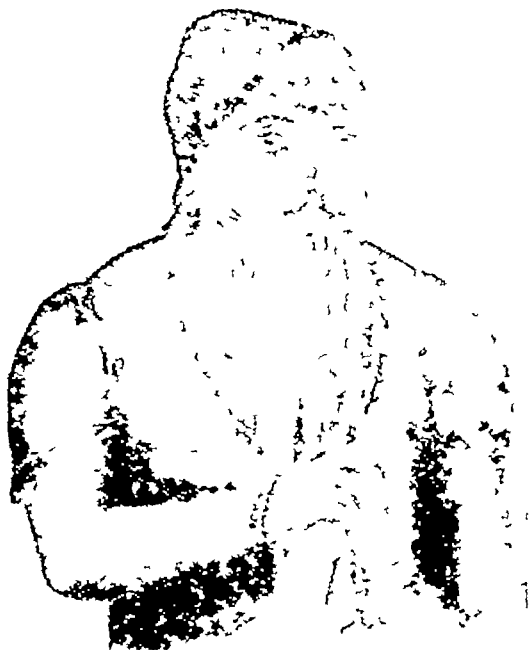
रणजीतसिंह

शाहशुजा की सहायता करने के लिए भी उससे कहा गया। अँगरेजों की नीति को वह समझता था। वह जानता था कि सिन्ध और अफगानिस्तान की ओर से भी उसके राज्य को घेरने का प्रयत्न किया जा रहा है। परन्तु केवल सन्देह के कारण अँगरेजों की प्रबल शक्ति से वह वैर न करना चाहता था, इसी लिए वह चुप रहा।

कम्पनी का आज्ञापत्र—सन् १८३३ में कम्पनी का आज्ञापत्र फिर दोहराया गया। सन् १८२९ से ही एक कमेटी द्वारा जाँच हो रही थी।

ही शिक्षा अधिक होती थी। साथ ही साथ जन साधारण की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए भी कुछ प्रबन्ध था। बड़े बड़े गांवों और नगरों में इसके लिए पाठशाला और मकतब थे, जिनमें किसान तथा व्यापारियों के लड़कों को लिखना-पढ़ना सिखलाया जाता था। ऐडम लिखता है कि बंगाल में केवल ब्राह्मण ही नहीं बल्कि बहुत से कायस्थ तथा शूद्र भी पढ़ाते थे। "अछूत जातियों" के भी बहुत से लड़के पढ़ाये जाते थे। लड़कों को पढ़ने के पहले लिखना सिखलाया जाता था, जो आधुनिक 'माटसोरी सिस्टम' का मुख्य सिद्धान्त है। डाक्टर ऐंड्रू जबेल को स्कूलों में 'मॉनीटर' रखने के ढंग का पता भारत की पाठशालाओं से ही चला था।[१] उन दिनों राज्यों में कोई 'शिक्षा-विभाग' न थे, यह बात ठीक है, परन्तु जैसा कुछ समाज का संगठन था, उसमें इसकी कोई आवश्यकता ही न थी। हर एक गांव में उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध रहता था। गांववाले प्रायः इसको स्वयं ही कर लेते थे, राज्य का उससे कोई विशेष सम्बन्ध न रहता था। मन्दिर तथा मसजिदों में ही पढ़ाई हुआ करती थी। शिक्षकों का पालन गांववाले ही करते थे। कहीं कहीं ज़मीन्दार या धनी व्यापारी भी अपनी बैठकों में पाठशालाएँ खोल देते थे। तीर्थों के बड़े बड़े विद्यापीठों को राज्यों की ओर से सहायता मिलती थी और विद्वानों के लिए दक्षिणा का प्रबन्ध रहता था। इन विद्यालयों के अतिरिक्त घरों पर भी पढ़ाई होती थी। स्त्रियों की शिक्षा के लिए विद्यालय न थे, पर बहुत सी स्त्रियों को घर पर थोड़ी बहुत शिक्षा अवश्य दी जाती थी।

अँगरेज़ी शासन से गांवों का प्राचीन संगठन और देशी राज्य दोनों नष्ट हो रहे थे। इसलिए देश की सभी बातों में बाधाएँ पड़ रही थीं, पर तब भी इस समय तक शिक्षा का प्रबन्ध था। गांव के शिक्षकों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए सन् १८१४ के एक 'खरीते' में कम्पनी के संचालक लिखते हैं कि

---

१ रेवरेंड की, ऐंशेंट इण्डियन एजूकेशन, पृ० १४५—४६।

इसके नेता प्रिंसेप भाई और डाक्टर होरेस विल्सन थे। दूसरा दल अँगरेजी भाषा के पक्ष मे था, जिसके लिए मैकाले, मेटकाफ और राममोहन राय आन्दोलन कर रहे थे। मैकाले, जिसको किसी पूर्वीय भाषा के एक अक्षर तक का ज्ञान नहीं था, सारे पूर्वीय साहित्य की हँसी उडा रहा था। उसकी राय मे भारतवर्ष और अरब का कुल साहित्य यूरोप के किसी अच्छे पुस्तकालय की एक अलमारी भर भी नहीं था। उसका कहना था कि हिन्दुओ की ज्योतिष पर अँगरेज लडकियो को हँसी आयगी। इतिहास और भूगोल का तो कुछ कहना ही नहीं है। पुराणो मे राजाओ की हजारो वर्ष की आयु लिखी हुई है और क्षीरसागरों का वर्णन है। ऐसी शिक्षा मे धन खर्च करना व्यर्थ है। अँगरेजी शासको की भाषा है, व्यापार इसी के द्वारा होता है, वह ज्ञान का भडार है। इसलिए अँगरेजी भाषा द्वारा ही शिक्षा होना आवश्यक है। अन्त मे उसी के मत की विजय हुई और मार्च सन् १८३५ मे गवर्नर-जनरल ने अपनी कौंसिल मे यह निश्चित किया कि भारतवासियो मे "यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का प्रचार करना ब्रिटिश सरकार का मुख्य उद्देश्य है। ऐसी दशा मे शिक्षा के लिए जो धन है उसका सबसे अच्छा उपयोग केवल अँगरेजी शिक्षा मे ही हो सकता है।"

अँगरेज़ी शिक्षा का प्रभाव—कहा जाता है कि लार्ड बेंटिंक ने भारतवर्ष के साथ यह बडा भारी उपकार किया, उसने देश को अज्ञानता के अन्धकार से बचा लिया। पर वास्तव मे उन दिनों इसका उद्देश्य दूसरा ही था। उस समय छोटे छोटे ओहदों पर अँगरेजी पढे हिन्दुस्तानियो की बडी आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त भारतवासियो पर पाश्चात्य सभ्यता का आतक जमाना था। अँगरेजी शिक्षा से कम्पनी को लेखकों की कमी न रही और अँगरेजी पढे हुए लोग बहुत सी बातों को भूलकर अपनी सभ्यता को तुच्छ समझने लगे। मैकाले ने तभी लिखा था कि इससे एक भी मूर्तिपूजक बाकी न रह जायगा। इस तरह राजनैतिक विजय के साथ साथ मानसिक विजय का भी प्रारम्भ हो गया। पहले बहुत दिनो तक इस शिक्षा का प्रभाव अच्छा नहीं पडा।

इसके नेता प्रिंसेप भाई और डाक्टर होरेस विलसन थे। दूसरा दल अँगरेजी भाषा के पक्ष में था, जिसके लिए मैकाले, मेटकाफ और राममोहन राय आन्दोलन कर रहे थे। मैकाले, जिसको किसी पूर्वीय भाषा के एक अक्षर तक का ज्ञान नहीं था, सारे पूर्वीय साहित्य की हँसी उड़ा रहा था। उसकी राय में भारतवर्ष और अरब का कुल साहित्य यूरोप के किसी अच्छे पुस्तकालय की एक अलमारी भर भी नहीं था। उसका कहना था कि हिन्दुओं की ज्योतिष पर अँगरेज लड़कियों को हँसी आयगी। इतिहास और भूगोल का तो कुछ कहना ही नहीं है। पुराणों में राजाओं की हजारों वर्ष की आयु लिखी हुई है और क्षीरसागरों का वर्णन है। ऐसी शिक्षा में धन खर्च करना व्यर्थ है। अँगरेजी शासकों की भाषा है, व्यापार उसी के द्वारा होता है, वह ज्ञान का भाडार है। इसलिए अँगरेजी भाषा द्वारा ही शिक्षा होना आवश्यक है। अन्त में उसी के मत की विजय हुई और मार्च सन् १८३५ में गवर्नर-जनरल ने अपनी कौंसिल में यह निश्चित किया कि भारतवासियों में "यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का प्रचार करना ब्रिटिश सरकार का मुख्य उद्देश्य है। ऐसी दशा में शिक्षा के लिए जो धन है उसका सबसे अच्छा उपयोग केवल अँगरेजी शिक्षा में ही हो सकता है।"

अँगरेज़ी शिक्षा का प्रभाव—कहा जाता है कि लार्ड बेंटिंक ने भारतवर्ष के साथ यह बड़ा भारी उपकार किया, उसने देश को अज्ञानता के अन्धकार से बचा लिया। पर वास्तव में उन दिनों इसका उद्देश्य दूसरा ही था। उस समय छोटे छोटे ओहदों पर अँगरेजी पढ़े हिन्दुस्तानियों की बड़ी आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त भारतवासियों पर पाश्चात्य सभ्यता का आतंक जमाना था। अँगरेजी शिक्षा से कम्पनी को लेखकों की कमी न रही और अँगरेजी पढ़े हुए लोग बहुत सी बातों को भूलकर अपनी सभ्यता को तुच्छ समझने लगे। मैकाले ने तभी लिखा था कि इससे एक भी मूर्तिपूजक बाकी न रह जायगा। इस तरह राजनैतिक विजय के साथ साथ मानसिक विजय का भी प्रारम्भ हो गया। पहले बहुत दिनों तक इस शिक्षा का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा।

है' इस सिद्धान्त को वह कभी न भूला। ऐसा तो नही कहा जा सकता, परन्तु यह मानना पडेगा कि उसको प्रजाहित का भी कुछ ध्यान था। इन दिनों सारे देश मे शान्ति थी, युद्ध का कोई भय न था, इसलिए वह कुछ सुधार कर सकता था। सती-प्रथा के रोकने मे उसने अवश्य साहस दिखलाया, पर इससे अँगरेज़ो का कुछ बनता विगडता न था। प्राय वह ऐसी भाषा का प्रयोग करता था, जिससे जान पडे कि उसको सदा प्रजा की चिन्ता रहती थी। लार्ड वेलेजली भी ऐसा ही करता था। यह गुण प्राय सभी अँगरेज राजनीतिज्ञो मे पाया जाता है। अफगान-युद्ध का बीज इसी के समय मे बोया गया, जिसका उसके जाने के बाद ही भयकर परिणाम हुआ।

राजा राममोहन राय

राजा राममोहन राय—यदि उस समय कोई भारतवासी था, जो देश की नई परिस्थिति को समझ सका था, तो वह राजा राममोहन राय था। संस्कृत, अरबी तथा फारसी का वह बडा पंडित था। हिब्रू, ग्रीक, लैटिन तथा अँगरेज़ी का भी उसको अच्छा ज्ञान था। सूफी मत तथा वेदान्त का उस पर बडा प्रभाव पडा था। तिब्बत जाकर उसने बौद्धधर्म का भी अध्ययन किया था। अँगरेजों से उसका बड़ा मेल था और वह उनका रहन-सहन भी पसन्द

करता था। हिन्दू धर्म के पाषंडवाद और कुलीनता का वह घोर शत्रु था। अपनी भावज को सती होते देखकर, उसने इस प्रथा को बन्द करवाने का प्रण कर लिया था। स्त्रियो को वह शिक्षा देकर स्वतंत्र करना चाहता था। समाचारपत्रों और सभाओ द्वारा उसने बडा आन्दोलन मचा रखा था। कट्टर हिन्दू और ईसाई दोनो ने उसके मार्ग मे बाधा डालने का बड़ा प्रयत्न किया, पर वह बराबर डटा रहा। सन् १८३० मे दिल्ली सम्राट् का वकील बनकर वह इँग्लैंड गया, वहीं सन् १८३३ मे उसका देहान्त हो गया।

ब्रह्मसमाज—इन दिनो भारतवर्ष मे ईसाई मत के प्रचार के लिए बडे जोरो से प्रयत्न हो रहा था। अँगरेजी शिक्षा मिलने पर हिन्दूधर्म की कुरीतियो को देखकर कुछ लोगो की उस ओर प्रवृत्ति हो जाती थी। राम-मोहन राय को इसका अनुभव हो रहा था। वह हिन्दूधर्म मे सुधार करना चाहता था। साथ ही साथ वह निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर जोर देकर मत-मतान्तरो के झगडो को हटाना चाहता और हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाइयो को एक करना चाहता था। इसी उद्देश्य से सन् १८२६ मे उसने 'ब्रह्मसमाज' स्थापित किया। इसमे तीनो धर्मों के मुख्य मुख्य सिद्धान्तो का समावेश किया गया और सब भेद भाव दूर कर दिये गये। नवयुवको पर इसका बडा प्रभाव पडा और थोडे ही दिनो मे इसके सदस्यो की संख्या बहुत बढ गई। राममोहन राय के बाद इसमे भी कई एक दल हो गये और केशवचन्द्र सेन के समय से इसके एक दल पर पाश्चात्य रहन-सहन का बडा प्रभाव पड गया। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे इस समाज ने वही काम किया, जो पन्द्रहवीं शताब्दी मे गुरु नानक के सिख सम्प्रदाय ने किया था।

सर चार्ल्स मेटकाफ़—लार्ड बेंटिक के चले जाने पर मेटकाफ कुछ दिनों तक गवर्नर-जनरल के पद पर काम करता रहा। ऐडम के समय में प्रेस का मुँह बन्द करने के लिए जो नियम बनाये गये थे, उन सबको इसने रद कर दिया और समाचारपत्रों को बहुत कुछ स्वतन्त्रता दे दी। बेंटिंक

भी समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता का पक्षपाती था, पर ऐडम के नियमों को रद्द करने का उसको साहस न हुआ था। मेटकाफ ने इस सम्बन्ध में किसी की भी पर्वाह न की। उसका यह कार्य सचालकों को पसन्द न आया। उसी को गवर्नर-जनरल बनाये रखने की बातचीत थी, वह छोड़ दी गई और वह मदरास का गवर्नर तक न बनाया गया। नये गवर्नर-जनरल आकलैंड के आ जाने पर वह इस्तीफा देकर वापस चला गया। कुछ दिनों तक वह पश्चिमोत्तर प्रान्त का लफ्टिनेंट-गवर्नर भी रहा था। वह एक योग्य शासक था और ३८ वर्ष तक उसने भारतवर्ष में काम किया था।

चार्ल्स मेटकाफ

परिच्छेद ११

पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा

लार्ड आकलेड—मार्च सन् १८३६ मे लार्ड आक्लॅंड गवर्नर-जनरल होकर भारतवर्ष पहुँचा। उसने लार्ड बेंटिंक की नीति का ही अनुकरण करना निश्चित किया। उसके समय मे बम्बई और मदरास मे डाक्टरी कालेज खोले गये। जिन विद्यालयो मे अँगरेजी भाषा की पढाई नहीं होती थी, उनको भी कुछ सहायता देना निश्चित किया गया और प्रारम्भिक शिक्षा देशी भाषाओ मे देने के लिए प्रबन्ध किया गया। इस तरह बेंटिक की शिक्षा-नीति की भूलो का कुछ सुधार किया गया। इस समय तक यूरोपियन लोग दीवानी के मुकदमो की अपील 'सुप्रीम कोर्ट' में करते थे। यह इंग्लेंड सरकार की अदालत थी।

आकलड

अब कानूनी मेम्बर मैकाले ने यह प्रस्ताव किया कि सब अपीलें कम्पनी की 'सदर दीवानी अदालत' मे हुआ करें। कलकत्ता के गोरे व्यापारियो को यह बात बडी खटकी। जो अदालत काले आदमियो का निर्णय करती थी, वह भला गोरे आदमियो के निर्णय के योग्य कैसे हो सकती थी? इस 'काले कानून' के विरुद्ध बडा घोर आन्दोलन किया गया और मैकाले को बहुत कुछ बुरा-

भला कहा गया, परन्तु वह अपनी बात पर डटा रहा। अन्त मे यह कानून पास हो गया।

पश्चिमोत्तर प्रान्त का दुर्भिक्ष—सन् १८३७ मे उत्तरी भारत मे बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। कहा जाता है कि इसमे आठ लाख आदमी मर गये। सरकार की ओर से सहायता करने का प्रयत्न किया गया, जिसमे ३८ लाख रुपया खर्च हुआ। जल का कष्ट दूर करने के लिए गंगाजी से एक नहर निकालने का भी विचार किया गया और उसकी नाप शुरू कर दी गई।

देशी राज्य—सन् १८३७ मे नसीरुद्दीन हैदर के मरने पर अवध मे पादशाह बेगम ने कुछ उपद्रव किया। वह अपने पोते मुन्नाजान को गद्दी पर बिठलाना चाहती थी, परन्तु रेजीडेंट ने दोनो को क़ैद करके चुनार भेज दिया और नसीरुद्दीन के चचा मुहम्मदअली को मसनद पर बिठला दिया। इसके साथ एक नई सन्धि की गई, जिससे फौज बढ़ा दी गई और यह निश्चित किया गया कि यदि किसी जिले का प्रबन्ध ठीक न होगा तो उसमे शासन के लिए अँगरेज अफ़सर रख दिया जायगा, जो कुल हिसाब समझाया करेगा। अवध के साथ यह बड़ी ज्यादती थी। लार्ड वेलेजली के समय मे इसकी रक्षा का पूरा भार ग्रहण किया गया था और आधा राज्य लेकर यह स्पष्ट कह दिया गया था कि फिर अधिक रुपया न मॉगा जायगा, तब भी उस पर १६ लाख रुपये साल का नया बोझ लाद दिया गया। सचालको ने भी इसको अनुचित समझकर मजूर नहीं किया। इस पर मुहम्मदअली को केवल इतना ही लिख दिया कि उससे अब रुपया न लिया जायगा। कप्तान बर्ड का कहना है कि मुहम्मदअली ने शासन प्रबन्ध ठीक करने का प्रयत्न किया और खेती तथा व्यापार की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया।[1]

हैदराबाद से सहायक सेना हटाने का विचार किया गया, क्योंकि इसके खर्च के लिए राज्य का काफी भाग मिल चुका था और निजाम से कहा गया कि वह अपनी सेना से ही शासन का प्रबन्ध करे। इस सेना के अँगरेज

[1] डकॉयटी इन एक्सेलसिस, पृ० ९३।

अफ़सरों को उसे ३८ लाख रुपया साल वेतन देना पड़ता था। इस तरह हस्तक्षेप न करने की नीति का दिखलावा करके उससे रुपया लिया जाने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उस पर क़र्ज़ बढ़ने लगा।[1] सन् १८४२ में कर्नूल के नवाब पर बहुत से दोष लगाये गये और उसका राज्य छीनकर कर्नूल का जिला बना दिया गया। सन् १८१९ में सतारा के राजा के साथ बड़ी उदारता दिखलाई गई थी और उसको पेशवा के राज्य का कुछ भाग दिया गया था। अब कहा जाने लगा कि राजा प्रतापसिंह अँगरेजों के विरुद्ध पुर्तगालियों से बातचीत कर रहा है, नागपुर के भागे हुए राजा अप्पा साहब को बुलाना चाहता है और सेना को भड़का रहा है। उसके शासन में भी बहुत से दोष दिखलाये गये। सन् १८३९ में वह गद्दी से उतार कर बनारस भेज दिया गया और उसका भाई राजा बना दिया गया। प्रतापसिंह एक योग्य शासक था। वह अँगरेजों के हाथ का खिलौना बनकर न रहना चाहता था। यही उसका अपराध था। उसके साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया गया।[2] हरीराव होलकर को भी धमकी दी गई कि यदि वह गवर्नर-जनरल के आज्ञानुसार शासन का प्रबन्ध न करेगा, तो उसका भी राज्य छीन लिया जायगा।

रूस की समस्या—लार्ड मिंटो के समय में फारस के साथ परस्पर रक्षा की सन्धि की गई थी, पर जब रूस ने फारस को दबाना शुरू किया, तब अँगरेजों ने सहायता देने से इनकार कर दिया। झगड़ों से बचने के लिए फारस के शाह को कुछ रुपया देकर सन्धि की वह शर्त ही हटा दी गई।[3] अफगानिस्तान की सीमा पर उपद्रव मचाये रखने के लिए फारस से मित्रता की गई थी, वह मतलब अब सिद्ध हो चुका था, इसलिए फ़ारस को प्रसन्न रखने की विशेष आवश्यकता न थी। इस नीति का परिणाम यह

---

१ ग्रिबिल, हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, जि० २, पृ० १७८।

२ बसु, स्टोरी ऑफ सतारा।

३ ट्राटर, लार्ड आकलैंड (रूलर्स ऑफ इंडिया सिरीज) पृ० ३८-३०।

हुआ कि फ़ारस ने रूस के साथ मेल कर लिया और उसकी सहायता से अफगानिस्तान की पश्चिमी सीमा पर हेरात का घेरा डाल दिया। इस पर इँग्लैंड के राजनीतिज्ञ घबरा उठे। उन्होंने समझा कि यह तो भारत पर आक्रमण करने की तैयारी हो रही है। पर वास्तव में यह भय निराधार था, क्योंकि अफगानिस्तान अँगरेजी राज्य से बिलकुल अलग था। दोनों के बीच में पंजाब, भावलपुर, सिन्ध और राजपूताना के राज्य थे, जिनको लाँघकर अँगरेजों के राज्य पर किसी का आक्रमण करना सम्भव न था। इसका कुछ भी ध्यान न किया गया और हेरात को "भारत की पश्चिमोत्तर सीमा का द्वार" मानकर अफगानिस्तान की राजनीति में हस्तक्षेप करना निश्चित कर लिया गया। लार्ड आकलेंड ने बिना अधिक सोच-विचार के इसी नीति पर काम करना प्रारम्भ कर दिया।

अफ़ग़ानिस्तान में हस्तक्षेप—सन् १८०९ में अहमदशाह दुर्रानी का पोता शाहशुजा काबुल से निकाल दिया गया। कई वर्षों तक वहाँ आपस में बहुत झगड़ा चलता रहा। अन्त में सन् १८२६ से दोस्तमुहम्मदखाँ, जो एक बारकज़ई सरदार था, राज्य करने लगा। शाहशुजा पहले महाराजा रणजीतसिंह की निगरानी में रहा, फिर अँगरेजों की शरण में आकर लुधियाना में रहने लगा। यहाँ उसको पेंशन भी दी जाने लगी। इस बला को पालने की कोई आवश्यकता न थी, पर अफगानिस्तान में हस्तक्षेप करने के लिए यह अच्छा उपाय मिल गया और उसके लिए भारत के खजाने का रुपया खर्च किया जाने लगा। लार्ड आकलेंड के आने पर बर्न्स नाम का एक अँगरेज व्यापारिक सन्धि करने के लिए काबुल भेजा गया, पर वास्तव में इसका उद्देश्य राजनैतिक था। उन दिनों अफगानिस्तान के साथ कोई व्यापार न था। बर्न्स स्वयं लिखता है कि वह केवल रंग-ढंग देखने के लिए वहाँ गया था। परन्तु दोस्तमुहम्मद को फाँसना सहज न था, वह भी बड़ा चतुर राजनीतिज्ञ था और बड़ी योग्यता के साथ उद्दण्ड काबुलियों पर शासन कर रहा था। उसने कहा कि जब तक रणजीतसिंह से उसको पेशावर नहीं दिला दिया जायगा, तब तक कोई सन्धि नहीं हो सकती। इसके उत्तर में

उससे कहा गया कि अन्य स्वतंत्र राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करना ब्रिटिश सरकार का नियम नहीं है। अफ़गानिस्तान पर आक्रमण करने से रणजीत सिंह को रोकने का अवश्य प्रयत्न किया जायगा। दोस्तमुहम्मद के दरबार में इस उत्तर का बड़ा मजाक उड़ाया गया, क्योंकि सिखों के आक्रमण की कोई सम्भावना न थी।[१]

बर्न्स

इन्हीं दिनों रूस का भी एक दूत काबुल पहुँच गया और दोस्त-मुहम्मद के भाई, जो कन्दहार में थे, फ़ारस से मेल करने की बातचीत करने लगे। दोस्तमुहम्मद अँगरेज़ों से बैर न करना चाहता था। लार्ड आकलैंड के आने पर उसने लिखा था कि "आप मुझे और मेरे राज्य को अपना ही समझें।" बर्न्स भी उसकी योग्यता देखकर गवर्नर जनरल को बराबर लिख रहा था कि उसके साथ मित्रता रखने ही में लाभ है। परन्तु लार्ड आकलैंड पर उसके सेक्रेटरी मकनाटन और कालविन का रंग जमा हुआ था। इन दोनों की सलाह से बर्न्स की बात न मानकर शाहशुजा को गद्दी पर बिठलाना निश्चित किया गया। दोस्तमुहम्मद ऐसे चतुर शासक से पार पाना सहज न था, पर शाहशुजा कम्पनी का वेतनभोगी ही था, इसलिए उसके समय में सब मनमानी हो सकती थी।

युद्ध की घोषणा—अँगरेज़ों से निराश होकर दोस्तमुहम्मद ने रूसी दूत की ओर ध्यान दिया। उसकी शत्रुता का यह अच्छा प्रमाण मिल

१ टारर, आकलैंड, पृ० ५१।

गया और युद्ध का प्रबन्ध होने लगा। मैकनाटन रणजीतसिंह के पास लाहोर भेजा गया। महाराजा का स्वास्थ्य इन दिनों बिलकुल बिगड़ चुका था और उसकी अवस्था भी बहुत हो चुकी थी। पहले उसको इस बेमतलब के युद्ध में पड़ने में सकोच हुआ। वह जानता था कि काबुल में अँगरेजों का पैर जमाना उसके राज्य के लिए हितकर न होगा। पर जब उसने देखा कि अँगरेज बिना उसकी सहायता के भी शाहशुजा को गद्दी पर बिठलाने के लिए तुले हुए हैं, तब उसने साथ देना स्वीकार कर लिया। इसके बाद शाहशुजा समझा-बुझाकर राजी किया गया। उसको भी इस नीति की सफलता में बड़ा सन्देह था। वह जानता था कि अभिमानी अफगान विदेशियों का हस्तक्षेप कभी सहन न करेंगे। इस बात को उसने अच्छी तरह से स्पष्ट भी कर दिया था। इतने ही में फारस के शाह ने हेरात का घेरा उठा लिया और काबुल से रूसी दूत भी बिना किसी सफलता के बिदा हो गया। इस तरह युद्ध के जो दो मुख्य कारण थे जाते रहे, पर तब भी शिमला से अक्तूबर सन् १८३८ में युद्ध की घोषणा कर दी गई। इसमें कौंसिल से भी परामर्श नहीं किया गया।

इस घोषणा तथा पार्लामेंट के सामने जो कागजात रखे गये उनमें बहुत सी बातें बना-चुनाकर लिख दी गईं। कहा गया कि दोस्तमुहम्मद हमारे पुराने मित्र रणजीतसिंह पर सहसा आक्रमण करनेवाला है और वह पेशावर छीनना चाहता है। शाहशुजा अफगानिस्तान में बड़ा लोकप्रिय है और सब लोग उसी को गद्दी पर बिठलाना चाहते हैं। गवर्नर-जनरल की नीति बहुतों के समझ में न आ रही थी। लार्ड वेलेजली को ऐसे देश पर, जिसमें सिवा "चट्टान, बालू और बरफ" के कुछ भी नहीं है, अधिकार करने के विचार पर हँसी आ रही थी। वेलिंगटन का मत था कि एक बार सिन्ध नदी पार करके फिर अफगानिस्तान से पिंड छुटाना मुश्किल हो जायगा। लार्ड बेंटिंक को आश्चर्य हो रहा था कि शान्तिप्रिय लार्ड आकलेंड ने युद्ध कैसे छेड़ दिया। भारत के प्रधान सेनापति फेन का कहना था कि भारतवर्ष में जो चाहे कर लो पर पश्चिम की ओर बढ़ना ठीक नहीं है।

मेटकाफ पहले ही से सिन्ध नदी पार करने की नीति के विरुद्ध था। उसका मत था कि यह जान-बूझकर भारतवर्ष की ओर रूसियों का ध्यान आकर्षित करना है। कम्पनी के संचालक भी इसके विरुद्ध थे। पर लार्ड आकलेंड को इन सबकी पर्वाह न थी। इँग्लेंड-सरकार उसका साथ दे रही थी, भारत की सेना युद्ध के लिए आतुर हो रही थी।

पहले शाहशुजा और सिखों को केवल आर्थिक सहायता देने का विचार था, अब उनके साथ अँगरेजी सेना भी भेजना निश्चित किया गया। फीरोजपुर में लार्ड आकलेंड और रणजीतसिंह की बड़े धूमधाम के साथ भेंट हुई और बंगाल तथा बम्बई की सेनाओं को काबुल की ओर बढ़ने की आज्ञा दे दी गई। पंजाब होकर अँगरेजी सेना जाने के लिए रणजीतसिंह की अनुमति न मिल सकती थी, इसलिए यह सेना सिन्ध होकर भेजी गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि सिन्ध की स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया गया।

सिन्ध के साथ पहले जो व्यापारिक सन्धि की गई थी, उसमें स्पष्ट कह दिया गया था कि सिन्ध नदी के द्वारा कोई सेना न जायगी और सिन्ध में कोई अँगरेज न बसने पावेगा। पर अब सिन्ध नदी के मार्ग से सेना भेजी गई और शिकारपुर तथा बक्खर पर भी जबरदस्ती अधिकार कर लिया गया। अमीरों पर बहुत से अपराध लगाये गये, उन्हें राज्य छीन लेने का भय दिखलाया गया और सन् १८३९ में एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार ३ लाख रुपया सालाना सेना का खर्च देने के लिए अमीरों को मजबूर किया गया। भावलपुर के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया गया।

पहली विजय—मार्ग में सेना को बड़ा कष्ट हुआ। रसद का कोई प्रबन्ध न था, पानी की भी बड़ी कमी थी। परन्तु बोलन होती हुई जैसे-तैसे यह सेना कन्दहार पहुँची। वहां से गजनी पर अधिकार कर लिया गया। यह समाचार मिलने पर दोस्तमुहम्मद काबुल से भाग निकला और अगस्त सन् १८३९ में शाहशुजा गद्दी पर बिठला दिया गया। उसका नगर-प्रवेश एक "मातमी जलूस" जान पड़ता था, किसी ने भी उसका स्वागत नहीं किया। इस विजय के लिए इँग्लेंड-सरकार ने गवर्नर-जनरल और उसके अफसरों की

बड़ी प्रशंसा की। इस मामले में दोस्तमुहम्मद के साथ पूरा अन्याय किया गया। स्वयं मेकनाटन ने भी इसको माना है। वह लिखता है कि हमने दोस्तमुहम्मद को, जिसने हमारा कुछ बिगाड़ा नहीं था, अपनी नीति का शिकार बनाकर निकाल दिया।[1]

शाहशुजा

युद्ध की घोषणा में यह स्पष्ट कह दिया गया था कि शाहशुजा को गद्दी पर बिठलाकर अँगरेज़ी सेना वापस चली आयगी, पर तब भी दस हजार सेना अफ्गानिस्तान में छोड़ दी गई। मैकनाटन शाहशुजा के दरबार में अँगरेजों का दूत बनाया गया, बर्न्स भी साथ ही था। इन दोनों ने अमीर के हरएक काम में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। अँगरेज अफसरों की सलाह से शासन होने लगा और गोरे सिपाही पुलिस का काम करने लगे। भारत का खजाना अफगानियों को सन्तुष्ट रखने के लिए लुटाया जाने लगा। सिखों को भी नाराज कर दिया गया। उनसे पेशावर छीन लेने का प्रयत्न किया जाने लगा और उन पर बहुत से अपराध लगाये जाने लगे। दोस्तमुहम्मद भी अँगरेजों की शरण में आ गया और वह शाहशुजा की जगह पर भारत में रहने लगा। अब अँगरेजों ने समझ लिया कि उनके मार्ग में कोई बाधा नहीं रही और वे मनमानी करने लगे।

भीषण बदला—अफगानिस्तान भारतवर्ष न था। वहाँ के निवासी "काफिर फिरंगियों" का हस्तक्षेप सहन न कर सके। दोस्तमुहम्मद के बेटे

[1] दा, इंडिया अंडर लार्ड एलिनबरा, भूमिका, पृ० २२।

अकबरखाँ की अध्यक्षता में वे सब के सब बिगड पड़े। इधर अँगरेज अफसर आपस ही में लड रहे थे, बहुत से दुराचरण में पड़े थे कोई भी किसी की न सुनता था। सैनिक व्यवस्था बिगड रही थी। सुरक्षित किला छोडकर खुले मैदान में छावनी पडी थी। शाहशुजा बराबर सचेत कर रहा था, पर उसकी कौन सुनता था? रसद की बडी कमी थी, बेढब ठड पड रही थी, खजाना भी खाली था। इतने ही में दूसरी नवम्बर सन् १८४१ को बर्न्स मार डाला गया, तब भी मैकनाटन की आँखे न खुलीं और रक्षा का कोई भी प्रबन्ध न किया गया।

विद्रोहियों का जोर बढता गया। कोई उपाय न देखकर मैकनाटन ने अफगानिस्तान खाली कर देना स्वीकार कर लिया और दोस्तमुहम्मद को भी वापस भेज देने के लिए राजी हो गया। इस पर अकबरखाँ ने अँगरेजों की रक्षा करने का वचन दे दिया। परन्तु मैकनाटन अपनी बात पर क़ायम न रहा। वह छिपे छिपे अपने मुशी मोहनलाल द्वारा अकबरखाँ के साथियों को फोडने लगा। पहले अकबरखाँ को इसका विश्वास न हुआ, परन्तु उसने एक चाल से सब बातों का पता लगा लिया और मैकनाटन को मुलाकात करने के लिए बुलाया। वह मैकनाटन को केवल कैद करना चाहता था, परन्तु मैकनाटन की बातों से उसको क्रोध आ गया। इतने ही मे किसी ने कहा कि अगरेजी सेना आ रही है। इस पर उसने मैकनाटन को गोली से मार

अकबरखाँ

दिया।[1] इसके बाद ता० १ जनवरी सन् १८४२ को जैसे-तैसे समझौता करके, तोप, बन्दूक, गोली, बारूद सब सामान छोड़-छाड़कर अँगरेजी सेना काबुल से निकल भागी। बाल-बच्चे, स्त्रियाँ और नौकर-चाकर सब मिलाकर इस सेना में १६५०० मनुष्य थे। इनमें से ता० १३ जनवरी को केवल डाक्टर ब्राइडन बचकर जलालाबाद पहुँचा। बहुत से शीत और मार्ग के कष्ट से मर गये। बहुतों को, अकबरखाँ के मना करने पर भी, सीमा पर के उद्दंड अफगानियों ने पहाड़ों के तंग रास्तों में मार डाला। कई एक अफसर कैद कर लिये गये, बाल-बच्चे तथा स्त्रियाँ अकबरख़ाँ की निगरानी में छोड़ दी गई। इस तरह काबुल की अँगरेजी सेना का अन्त हो गया।

आकलैंड का दोष—इस युद्ध के लिए लार्ड आकलैंड को बहुत कुछ दोष दिया गया है, पर वह केवल इँग्लैंड-सरकार की आज्ञा का पालन कर रहा था। वास्तव में इसका बीज लार्ड बेंटिंक, जिसको अब आकलैंड की नीति पर आश्चर्य्य हो रहा था, बो गया था। इसमें सन्देह नहीं कि लार्ड आकलैंड में स्वतंत्र विचार की शक्ति न थी, वह अपने मन्त्रियों के हाथ में था। पर इसमें उसका या उसके सलाहकारों ही का क्या दोष था? वे लार्ड वेलेजली और हेस्टिंग्ज के बताये हुए मार्ग पर चल रहे थे। यदि भारतवर्ष के स्वतंत्र राज्यों में हस्तक्षेप करना अनुचित न था, तो सिन्ध नदी पार उसी नीति के अनुसरण करने में क्या दोष था? लोकमत की कुछ भी पर्वाह न करके अयोग्य शासक का पक्ष लेना, उसके राज्य में अपनी सेना रखकर शासन में हस्तक्षेप करना और अन्त में उसके मत्थे सब दोषों को मढ़कर राज्य छीन लेना अँगरेजों की मुख्य नीति रही है। लार्ड आकलैंड और उसके सलाहकार इसी नीति पर चल रहे थे। यदि उनकी कोई भूल थी, तो इतनी ही कि उन्होंने अफगानिस्तान को भी भारतवर्ष समझ लिया था। सफलता होने से लार्ड आकलैंड की भी गणना साम्राज्य के निर्माण करनेवालों में हुई होती, इसमें सन्देह नहीं है।

---

१ नान के, दि वार इन अफगानिस्तान, जि० २, पृ० १६४। ट्राटर, आकलैंड, पृ० १७६।

लार्ड एलिनबरा—फरवरी सन् १८४२ में आकलैंड वापस चला गया और एलिनबरा गवर्नर-जनरल होकर आया। यह तीन बार 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' का सभापति रह चुका था। इँग्लेंड की रानी विक्टोरिया की इस पर बड़ी कृपा थी। अफगान-युद्ध की नीति का यह घोर विरोधी था। इसी लिए संचालकों ने इसको भारतवर्ष भेजा था। इस युद्ध में पानी की तरह धन खर्च हो रहा था और कोई अन्त न दिखलाई देता था। एलिनबरा पहले काबुल पर "एक सप्ताह" भर के लिए भी अधिकार करके अँगरेजी सेना की लज्जा मिटाना चाहता था। पर जब उसको गजनी छिन जाने का समाचार मिला, तब उसने अफगानिस्तान एकदम खाली कर देने

एलिनबरा
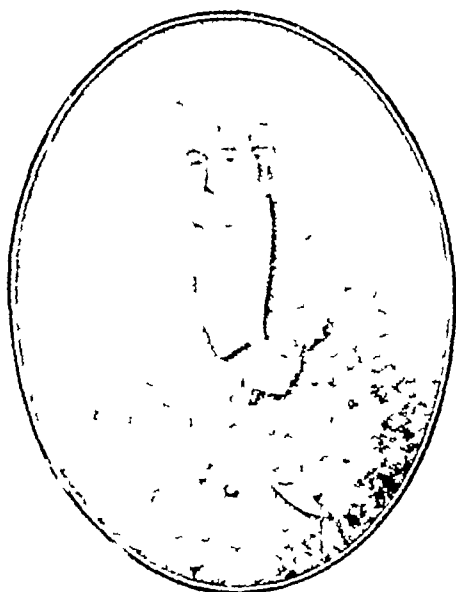
की आज्ञा दे दी। अकबरखा के हाथ में बहुत से अँगरेज कैदी थे, उनका भी उसने कोई खयाल नहीं किया। यह बात अँगरेज अफसरों को बहुत खटकी। तब उसने जनरल पोलक और नाट को, जो अफगानिस्तान में थे, लिख दिया कि जैसा उचित जान पड़े वैसा करो। इतिहासकार स्मिथ लिखता है कि इस तरह एलिनबरा ने अपनी जिम्मेदारी टाल दी। एलिनबरा का अपने समर्थन में कहना है कि उसने स्थानीय अफसरों को केवल स्वतन्त्रता दे दी।[1]

युद्ध की समाप्ति—जनरल पोलक ने जलालाबाद की रक्षा की थी और जनरल नाट कन्दहार में डटा पड़ा था। अब ये दोनो काबुल की ओर

---

१ ला, इंडिया अंडर लार्ड एलिनबरा।

बढे। सिखों को जलालाबाद देने का लालच दिया गया और उनको खूब धार्मिक जोश दिलाया गया। पहले गजनी पर अधिकार कर लिया गया और वहाँ का किला तथा नगर नष्ट कर दिया गया। सितम्बर सन् १८४२ में काबुल पर भी अधिकार हो गया। वहाँ के निरपराध दूकानदारों को लूटकर और दो मस्जिदें तथा चार बाजारें, जो "एशिया में अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थीं," नष्ट करके हार का बदला लिया गया।[१] जिन्होंने अँगरेजों की दुर्दशा की थी, उनका कुछ भी करते न बन पड़ा। उलटे उनको बहुत सा रुपया देकर कैदियों को छुडाया गया। अकबरखाँ को, जिसने अँगरेज कैदियों को बडी अच्छी तरह रखा था, पकडे जाने पर मैकनाटन की हत्या का दंड देने की आज्ञा थी। अब उसी से समझौता किया गया और अफगानिस्तान खाली करके दोस्त मुहम्मद को वापस कर देने का वचन दिया गया। शाहशुजा को अपने प्राण गवाँकर अँगरेजों की सहायता से राज्य करने का फल पहले ही मिल चुका था। अफगानिस्तान में रहने का अब अँगरेजों का साहस न था।

दोस्तमुहम्मद

सोमनाथ का फाटक—कहा जाता है कि महमूद सोमनाथ के मन्दिर में लगा हुआ चन्दन का फाटक गजनी ले गया था और यह वहाँ उसके मकबरे में लगा था। लार्ड एलिनबरा ने उस फाटक को भारतवर्ष लाने की आज्ञा दी, पर

[१] जान के, दि वार इन अफगानिस्तान, जि० ३, पृ० ६३८-३९।

जो फाटक लाया गया वह दूसरा ही था। इतने दिनों की भूली हुई बात का स्मरण दिलाकर भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर भेदभाव को जागृत करने का यह प्रयत्न किया गया। लार्ड एलिनबरा इसको बडी धूमधाम से सोमनाथ ले जाना चाहता था, परन्तु इँग्लेंड में इसका बडा विरोध किया गया। इस पर यह विचार छोड दिया गया। यह फाटक आजकल आगरा के किले में पडा हुआ सड रहा है। अफगानिस्तान से लौटी हुई सेना का फीरोजपुर में बडे समारोह के साथ स्वागत करने का प्रयत्न किया गया। लार्ड एलिनबरा इसमें दोस्तमुहम्मद को भी शामिल करना चाहता था। उस अभिमानी शासक पर इसका प्रभाव क्या होता, जब यह पता चला, तब यह विचार भी छोड दिया गया। स्वागत के लिए महीनों से हाथियों को सलामी करना सिखलाया गया था, पर ठीक समय पर उन्होंने इससे इनकार कर दिया, जिससे सारा मजा किरकिरा हो गया। नाममात्र की विजय का इस अपमान-सूचक ढँग से मनाया जाना बहुतों ने पसन्द नहीं किया।

सिन्ध का शिकार—इस युद्ध में बहुत सा धन खर्च हुआ था, जिसकी पूर्ति करनी थी। अँगरेजों की बदनामी भी बहुत हुई थी, उसको किसी न किसी तरह मिटाना था। इसी लिए अब सिन्ध का शिकार करना निश्चित किया गया। इसमें एक यह भी लाभ देखा गया कि सिन्ध नदी पर, जो अकबर के शब्दों में "दिल्ली की खाई" थी, अधिकार हो जाने से पजाब को भी दबाने का अवसर मिल जायगा। सिन्ध के साथ पहले ही से अन्याय किया गया था। यहा बिलोचियों का राज्य था, जिनमें हैदराबाद, मीरपुर और खैरपुर के मुख्य घराने थे, जो अमीर कहलाते थे। सन् १८०९ में इनसे केवल फ्रांसीसियों को अलग रखने के लिए कहा गया था। सन् १८३१ में इनकी इच्छा के विरुद्ध रणजीतसिंह को उपहार ले जाने का बहाना करके बर्न्स सिन्ध नदी के मार्ग से लाहौर भेजा गया। तभी एक बिलोची ने कह दिया था कि "सब अब हो चुका, अँगरेजों ने हमारे देश के मार्ग को देख लिया।" परन्तु अगरेजों के विश्वास दिलाने पर कि सिन्ध नदी से सिवा व्यापार के और कोई सैनिक लाभ न उठाया जायगा, अमीरों ने व्यापार करने की आज्ञा दे दी थी।

सन् १८३८ में शाहशुजा और रणजीतसिंह के साथ जो समझौता किया गया, उसमें सिन्ध का कुछ भी ध्यान न रखा गया और उन दोनों को सिन्ध से २० लाख रुपया दिलवा देने का वचन दे दिया गया। सन् १८३६ में पिछली सन्धि के विरुद्ध सिन्ध नदी से अफगानिस्तान सेना भेज दी गई, बक्खर पर अधिकार कर लिया गया और ३ लाख रुपया साल सेना का खर्च भी अमीरों के मत्थे मढ दिया गया। उनसे कहा गया कि आवश्यकता के लिए कोई नियम नहीं है। समय पडने पर मित्रों की सहायता करनी चाहिए। इस पर मीर नूरमुहम्मद ने ठीक ही कहा कि अँगरेजों के "मित्र" शब्द का अर्थ उसकी समझ में कभी न आयगा।[१] अफगानिस्तान में अँगरेजों पर विपत्ति पडने के समय में ये अमीर बराबर उनकी सहायता करते रहे थे। पर इसका भी कुछ विचार न किया गया और सर चार्ल्स नेपियर गवर्नर-जनरल का प्रतिनिधि बनाकर सिन्ध भेजा गया, जो हर एक बात में हस्तक्षेप करने लगा।

मियानी का युद्ध—अमीरों पर तरह तरह के दोष लगाये गये और एक नई सन्धि करने के लिए उन्हें मजबूर किया गया। इसके अनुसार सैनिक खर्च के लिए कुछ स्थान ले लिये गये और सिन्ध में अँगरेजों का सिक्का चला दिया गया। जिन स्थानों के लेने की बातचीत थी, सन्धि पर हस्ताक्षर होने के पहले ही उन पर अधिकार कर लिया गया और अमीरों को डराने के लिए इमामगढ का प्रसिद्ध किला नष्ट कर डाला गया। अमीरों ने सन्धि पर तो हस्ताक्षर कर दिये परन्तु यह स्पष्ट कह दिया कि उद्दड बिलोची इस अपमान को सहन न कर सकेंगे। उनकी वे जिम्मेदारी नहीं ले सकते। इस घटना के तीसरे ही दिन कुछ बिलोचियों ने बिगडकर रेजीडेंसी पर आक्रमण कर दिया। फिर क्या था, तीन हजार सेना लेकर नेपियर पहुँच गया। अमीरों की बाईस हजार सेना थी, बिलोची बडी वीरता से लडे, पर तब भी उनकी हार हुई। रिचर्ड बर्टन लिखता है कि यदि कभी इसकी जाँच की जाय कि गुप्त रीति

---

[१] लुतफुल्ला, आटोबायग्रैफी, सन् १८५७, पृ० २९५।

से कितना रुपया उनके अफसरों को दिया गया तो अँगरेजों की विजय के कारणों का पता लग सकता है।[1] लूट में कोई कसर न रखी गई। इसमें से ७० हजार पौंड नेपियर को मिले। बिलोचियों के विद्रोह में अमीरों का कितना दोष था, इसकी पूरी जाँच भी नहीं की गई और वे गिरफ्तार करके बम्बई भेज दिये गये। सिन्ध अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया और चार्ल्स नेपियर वहाँ का शासक बना दिया गया।

इस तरह सिन्ध ले लेने का अँगरेजों को कोई अधिकार न था, इसको स्वयं नेपियर ने भी स्वीकार किया है। वह लिखता है कि "हमें सिन्ध लेने का कोई अधिकार नहीं है, तब भी हम ऐसा करेंगे" क्योंकि यह "बड़ा लाभदायक" होगा। इसमें "धूर्तता" की गई, इसको भी मानने की "धृष्टता" उसने की है।[2] सचालकों का भी ऐसा ही मत था। परन्तु यह सब होते हुए भी सिन्ध को लौटालने के लिए कोई भी तैयार न था। इस जबरदस्ती के समर्थन में कहा जाता है कि अन्तत इससे वहाँ की प्रजा का लाभ ही हुआ। यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि इस मामले में अँगरेजों का उद्देश्य काबुल की लज्जा मिटाना न था। कई कारणों से सिन्ध को अगरेजी राज्य में मिला लेना अनिवार्य हो गया था[3]।

ग्वालियर का झगड़ा—सिन्धिया इस समय भी "थोड़ा बहुत स्वतंत्र था।" उसके साथ कोई सहायक सन्धि न थी और न उसके राज्य की गणना अधीन राज्यों में थी। मेजर क्लोज के शब्दों में "वह स्वाधीन था," उसके साथ "कई एक सन्धियाँ थीं, पर उनसे उसकी स्वतन्त्रता नष्ट न होती थी।" यह स्वतंत्रता गवर्नर-जनरल की आँखों में खटक रही थी। सिन्धिया के पास इस समय भी ४० हजार अच्छी सेना थी। गवर्नर-जनरल की राय में, सतलज नदी से थोड़ी दूर पर, जहाँ सिखों की ७० हजार सेना "विजय

---

[1] लाइफ ऑफ रिचर्ड बर्टन, पृ० [illegible]। वसु, जि० ५, पृ० १०५।

[2] लाइफ ऑफ जनरल नेपियर, जि० २, पृ० २१८।

[3] कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० ५, पृ० ५३८-३९।

के मद में मस्त" और "लड़ाई तथा लूट के लिए उत्सुक" पड़ी थी, इस सेना का रहना उचित न था। इस तरह उसकी दृष्टि पंजाब और ग्वालियर दोनों ही पर थी। ग्वालियर की शक्ति नष्ट करने का एक अच्छा अवसर मिल गया।

सन् १८४३ में जकोजी सिन्धिया की मृत्यु हो गई और एक नौ वर्ष का बालक गोद लेकर गद्दी पर बिठलाया गया। एलिनबरा ने दबाव डालकर मामा साहब को उसका संरक्षक बनवा दिया, पर ग्वालियरवालों ने थोड़े ही दिनों में उसे निकाल बाहर किया और दादा खासगीवाला को संरक्षक चुना। दरबारियों की इस धृष्टता को अभिमानी एलिनबरा सहन न कर सका। नये संरक्षक पर कितने ही अपराध लगाये गये। रेजीडेंट को गवर्नर-जनरल का यह अकारण हस्तक्षेप बहुत पसन्द न था, इसलिए वह अपने पद से हटा दिया गया और कर्नल स्लीमैन रेजीडेंट बनाया गया। अधिक दबाव डालने पर दरबार ने दादा साहब को भी गवर्नर-जनरल के हवाले कर दिया, पर तब भी वह सेना लेकर, चम्बल पार उतर आया। सिन्धिया की सेना ने इसको अपने राज्य पर आक्रमण समझा। महाराजपुर और पनियर नामक दो स्थानों पर एक ही दिन युद्ध हुआ। ऐसे युद्धों में जो परिणाम होता था वही हुआ। इन दिनों सिन्ध के सम्बन्ध में एलिनबरा की नीति की तीव्र आलोचना हो रही थी। यदि ऐसा न होता, तो शायद सिन्धिया का राज्य भी ले लिया जाता। अन्त में गवर्नर-जनरल ने "दया करके" राज्य वापस कर दिया। नई सन्धि से जो कुछ स्वतन्त्रता थी, वह सब जाती रही और सेना भी तोड़ दी गई।

पंजाब पर दृष्टि—एलिनबरा की पंजाब पर पूरी दृष्टि थी। रणजीतसिंह के मरने से वहाँ की दशा बिगड़ रही थी। सिखों को जलालाबाद देकर वह उनकी सेना को पश्चिम की ओर हटाना चाहता था। काबुल की तरफ बढ़ने के लिए भी वह उनको भटका रहा था। अपने पत्रों में वह लिखता है कि पंजाब मेरे पैरों तले है, पर अभी समय नहीं आया है। वहाँ आपस की फूट से वही हो रहा है जो हम चाहते हैं। यदि सन् १८४५

तक का मुझे समय मिल गया, तो फिर किसी बात का भय नहीं है।[1] इन वाक्यों से स्पष्ट है कि यदि वह भारतवर्ष मे रह जाता तो उसी के समय मे सिखों के साथ भी युद्ध छिड जाता।

अन्य राज्य—निजाम की आर्थिक दशा बहुत बिगड रही थी, उसको कर्ज देकर उसके हाथ से भी शासन ले लेने की बातचीत हो रही थी। दूसरी ओर अवध के शाह से दस लाख कर्ज लिया जा रहा था। जान पडता था कि अवध का खजाना कम्पनी ही का माल था। बेचारा शाह अंगरेजी पुस्तकों के अनुवाद मे लगा था, जिसके लिए उसकी प्रशसा की जा रही थी। राजाओं के कोई सन्तान न होने के कारण बुँदेलखड के दो छोटे छोटे राज्य जब्त कर लिये गये। बेचारे दिल्ली के बादशाह को नजर देने की प्रथा बन्द कर दी गई। एलिनबरा उसको कुटुम्ब सहित महल से निकालकर महल को गवर्नर-जनरल का निवास स्थान बनाना चाहता था। उसकी राय मे सम्राट् का पद इँग्लेड के शासकों को मिलना चाहिए था।

एलिनबरा की नीति—लार्ड एलिनबरा "एशिया मे शान्ति स्थापित करने" आया था। वह भारतवर्ष का दूसरा "अकबर" बनना चाहता था। उसका कहना था कि जनता को ब्रिटिश सरकार से कुछ भी प्रेम नहीं है। उसने प्रजाहित के लिए कोई भी बडा काम नहीं किया। बडी बडी इमारतें गिर रही हैं, मन्दिर टूट रहे है और देशी नरेशों के मान का कुछ भी ध्यान नहीं रखा जा रहा है। हम कोई भी ऐसा काम नहीं कर रहे है, जिससे हमारी उदारता का परिचय मिले। हम केवल सेना के बल पर शासन कर रहे है। मै अँगरेजी राज्य को जनता के हृदय मे स्थापित करना चाहता हूँ और मै इसको कर सकता हूँ। जिस तरह अकबर की सरकार दृढ थी, मै उसी तरह ब्रिटिश सरकार को भी दृढ बना सकता हूँ। 'परन्तु तब मुझे अकबर की तरह काम करना पडेगा न कि आकलॅड की तरह"।[2]

---

१ ड्यूक आफ वलिंगटन के नाम पत्र, बसु, जि० ५, पृ० १८९-८६।

२ ला, इंडिया अडर लार्ड एलिनबरा, पृ० ६८।

इन शब्दों और उसके कार्यों में कितना अन्तर था? परन्तु इनसे उन दिनों भी सरकार के प्रति जो भाव था, वह अवश्य प्रकट हो रहा है।

सन् १८३३ के एक भाषण में एलिनबरा का कहना था कि राजनैतिक तथा सैनिक शक्ति हिन्दुस्तानियों के हाथ में न देने ही से भारत में हमारा साम्राज्य स्थापित रह सकता है। इसका ध्यान रखते हुए प्रजाहित के लिए जो कुछ बन पड़े करना चाहिए। वास्तव में इसी नीति के अनुसार शासन करने का प्रयत्न किया गया। सन् १८४३ में दासता की प्रथा उठा दी गई। सरकार की ओर से लाटरी डालकर रुपया इकट्ठा करने की रीति भी बन्द कर दी गई। शासन के भिन्न भिन्न विभाग सेक्रेटरियों में बाँट दिये गये और एक 'अर्थसदस्य' भी नियुक्त किया गया। पुलिस की दशा भी सुधारी गई और थानेदारों का वेतन कुछ बढ़ा दिया गया।

कम्पनी के संचालक उसकी नीति से सन्तुष्ट न थे। नौकरी के मामलों में वह उनकी न सुनता था। लार्ड वेलेजली की तरह वह भी उनका निरादर करता था। उसे बड़ा अभिमान था और वह बिना सोचे-विचारे बड़ी शान के घोषणा-पत्र निकाला करता था, जिनका प्रभाव अच्छा न पड़ता था। लार्ड वेलेजली और वेलिंगटन उसके बड़े सलाहकार थे। उनकी राय में गवर्नर-जनरल के पद के लिए उससे बढ़कर इँग्लेंड में कोई योग्य न था। रानी विक्टोरिया का भी यही मत था। तब भी सन् १८४४ में संचालकों ने उसको वापस बुला लिया। उनके इस कार्य्य से रानी विक्टोरिया बहुत रुष्ट हो गई।

लार्ड हार्डिंज—एलिनबरा के स्थान पर सर हेनरी हार्डिंज गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। नेपोलियन के विरुद्ध स्पेन की लड़ाइयों में उसने बड़ी वीरता और चतुरता दिखलाई थी। बीस वर्ष से वह पार्लामेंट का मेम्बर था और युद्ध-सचिव के पद पर बहुत दिनों तक काम कर चुका था। लार्ड एलिनबरा की राय में "दो वर्ष के युद्ध से सर्वत्र शान्ति विराज रही थी।" पर तब भी पंजाब की दशा देखते हुए इँग्लेंड के राजनीतिज्ञों को युद्ध की आशंका हो रही थी। इसी लिए गवर्नर-जनरल के पद पर हार्डिंज सा रण-

चतुर सैनिक नियुक्त किया गया। इँग्लेंड मे चलते समय संचालकों की ओर से कहा गया कि "ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन न्यायपूर्ण, नम्र तथा

हार्डिंज

शान्तिप्रद होना चाहिए, परन्तु समय पड़ने पर उसकी शक्ति का प्रभुत्व शस्त्रों के बल से अवश्य स्थापित रखना चाहिए।" युद्धप्रिय सैनिक के लिए भावी नीति का इतना इशारा काफी था।

रणजीतसिंह की मृत्यु—सन् १८३९ मे 'पंजाबकेशरी' महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु हो गई। यद्यपि वह पढा-लिखा नहीं था, पर तब भी वह बडा योग्य शासक था। उसकी स्मरण-शक्ति विलक्षण थी। हर एक बात जानने की उसको उत्सुकता रहती थी। वह बडा वीर और साहसी था, किसी बात मे उसकी हिम्मत कभी न हारती थी। घोडे की सवारी और तलवार चलाने मे वह बडा निपुण था। अच्छे अच्छे घोडो के रखने का उसको बडा शौक था। रणनीति मे भी वह चतुर था, उसका सामना करना सहज काम न था। उसका अधिकाश जीवन युद्ध मे ही व्यतीत हुआ था, पर तब भी उसमें कठोरता न थी। अपने शत्रुओ मे भी वह वीरता का आदर करता था। उसके उदार व्यवहार से शत्रु भी मित्र बन जाते थे। अपना मतलब सिद्ध करने में वह किसी उपाय से न चूकता था। उसका दरबार बडी शान का था, पर वह स्वय सादे ढँग से रहता था। तलवार को ही वह अपना सबसे अच्छा आभूषण समझता था। उसके चेहरे पर शीतला के दाग थे, एक आख भी नहीं थी, परन्तु उसकी "आकृति सुडौल, माथा विशाल और कन्धे चौडे" थे। जब वह घोडे पर निकलता था, उसमे विचित्र-वीर-रस का आवेश दिखलाई देता था।

सिख-शासन—खालसा की मुख्य सभा 'गुरुमाता' का अन्त सन् १८०४ में ही हो गया था। राज्य का कुल शासन महाराजा की इच्छा पर निर्भर था। राज्य की आमदनी लगभग ढाई करोड रुपया थी। हर एक जिले मे एक 'कारदार' रहता था, जो कर वसूल करता था। प्रजा से, पैदावार के पाँचवे हिस्से से कुछ अधिक, लगान में लिया जाता था। इसके अतिरिक्त और भी कई तरह के कर लिये जाते थे। जागीरदारों का 'खिराज' बँधा हुआ था। कारदारों को न्याय के भी अधिकार रहते थे। दीवानी और फौजदारी की अलग अलग अदालतें न थीं। बहुत से अपराधो में प्राय: जुरमाने का दड दिया जाता था। महाराजा की राय में अपराधियो को जेल मे रखना फजूलखर्ची थी। बडे बडे अपराधो मे अग-भंग का दंड दिया जाता था। सरकारी अफसरों पर महाराजा की बडी तीव्र दृष्टि रहती थी।

पंजाब की दुर्दशा—रणजीतसिंह के मरते ही सारी शासन व्यवस्था बिगड़ गई। दरबार के बड़े बड़े सरदारों को, जो उसके सामने भय से काँपते थे, अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर मिल गया और सेना बेकाबू हो गई। केवल राजा की योग्यता और शक्ति पर निर्भर रहनेवाले राज्यों में यही बड़ा भारी दोष है। उसके हटते ही पतन प्रारम्भ हो जाता है। बराबर वैसे ही राजा होते जायँ, यह सम्भव नहीं है। एक इतिहासकार ने ठीक लिखा है कि यदि भारतवर्ष में अकबर सरीखे ही बादशाह बराबर शासन करते, तो आज भी अँगरेज वैसे ही व्यापारी बने होते, जैसे कि वे तब थे।

साल भर के भीतर ही रणजीतसिंह के बेटे खड्गसिंह और पोते नावनिहालसिंह का भी अन्त हो गया। नावनिहालसिंह बड़ा वीर युवक था। सेना पर भी उसका बड़ा प्रभाव था, अफगान-युद्ध में वही सेनापति था। अँगरेजों की नीति को वह ख़ूब समझता था। इन दिनों दरबार में दो बड़े बड़े दल थे, एक ओर मुख्य सिन्धन-वालिया सरदार थे और दूसरी ओर जम्मू के ध्यानसिंह, गुलाबसिंह तथा सुचेतसिंह तीनों भाई थे। कुछ दिनों तक खड्गसिंह की रानी चाँदकुँवरि राज्य करती रही। अन्त में जम्मूवालों की विजय हुई और शेरसिंह, जो रणजीतसिंह का दूसरा लड़का माना जाता था, गद्दी पर बिठलाया गया। इस समय राज्य की ऐसी शोचनीय दशा हो गई थी कि अँगरेजों से भी सहायता माँगी गई, पर उन्होंने परस्पर की कलह जारी रहने ही में अपना हित देखा और रणजीतसिंह की मित्रता का कुछ भी ध्यान न करके, हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया। सन् १८४३ में शेरसिंह मार डाला गया और प्रधान सचिव ध्यानसिंह का भी अन्त हो गया। यह बड़ा महत्त्वाकांक्षी, साहसी, योग्य, समझदार और नीतिनिपुण सचिव था। सुचेतसिंह की भी मृत्यु हो गई। तीनों भाइयों में केवल गुलाबसिंह बाक़ी रह गया। इसी साल ८ वर्ष का बालक दिलीपसिंह गद्दी पर बिठलाया गया और उसकी माता रानी झिन्दन राज्य का काम देखने लगी।

कहने के लिए तो दिलीपसिंह और उसके सरदार राज्य करते थे, पर वास्तव में सारी शक्ति सेना के हाथ में थी। रणजीतसिंह के बाद से इसकी

संख्या बहुत बढ गई थी। इसको काबू मे रखने के लिए नावनिहालसिंह और शेरसिंह के समय मे सैनिको का वेतन भी बहुत बढा दिया गया था। अब कोई ऐसा योग्य सरदार न था, जिसकी आज्ञा का सारी सेना पालन करती। हर एक कम्पनी की अलग अलग पचायते बनी हुई थी। पचो का निर्वाचन सैनिक ही करते थे, इन्हीं पचायतो द्वारा कुल सेना का शासन होता था। कभी कभी यह सब पचायते एक साथ मिलकर परामर्श करती थी और उनका निश्चय खालसा का निश्चय माना जाता था। इस संगठन से सेना की एकता, जो सफलता के लिए नितान्त आवश्यक है, नष्ट हो गई थी और कई एक दल बन गये थे, जिन्हे सरदार लोग अपने अपने पक्ष मे मिलाने का प्रयत्न किया करते थे। ऐसी दशा मे खालसा की न तो कोई निश्चित नीति थी और न जटिल प्रश्नो पर पूरी तरह विचार ही होता था। परन्तु जो सरदार अपनी मनमानी करना चाहते थे, उनके मार्ग मे इस सेना से बडी बाधा पडती थी। इन दिनो तेजसिंह प्रधान सेनापति था और कुटिल लालसिंह वजीर था, जिसका महारानी पर बडा प्रभाव था। गुलाबसिंह दूर ही से यह सब दशा देख रहा था। परन्तु सेना के कारण इन तीनो की दाल न गलने पाती थी, इसी लिए किसी न किसी तरह सेना की शक्ति को नष्ट करके ये तीनो अपनी मनमानी करना चाहते थे।

सिखों का पहला युद्ध—सिखो की यह दशा देखकर अँगरेज अपनी सीमा पर बराबर सेना बढा रहे थे। हार्डिंज के समय मे इसकी संख्या लगभग ४५ हजार तक पहुँच गई। फीरोजपुर मे एक नई छावनी भी बना दी गई। अँगरेजों का कहना था कि यह सब तैयारी केवल अपनी रक्षा की दृष्टि से की जा रही थी। दूसरी ओर सिखो को भय था कि उनके राज्य पर आक्रमण के लिए यह सब प्रबन्ध हो रहा था। इस भय के कई एक कारण भी थे। अगरेजी राज्य के विस्तार का इतिहास उनसे छिपा न था। "आत्मरक्षा" के अर्थ को भी वे अच्छी तरह समझते थे। अगरेजो के व्यवहार से भी उनके इस भय की पुष्टि हो रही थी। अफगान-युद्ध मे सहायता देने का बदला, शाहशुजा को पेशावर छीनने के लिए उत्साहित करने मे दिया गया

था। सतलज नदी के इस पार के कुछ राज्यों को अँगरेजों ने अपने अधीन मान लिया था। कुछ सिख सैनिक लाहोर जाने के लिए फीरोजपुर के निकट सतलज नदी पार करके अँगरेजी राज्य में आ गये थे। यह बिना आज्ञा के "सीमोल्लंघन" समझकर उन पर गोली चलाने की आज्ञा दे दी गई थी। इसी तरह कुछ सिपाही लुटेरों को पकड़ने के लिए सिन्ध चले गये थे। इस पर सर चार्ल्स नेपियर ने उधर की सीमा पर सेना एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया था। सिखों को यह मुलतान की तरफ से चढ़ाई करने की चाल दिखलाई पड़ रही थी।[1] इस परस्पर अविश्वास की स्थिति में तेजसिंह, लालसिंह और गुलाबसिंह को अपना उद्देश्य सिद्ध करने का अच्छा अवसर मिल गया। वीरता और देशभक्ति सिखों के स्वाभाविक गुण हैं। इन दोनों को पूरी तरह उत्तेजित करके जब सैनिकों से पूछा गया कि क्या वे खालसा पर फिरंगियों का अधिकार सहन कर सकेंगे, तब सबने एक स्वर से उत्तर दिया कि जीते जी वे गोविन्दसिंह का राज्य नष्ट न होने देंगे और अँगरेजों पर स्वयं आक्रमण करके उनको परास्त करेंगे। महाराजा रणजीतसिंह की समाधि पर यह निश्चय करके दिसम्बर सन् १८४५ में सिख सेना सतलज नदी पार करके फीरोजपुर के निकट आ डटी।

इस पर गवर्नर-जनरल हार्डिंज ने भी युद्ध की घोषणा कर दी और सतलज नदी के इस पार के राज्यों को अँगरेजी राज्य में मिला लेने की आज्ञा दे दी। सिख-इतिहास के लेखक कनिंघम का कहना है कि सन्धि की शर्तों को तोड़कर युद्ध का प्रारम्भ पहले सिखों ने किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि कई वर्षों से अँगरेज जिस नीति का अनुसरण कर रहे थे, उसमें भी शान्ति स्थापित रहने की अधिक सम्भावना नहीं थी। इसलिए इस युद्ध के सम्बन्ध में, जिसको वे तुच्छ समझते थे, जिसकी वे प्रतीक्षा कर रहे थे और जिसमें वे जानते थे कि उन्हीं की वृद्धि होगी, वे सर्वथा निर्दोष नहीं कहे जा सकते।[2]

---

[1] कनिंघम, हिस्ट्री ऑफ दि सिख्स, स० गेरेट, पृ० २७५–८५।

[2] वही पृ० २८६–८७।

मुदकी और फ़ीरोज़शहर—अँगरेज़ों को इस समय तक सिखों की वीरता का पता न था। वे समझे बैठे थे कि बात की बात में वे उनको परास्त कर देंगे। यद्यपि युद्ध मे अँगरेज़ों ही की विजय हुई, पर उनका यह भ्रम शीघ्र ही दूर हो गया। ता० १८ दिसम्बर को मुदकी नामक स्थान पर पहली लडाई हुई। लालसिंह जो सेना का अध्यक्ष बनकर आया था, अँगरेज़ों से पहले ही से मिला था। वह युद्ध के समय पर मैदान मे हट गया। प्रधान सेनापति तेजसिंह की भी वही दशा थी। परिणाम यह हुआ कि सिखों को मैदान छोडना पडा। ता० २१ दिसम्बर को फीरोजशहर मे दूसरी लडाई हुई। इसमे अँगरेज़ों के छक्के छूट गये। गोला बारूद समाप्त हो गई, वे फीरोजपुर की तरफ हटने ही वाले थे कि इतने मे तेजसिंह स्वयं पीछे हट गया। इस लडाई मे बहुत से अँगरेज़ अफसर मारे गये, परन्तु सिख सेना फिर सतलज के उस पार चली गई। जनवरी सन् १८४६ मे लुधियाना के निकट एक दल ने अँगरेज़ों पर फिर आक्रमण किया। अंगरेज़ सिपाहियों ने इसको रोका अवश्य, पर वे इतने थके हुए थे और उनका साहस इतना टूटा हुआ था कि वे पीछे हटने लगे। इतने पर भी सिखों ने उनका पीछा नहीं किया, क्योंकि "वे बिना ऐसे नेता के थे, जो अंगरेज़ों को पराजित देखना चाहता हो।" इस अवसर पर बहुत सा लूट का माल सिखों के हाथ आया और अँगरेज़ों के बहुत से सिपाही भी गिरफ्तार हुए। इससे सिखों की हिम्मत बढ गई।

अलीवाल और सोबरावँ—इस समय तक गुलाबसिंह जम्मू से ही यह रंग देख रहा था। अब वह भी लाहौर आकर सेना को और बढावा देने लगा, पर स्वयं रणक्षेत्र में जाने का अवसर बडी चतुरता से टालता रहा। जनवरी सन् १८४६ के अन्त मे सिख सेना फिर सतलज पार करके आ गई, पर अलीवाल के युद्ध मे इसको फिर हारना पडा। इस पर गुलाबसिंह ने सन्धि की बातचीत प्रारम्भ कर दी और अँगरेज़ों से भिडने के लिए सेना को भी बुरा-भला कहा। परन्तु अब गवर्नर-जनरल ने लाहौर पर विजय-पताका फहराना निश्चित कर लिया था, इसलिए वह सिख सेना के तोड देने की

शर्त चाहता था। यह बात गुलाबसिंह की शक्ति के बाहर थी। इसलिए उसकी राय मे यह तय पाया कि "अँगरेज सिख सेना पर आक्रमण करे। हार होने पर दरबार उसका साथ छोड दे, सतलज पर कोई रोक टोक न की जाय और विजेताओं के लिए राजधानी का मार्ग खुला छोड दिया जाय।" इतिहासकार कनिंघम के शब्दों मे "इस चतुर नीति और निर्लज्ज विश्वासघात की दशा मे सोबरावँ का युद्ध हुआ"।[1]

लडने के लिए सैनिकों के हृदय मे साहस था, भुजाओं मे बल था, केवल एक नेता की कमी थी, जो सबको जोश दिलाकर हर एक बात का ठीक ठीक प्रबन्ध कर सकता। पहले ही वार मे तेजसिंह भाग निकला, केवल वृद्ध श्यामसिंह सेना को ललकारता हुआ रणक्षेत्र में डटा रहा, जहाँ लडते लड़ते वह मारा गया। मजबूर होकर सिख सेना पीछे हटने लगी। उधर सतलज नदी का बाँध टूटा हुआ था, इस पर बहुत से सिपाही नदी मे कूद पडे। ऐसी दशा में भी उन पर गोलाबारी की गई। थोड़े ही समय मे नदी रक्त से लाल हो गई पर एक सैनिक ने भी शरण की भिक्षा नहीं माँगी। इस तरह सिखों का पहला युद्ध समाप्त हुआ। इसमें जितने अँगरेज अफसर मारे गये, उतने किसी युद्ध में काम न आये थे।

लाहोर की सन्धि—अँगरेजी सेना ने सतलज नदी पार करके कसूर के किले पर अधिकार कर लिया। गुलाबसिंह भी युवक दिलीप को साथ लेकर आ गया। लाहोर पहुँचकर ता० ९ मार्च को सन्धि हो गई। सतलज और व्यास नदियों के बीच की भूमि सिखों से ले ली गई, डेढ करोड रुपया दंड भी माँगा गया और सेना की संख्या घटा दी गई। युद्ध में जिन तोपों

---

१ कनिंघम, हिस्ट्री, पृ० ३०९। इस स्पष्ट बात को लिखने के कारण कनिंघम 'पोलिटिकल विभाग' से हटा दिया गया और पंजाब से भूपाल बदल दिया गया। वह आठ वर्ष तक पंजाब में रहा था, इन लड़ाइयों में भी मौजूद था। उसका कहना था कि मैंने पूरी जाँच करके ऐसा लिखा है।

से काम लिया गया था, वे भी छीन ली गई। गुलाबसिंह जम्मू का स्वतंत्र महाराजा मान लिया गया। लालसिंह वजीर बनाया गया और साल भर के लिए कुछ अंगरेजी सेना लाहौर मे छोड दी गई। दड का रुपया वसूल न होने पर हजारा और काश्मीर के इलाके ले लिये गये और २५ लाख रुपये में काश्मीर गुलाबसिंह के हाथ बेच दिया गया। सन्धि मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि "ब्रिटिश सरकार लाहौर राज्य के शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेगी।"

गुलाबसिंह

आर्थिक तथा सैनिक कठिनाइयों के कारण पंजाब का अँगरेजी राज्य में मिलाया जाना उचित न समझा गया। उस समय इसका राजनैतिक प्रभाव भी अच्छा नहीं पड़ता, इसका भी ध्यान रखा गया। इसी लिए राज्य का बहुत सा भाग लेकर, सेना घटाकर और गुलाबसिंह को स्वतंत्र बनाकर खालसा पगु बना दिया गया। काश्मीर की भी रक्षा का कोई उपाय न था, रुपये की बड़ी आवश्यकता थी, इसी लिए वह भी गुलाबसिंह को दिया गया। इस मनोरम देश को इस तरह दे देने के लिए बाद मे अँगरेजों को बड़ा पछतावा हुआ। काश्मीर पर अधिकार करने मे गुलाबसिंह को कुछ कठिनाई हुई, कांगड़ा कोट भी बिना तोपों का भय दिखलाये हुए अँगरेजों को न मिला। इसके लिए लालसिंह दोषी ठहराया गया। उसकी जागीर छीन ली गई और वह कैद करके अंगरेजी राज्य मे भेज दिया गया। विश्वासघात का यही फल होता है। ता० १६ दिसम्बर सन् १८४६ मे लाहौर दरबार के कहने पर दूसरी

सन्धि की गई। महारानी के सब अधिकार छीन लिये गये और उसको डेढ़ लाख रुपया साल की पेंशन दी गई। लाहौर दरबार में अँगरेज रेजीडेंट रख दिया गया, जिसको "सब विभागों के संचालन करने के पूरे अधिकार" दे दिये गये। उसकी निगरानी में काम करने के लिए आठ सरदारों की एक कौन्सिल बना दी गई। मुख्य मुख्य गढ़ों में अँगरेजी सेना रख दी गई और उसके खर्च के लिए दरबार से २२ लाख रुपया साल लेना निश्चित हुआ। दिलीपसिंह के बालिग होने तक आठ वर्ष के लिए यह प्रबन्ध किया गया। अँगरेजों ने इस बात का विश्वास दिलाया कि वे राज्य में "शान्ति स्थापित रखने" का प्रयत्न करेंगे और "जनता के भावों तथा राष्ट्रीय संस्थाओं" का बराबर ध्यान रखेंगे।

हार्डिंज का शासन—युद्ध में लगे रहने पर भी हार्डिंज ने शासन का अच्छा प्रबन्ध किया। उसी के समय में रेल की पैमायश शुरू की गई और गंगा-नहर का काम जोरों से चलाया गया। देशी राज्यों को सती-प्रथा बन्द करने के लिए कहा गया और जंगलियों में 'नरबलि' रोकने का भी पूरा प्रबन्ध किया गया। नमक पर महसूल कम कर दिया गया। रविवार को तातील मनाने का भी नियम बनाया गया। खर्च कम करने के लिए सेना की संख्या भी कुछ घटा दी गई। सिखों पर विजय पाने के लिए उसको लार्ड की उपाधि दी गई। जनवरी सन् १८४८ में वह इंगलैंड वापस चला गया। चलते समय उसका विश्वास था कि "सात वर्ष तक भारतवर्ष में फिर बन्दूक चलाने की आवश्यकता न पड़ेगी।"

और सद्रा नीति से काम लेता था। स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वह छुट्टी लेकर लार्ड हार्डिंज के साथ ही इँग्लैंड चला गया और उसकी जगह पर करी रेजीडेंट बनाया गया। इसने सब जगह अँगरेज अफसर भर दिये, जो हर एक काम मे अपनी मनमानी करने लगे। कर्नल स्लीमैन को भय था कि इसका परिणाम वही होगा, जो काबुल में हुआ था। परन्तु उसकी इस बात पर कुछ भी ध्यान नही दिया गया। इस तरह के हस्तक्षेप से सिखो मे बडा असन्तोष फैलने लगा। अँगरेज अफ़सरो ने मुसलमानो को पुरानी बातो का स्मरण दिलाकर सिखो के विरुद्ध भडकाने का भी प्रयत्न किया।[1] पेशावर की तरफ बहुत से मुसलमान बिगड पडे और नाजिम छत्रसिह को शासन करना असम्भव हो गया। ये सब बातें सिखो को असह्य हो रही थीं और धीरे धीरे अशान्ति की आग सुलग रही थी।

मुलतान का विद्रोह—रणजीतसिह के समय मे सावनमल मुलतान का दीवान था। उसने नहरें खोदवाकर वहा के बहुत से रेगिस्तान को हरा भरा बना दिया था। उसके बाद मूलराज दीवान बनाया गया। इस अवसर पर उससे एक करोड रुपया नजराना और कुल पिछला हिसाब मांगा गया। इन सब बातो से तंग आकर मूलराज ने अपने पद से इस्तीफा दे देने का विचार प्रकट किया। इस पर दो अँगरेज अफसरो के साथ एक सिख सरदार नया दीवान बनाकर भेजा गया। मूलराज ने मुलतान उसके हवाले कर दिया, पर कुछ सिपाही बिगड गये और उन्होंने अँगरेज अफसरो को मार डाला। मुलतान की सेना घटा देने का नये दीवान को हुक्म हुआ था। सिपाहियो के बिगड़ने का, बहुत सम्भव है, यही कारण रहा हो। अपनी बचत का कोई उपाय न देखकर और सिपाहियो के दबाव मे पडकर मूलराज ने भी विद्रोह कर दिया।[2] यदि अँगरेजी सेना पहुँच जाती, तो यह विद्रोह शीघ्र ही शान्त हो जाता, क्योंकि मूलराज के पास अधिक सेना न थी, पर ऐसा

---

[1] पंजाब पेपर्स, सन् १८४९, पृ० ३००।

[2] एडवर्ड्स, ए इयर ऑन दि पंजाब फ्रांटियर, जि० २, पृ० ५१।

लिया। उसकी सहायता से छत्रसिंह अटक छीनकर लाहोर की तरफ बढने लगा। मुलतान से शेरसिंह भी उसी ओर आ रहा था। ऐसी दशा में अँगरेजो ने मुलतान का घेरा छोडकर शेरसिंह का पीछा किया। ता० १३ जनवरी सन् १८४९ को चिलियानवाला मे दोनो सेनाओ का सामना हुआ। इसमे बहुत से अँगरेज अफसर मारे गये और उनकी चार तोपे छीन ली गईं। सिखो का भी बहुत नुकसान हुआ, पर अन्त मे दोनो दलो ने अपनी विजय मानी। स्वय लार्ड डलहौजी की राय मे अँगरेजो की विजय केवल दिखलाने भर को थी, वास्तव में उनकी दशा बडी नाजुक हो रही थी।[1] इस युद्ध का समाचार इँग्लेंड पहुँचने पर लार्ड गफ को सेनापति के पद से हटाने की आज्ञा दे दी गई। परन्तु नये सेनापति सिन्धविजयी सर चार्ल्स नेपियर के आने के पहले ही ता० २१ फरवरी को गुजरात की लडाई मे उसने सिखो का अन्त कर दिया।

मुलतान इसके पहले ही अँगरेजो के हाथ में आ गया था, इस अवसर पर उनकी कुल सेना एकत्रित थी। छत्रसिंह के आ जाने से सिख सेना की भी संख्या बढ गई थी। दोनों मे घमासान युद्ध हुआ। कुछ काल तक बेढब गोलाबारी हुई। डलहौजी के शब्दो मे सिख "सिहो की तरह लडे" पर अन्त मे अँगरेजी तोपो के सामने उनको हार माननी पडी। ता० १२ मार्च को रावलपिंडी मे सिख सरदारो ने हथियार डाल दिये। इस अवसर पर एक वृद्ध सरदार ने आँखों मे आँसू भरकर ठीक कहा कि "आज रणजीतसिंह मर गया।"

पंजावपतन—अगस्त सन् १८४८ मे ही डलहौजी ने यह राय कायम कर ली थी कि विना सिखो की शक्ति नष्ट किये हुए और पंजाव को ब्रिटिश राज्य मे मिलाये हुए, शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। उसका विश्वास था कि सिखो के साथ कभी मित्रता नहीं रह सकती। इँग्लेंड सरकार का मत था कि पजाव की "अधीनता पूरी होनी चाहिए, पर यदि

[1] डलहौजी, प्राइवेट लेटर्स, स० वेयर्ड, पृ० ४४।

सम्बन्ध न था और उसने उनके दबाने का भी प्रयत्न किया था। संरक्षक की हैसियत से इन विद्रोहों को शान्त करना ब्रिटिश सरकार का कर्तव्य था। अंगरेजी सेना के पंजाब पहुँचने पर ता० ८ नवम्बर सन् १८४८ के घोषणा-पत्र में यह कहा भी गया था कि "विद्रोहियों को दंड देने" और लाहौर दरबार के "विरुद्ध शस्त्र उठानेवालों को दबाने" के लिए हम पंजाब में आये हैं। परन्तु तब भी अन्त में दिलीपसिंह निकाल दिया गया, उसके राज्य पर अधिकार कर लिया गया और कोहनूर हीरा छीन लिया गया। लडलो लिखता है कि इस तरह सब कुछ अपहरण करके दिलीपसिंह की "रक्षा" की गई।[1]

लार्ड डलहौजी ने इस सम्बन्ध में अपनी नीति का बड़े जोरों से समर्थन किया है। वह सचालकों को लिखता है कि लाहौर दरबार ने पिछली सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया था। सैनिक खर्च के लिए २२ लाख रुपया साल तय हुआ था, जिसमें से "एक रुपया तक" नहीं दिया गया था। विद्रोहों के दबाने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। ये विद्रोह लाहौर दरबार के विरुद्ध न थे, पर वास्तव में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध थे। "ब्रिटिश शक्ति का नाश' सिखों ने निश्चित कर लिया था। उनकी स्वतंत्रता से सारे देश को भय था। ऐसी दशा में मैंने जो कुछ किया, "राज्य के प्रति अपना कर्तव्य समझकर शुद्ध चित्त से किया।" उसके न्यायसंगत तथा आवश्यक होने में मुझे जरा भी सन्देह नहीं है।[2] इवांस बेल की राय में यह समर्थन "नैतिक दृष्टि से तुच्छ" और उस उदार राष्ट्र के लिए, जो "भारत तथा पूर्व के सामने आदर्श रखने का दावा करता है, सर्वथा अयोग्य है।" उसने सप्रमाण सिद्ध किया है कि सैनिक खर्च के हिसाब में १३५६६३७ रुपया जमा किया गया था। विद्रोहों में अधिकांश सिख सरदार शामिल न थे और लाहौर दरबार ने यथाशक्ति उनके दबाने का प्रयत्न किया था। अन्तिम सन्धिपत्र पर कौंसिल के मेम्बरों को डरा धमकाकर हस्ताक्षर कराये

---

१ लडलो, ब्रिटिश इंडिया, जि० २, पृ० १८६।

२ अर्नाल्ड, डलहौजीज ऐडमिनिस्ट्रेशन, जि० १, पृ० २०५—९।

गये थे। लार्ड डलहौजी का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की वृद्धि और आर्थिक लाभ था।[1]

बालक दिलीपसिंह अपने कुटुम्बियो और देशवासियो से अलग करके एक अँगरेज़ की निगरानी में फतहगढ में रख दिया गया, जिसका फल यह हुआ कि वह थोडे ही समय में ईसाई हो गया[2] और इँग्लैंड चला गया। वहाँ से वह फिर कभी स्वदेश न लौटने पाया। इँग्लैंड में उसके वंशज अब भी मौजूद हैं। अँगरेजो के अत्याचार से पीडित होकर उसकी माता चुनारगढ से भागकर नैपाल चली गई। उसका बहुत सा जेवर जब्त कर लिया गया और पेंशन बन्द कर दी गई। दीवान मूलराज को फाँसी का हुक्म हुआ। लार्ड डलहौजी उसको 'कालेपानी' भेजना चाहता था, जिसका उसे 'मृत्यु से भी बढकर भय" था। परन्तु गवर्नर-जनरल की यह इच्छा पूर्ण होने के पहले ही मूलराज का अन्त हो गया। अँगरेज कैदियो को सिख सरदारो के हाथ से छुडाना था, इसलिए पहले उनके साथ दया का बर्ताव करने का वचन दिया गया, पर जब अँगरेज कैदी छूट आये, तब
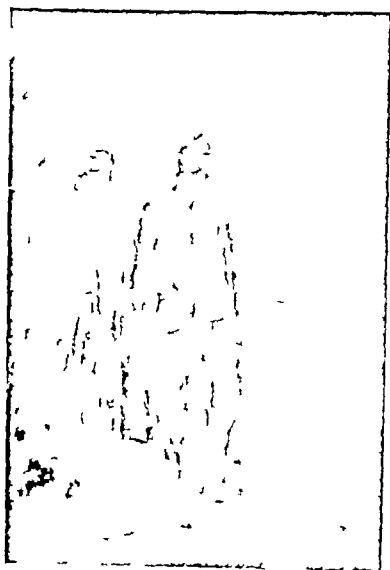
कैदी मूलराज

---

[1] इवान्स बेल, अनेक्सेशन ऑफ दि पंजाब।

[2] इस अवसर पर लार्ड डलहौजी ने दिलीपसिंह को एक बाइबिल भेंट की, जिस पर लिखा हुआ था कि इस पवित्र ग्रन्थ में उसको जो कुछ मिलेगा, वह दुनियाँ के राज्यों से कहीं बढकर है। दिलीपसिंह ऐंड दि गवर्नमेंट, सन् १८८४, पृ० ८५।

सरदारों पर बहुत से अपराध लगाये गये और वे सबके सब इलाहाबाद भेज दिये गये। इस तरह रणजीतसिंह के, जिसने अँगरेजों का बराबर साथ दिया था, राज्य और वंश का भारतवर्ष में अन्त हो गया।

नया प्रबन्ध—हेनरी लारेंस की उदार नीति से डलहौजी चिढ़ा हुआ था। वीर शत्रुओं के प्रति उसकी सहानुभूति डलहौजी को पसन्द न थी। इसी लिए पंजाब का शासन हेनरी लारेंस को न दिया गया। उसके लिए चार सदस्यों का एक बोर्ड बनाया गया, जिसके निरीक्षण का काम गवर्नर-जनरल ने स्वयं अपने हाथ में रखा। सबसे पहले "हथियार छीनकर जनता की युद्धप्रवृत्ति दबा दी गई।" खालसा दल तोड़ दिया गया और बहुत से सिपाही, दूसरों की स्वतंत्रता अपहरण करने के लिए, अँगरेजी सेना में भरती कर लिये गये। विद्रोही सरदारों की जागीरें छीनकर उन्हें हर तरह से दबा दिया गया। इन उपायों द्वारा 'पंजाब बोर्ड' को तीन ही वर्ष में यह कहने का अवसर मिला कि "हाल में मिलाये हुए राज्य में जैसी पूर्ण शान्ति है भारतवर्ष के अन्य किसी भाग में नहीं है।"

कुल पंजाब बहुत से जिलों में बाँट दिया गया, जिनमें अँगरेज कमिश्नर रख दिये गये। इनमें बहुत से सैनिक अफसर थे। इनको न्याय के सब अधिकार दे दिये गये। यहाँ बंगाल के कानून-कायदे जारी नहीं किये गये। मजिस्ट्रेटों को देश के रीति-रिवाजों का ध्यान रखकर न्याय करने की स्वतंत्रता दे दी गई। बहुत से कर उठा दिये गये और खेती की उन्नति के लिए नहरों का प्रबन्ध किया गया। व्यापार की ओर भी ध्यान दिया गया और कई सब सड़कें बनवाई गईं। सन् १८५५ में शिक्षाविभाग स्थापित किया गया और प्रारम्भिक शिक्षा के लिए थोड़े से स्कूल खोले गये।

सन् १८५३ में बोर्ड तोड़ दिया गया और हेनरी लारेंस का भाई जान लारेंस, जो प्रायः लार्ड डलहौजी से सहमत रहता था, पंजाब का चीफ कमिश्नर बना दिया गया। शान्ति स्थापित रखने के लिए ५० हजार सेना रख दी गई। पश्चिमोत्तर सीमा पर, जो अब सिन्ध नदी पार कर गई थी, रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर दिया गया। लार्ड डलहौजी का यह "प्यारा प्रान्त" था।

इसमें उसने चुन-चुनकर योग्य अफसरों को शासन करने के लिए रखा था। इसमें सन्देह नहीं कि पंजाब में शान्ति स्थापित हो गई, खेती तथा व्यापार की उन्नति हुई, न्याय की दशा सुधर गई और शिक्षा का प्रचार हुआ। पर साथ ही साथ उसका सच्चा जीवन नष्ट हो गया।

बर्मा का दूसरा युद्ध—पिछली सन्धि से आवा दरबार में अँगरेज रेजीडेंट रखना निश्चित हुआ था और बर्मा सरकार ने अँगरेज व्यापारियों को सब तरह की सुविधाएँ देने का भी वचन दिया था। परन्तु वहाँ रेजीडेंट की मनमानी न चल पाती थी, इसलिए सन् १८४० के बाद से कोई रेजीडेंट नियुक्त नहीं किया गया था। अब रंगून में अँगरेज व्यापारियों पर अत्याचार की शिकायतें आने लगीं। अँगरेजों की ही प्रजा के आदमियों द्वारा अभियोग लाने पर रंगून के बर्मी गवर्नर ने दो व्यापारी जहाजों के कप्तानों को कुछ दिन तक निगरानी में रखकर उन पर ६ सौ रुपया जुरमाना कर दिया। बर्मी सरकार का यह बड़ा भारी अन्याय माना गया और हजार हरजाना वसूल करने के लिए तीन जंगी जहाजों के साथ जहाजी सेना का एक अफसर भेज दिया गया। बर्मा स्वतंत्र राज्य था, ब्रिटिश प्रजा के अभियोग लाने पर ही कप्तानों को दंड दिया गया था, समझौते से मामला तय हो सकता था, फिर जंगी अफसरों को, जो लार्ड डलहौजी के शब्दों में बातचीत ही में "भभक" उठते थे, भेजने की क्या आवश्यकता थी?

अँगरेजों के कहने पर बर्मी सरकार ने रंगून के उस गवर्नर को, जिसने दंड दिया था, हटा दिया और एक नया गवर्नर भेजा। उससे भी अँगरेजों की न पटी। एक दिन वह सो रहा था, इसलिए उसके पहरेदारों ने अँगरेज अफसरों को मुलाकात करने से कुछ काल के लिए धूप में रोक लिया। यह अपमान अँगरेज अफसर सहन न कर सके। उन्होंने बर्मी सरकार का एक जहाज पकड़ लिया और नदियों के मार्ग को रोकने की आज्ञा दे दी। यह भूल की गई, इसको डलहौजी ने भी माना है। पर तब भी उसने बर्मा के राजा को एक बड़ा कड़ा पत्र लिख दिया, जिसमें बहुत सा हरजाना माँगा गया, माफी माँगने के लिए कहा गया और युद्ध की धमकी दी गई। 'बोर्ड

श्राफ क्टोल' के सभापति की राय मे भी पत्र की भाषा बडी तीव्र थी। पर डल-हौजी का मत था कि हिन्दुस्तानी राजा और खासकर बर्मा के शासक सीधी सीधी बात से ठीक नही रहते।[१] इस पत्र के उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये हुए ही युद्ध करना निश्चित कर लिया गया।

बर्मा मे युद्ध की कोई तैयारी न थी, यहाँ पहले ही से सब प्रबन्ध था। बात की बात मे अंगरेजी सेनाएँ बर्मा पहुँच गई। मर्तबान पर अधिकार कर लिया गया, रगून का मन्दिर भी छीन लिया गया और अँगरेजी सेना प्रोम तक पहुँच गई। बर्मी दरबार सन्धि करने के लिए राजी न था। इस पर कुल दक्षिणी बर्मा अर्थात पीगू प्रान्त अँगरेजी राज्य मे मिला लिया गया। इंग्लेड-सरकार कुल बर्मा के फिक्र मे थी, पर डलहौजी की राय मे इसके लिए समय नहीं आया था। इस प्रान्त के निकल जाने से बर्मियो के हाथ से समुद्र-तट जाता रहा, कुमारी अन्तरीप से लेकर मलाया प्रायद्वीप तक बंगाल की खाडी के कुल तट पर अँगरेजो का अधिकार हो गया। सन् १८५२ के अन्त मे लार्ड डलहौजी लिखता है कि "केवल ईश्वर जानता है कि युद्ध की आवश्यकता को दूर करने की मेरी कितनी प्रबल इच्छा थी।" परन्तु घटनाओ से इसका समर्थन नही होता। इंग्लैंड के लोकप्रिय नेता कावडन ने इस युद्ध की पोल अच्छी तरह खोली है।[२] उसका पूछना था कि दो अंगरेजो के अपमान के लिए युद्ध मे भारत का खजाना क्यो लुटाया गया? इससे भारत की निर्धन प्रजा का क्या लाभ हुआ? एक हजार रुपये से दस लाख तक हरजाना मांगना कहाँ तक उचित था? लार्ड डलहौजी का कहना था कि जब पीगू से आमदनी होने लगेगी, तब ब्रिटिश राष्ट्र इन सब बातो को भूल जायगा।[३]

---

[१] लीवार्नर, डलहौजी, जि० १, पृ० ४२१।

[२] कावडन, हाऊ वार्स आर गाट अप इन इंडिया?

[३] मार्शमन, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० ३, पृ० ३७५।

पीगू का शासन—पजाब की तरह पीगू छीनने को भी बाक़ायदा बनाने के लिए बर्मी दरबार से सन्धि करने का प्रयत्न किया गया, पर सफलता न हुई। बर्मी राजदूत कलकत्ता आये। उनका कहना था कि यदि शान्ति स्थापित करना है, तो जीता हुआ देश लौटा देना चाहिए। इसके उत्तर मे कहा गया कि "जब तक सूर्य्य मे प्रकाश है ऐसा नही किया जायगा, युद्ध का दोष बर्मियो के मत्थे है।" अँगरेजी दूत आवा भी भेजे गये, पर कुछ तत्त्व न निकला। एक लाभ अवश्य हुआ, दरबार की बहुत सी बातो का पता लग गया और कई एक अफसर भी अपने पक्ष मे मिला लिये गये। रगून पीगू की राजधानी बनाया गया और वहा भी पंजाब की तरह शासन का प्रबन्ध किया गया। लार्ड डलहौजी स्वय वहा बार बार गया। पीगू पर अधिकार हो जाने से पूर्वीय देशो के लकडी और चावल का बहुत सा व्यापार अँगरेजो के हाथ मे आ गया। डकैतियो के रोकने, तार लगाने तथा सडके बनवाने का प्रबन्ध किया गया और शिक्षा के लिए कुछ स्कूल भी खोले गये।

देशी राज्यों का अपहरण—लार्ड आकलैंड के समय मे ही इँग्लैड के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञो ने यह निश्चित कर लिया था कि अवसर मिलने पर देशी राज्यो को छीन लेने से चूकना न चाहिए।[1] 'बोर्ड आफ कट्रोल' के अध्यक्ष हाबहाउस ने डलहौजी को भी इस नीति का इशारा कर दिया था।[2] इसी उद्देश्य से अब यह दिखलाने का प्रयत्न किया जा रहा था कि देशी राज्यो से भारत का कितना अहित हो रहा था। स्वय डलहौजी का मत था कि छोटे छोटे राज्यो से झगडो ही की अधिक सम्भावना है। उनका अन्त कर देने से सरकारी खजाने को भी लाभ होगा और उन राज्यो मे भी एक ही ढँग की शासन-व्यवस्था हो जायगी, जिससे वहाँ के लोगो का बडा हित होगा।[3] 'सुप्रीम कौंसिल' के एक मेम्बर की राय थी कि ब्रिटिश साम्राज्य के बीच बीच मे देशी

---

१ जान ब्रिग्ग, मेम्वॉयर, पृ० २७० । वसु, जि० ५, पृ० २१८ ।

२ ली-वार्नर, डलहौजी, जि० २, पृ० १५० ।

३ इडिया अडर डलहौजी एण्ड कैनिंग, पृ० २७ ।

राज्यो के होने से साधारण सुधार के कार्यों में बड़ी अड़चन पड़ती है। ब्रिटिश भारत में जितना देश है, उस पर शासनाधिकार हो जाने ही में जनता का सबसे अधिक हित है।[1] सेनापति नेपियर का कहना था कि एक भी देशी राजा को न छोड़ना चाहिए।[2] इस तरह देशी राज्यों के प्रति इँग्लेंड-सरकार, गवर्नर-जनरल और उसके सलाहकारों की नीति निश्चित थी। इसको काम में लाने के लिए एक विचित्र सिद्धान्त का सहारा लिया गया। पुत्र न होने पर हिन्दुओं में गोद लेने की प्रथा है। राजाओं को इसके लिए, जिस शक्ति के वे अधीन होते थे, उसकी आज्ञा लेनी पड़ती थी। यह एक साधारण नियम था। इसमें कोई विशेष अड़चन न डाली जाती थी और नजराना लेकर यह आज्ञा प्राय सभी राजाओं को दे दी जाती थी। अब इसका यह अर्थ लगाया गया कि गोद लेने की आज्ञा देना या न देना ब्रिटिश सरकार की इच्छा पर निर्भर है। यदि किसी राजा को यह आज्ञा नहीं मिली है, तो उसके मरने पर उसका राज्य सरकार की सम्पत्ति है। उसमें और किसी का हक नहीं है। एक साधारण नियम का यह मनमाना अर्थ था। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर सर जार्ज क्लार्क की राय में मुसलमानों या मराठों के शासनकाल में कोई राज्य इस तरह जब्त नहीं किया गया था।

सन् १८३४ में ही सचालकों ने यह निश्चित कर लिया था कि जहाँ तक सम्भव हो गोद लेने की आज्ञा न देनी चाहिए। सन् १८४१ में ब्रिटिश सरकार ने भी यह मत स्थिर कर लिया था कि ऐसे राज्य हाथ में आ जाने से छोड़ने न चाहिएँ। इसी के अनुसार कोलाबा और माडवी की रियासतें पहले ही जब्त हो चुकी थीं। अब डलहौजी ने अधीन राज्यों के सम्बन्ध में इसको अपना मुख्य सिद्धान्त मान लिया और कई एक हिन्दू राज्यों को जब्त कर लिया। उसकी राय में हिन्दू राज्यों की तीन श्रेणियाँ थीं। एक तो स्वाधीन राज्य, दूसरे ऐसे राज्य जो ब्रिटिश सरकार को मुगल सम्राट् या पेशवा के

---

[1] सतारा पेपर्स, सन १८०९, पृ० ८७।

[2] हंटर, डलहौजी (रूलर्स ऑफ इंडिया सिरीज) पृ० २७।

हित था। इसलिए इनके सम्बन्ध मे वह 'हस्तक्षेप न करने की नीति' का पक्का अनुयायी बन गया था। उसका स्पष्ट कहना था कि "स्वतन्त्र देशी राज्यो के पुनरुद्धार" का हमने बीडा नहीं उठाया है।[1] 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' के अध्यक्ष लार्ड ब्राउटन को पूरा विश्वास था कि "पाँच मिनट" का भी समय मिलने पर डलहौजी अवध और हैदराबाद के शासनो का, जो ब्रिटिश साम्राज्य को कलंकित कर रहे है, अन्त कर देगा।[2]

सतारा—लार्ड डलहौजी के भारतवर्ष पहुँचने के कुछ ही दिन बाद, दिसम्बर सन् १८४७ मे 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' की ओर से हाबहाउस उसको सतारा के विषय मे लिखता है कि "मैने सुना है कि राजा का स्वास्थ्य बहुत खराब हो रहा है। बहुत सम्भव है कि उसके राज्य के भाग्य का निर्णय हमे शीघ्र ही करना पडे। मेरी पक्की राय है कि बिना पुत्र के इस राजा के मरने पर गोद लेने की आज्ञा न दी जाय और यह छोटा राज्य ब्रिटिश साम्राज्य मे मिला लिया जाय। यदि मेरी अध्यक्षता मे यह प्रश्न आया, तो मै ऐसा ही करने के लिए कोई बात उठा न रखूँगा।"[3] सन् १८४८ मे राजा के मरने पर उसका राज्य ले लिया गया। मरते समय उसने जिस लडके को गोद लिया था, उसका राज्य पर कोई अधिकार न माना गया। लार्ड डलहौजी लिखता है कि सन् १८१६ में इस राज्य को स्थापित करने की भले ही आवश्यकता रही हो, पर अब मराठों का भय न होने से, इसके रखने की कोई जरूरत नहीं थी। यह 'जिला बहुत उपजाऊ है और आमदनी भी बढनेवाली' है। इसको ले लेने से हमारे सैनिक प्रबन्ध तथा शासन मे सुगमता हो जायगी और आमदनी भी बढ जायगी।

सन् १८१६ मे सतारा के राजा के साथ जो सन्धि हुई थी, उसमे स्पष्ट कहा गया था कि उसके "वारिसो तथा उत्तराधिकारियो" का राज्य पर "बराबर

---

[1] ब्रिग्ज, हिस्ट्री ऑफ डेकन, जि० २, पृ० २०३।

[2] ली-वार्नर, डलहौजी, जि० २, पृ० ३१५।

[3] वही, पृ० १७८।

कब्जा" बना रहेगा। बम्बई के गवर्नर सर जार्ज क्लार्क का मत था कि ऐसी दशा में राज्य को जब्त करना किसी तरह उचित न था। रेजीडेंट फ्रेरे का कहना था कि किसी अदालत के सामने राजा के वारिस अपना हक साबित कर सकते थे। सतारा का शासन भी ऐसा बुरा न था। प्रतापसिंह के समय में तो राज्य की बड़ी अच्छी दशा थी। परन्तु दो लाख पौंड साल की आमदनी के सामने इन सब बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। अर्नाल्ड लिखता है कि सरकार के मत्थे पर कलंक का यह ऐसा टीका लगा, जो कभी मिट नहीं सकता।

नागपुर—दिसम्बर सन १८५३ में नागपुर के राजा की मृत्यु हो गई। उसके भी कोई सन्तान न थी, इसलिए उसका भी राज्य ले लिया गया। नागपुर के राज्य का वही पद था, जो सिन्धिया और होलकर के राज्यों का था। परन्तु इसके उत्तर में कहा गया कि अप्पा साहब के भागने पर राज्य अंगरेजों के हाथ में आ गया था और उन्होंने अपनी तरफ़ से राजा को गद्दी पर बिठलाया था। सन् १८२६ की सन्धि से राज्य "ब्रिटिश सरकार की दया पर" निर्भर था और "महाराजा की मसनद जिसे चाहे देने" का उसे अधिकार था। ऐसी दशा में नागपुर की भी गणना अधीन राज्यों में थी। विधवा रानी ने एक बालक गोद लिया था, उसका कोई हक न माना गया। कहा गया कि पिछले राजा ने बड़ा अत्याचार किया था। वह "न्याय को बेचनेवाला, शराबी और व्यसनी" था, फिर ब्रिटिश सरकार को यह कैसे विश्वास हो सकता था कि नया राजा उसी की नक़ल नहीं करेगा? नागपुर की प्रजा के हित की दृष्टि से सरकार इस अवसर को छोड़ नहीं सकती।

वास्तव में मुख्य कारण, जैसा कि लीवार्नर ने लिखा है, नागपुर का भौगोलिक और राजनैतिक महत्व था। डलहौजी का ध्यान था कि इस राज्य को मिला लेने से ८० हजार वर्ग मील भूमि पर अधिकार हो जायगा, ४० लाख रुपये साल की आमदनी बढ़ जायगी और इधर उधर का राज्य एक में मिल जायगा। कलकत्ता से बम्बई जाने के लिए मार्ग भी साफ हो जायगा। इस तरह "नागपुर पर अधिकार हो जाने से हमारी सैनिक शक्ति एक में मिल

जायगी, हमारे व्यापार का क्षेत्र बढ़ जायगा और हमारा शासन भी अच्छी तरह दृढ़ हो जायगा।"[1] इँग्लेंड-सरकार का भी यही मत था और डलहौजी को बराबर इसके सम्बन्ध में लिखा जा रहा था। राज्य का अन्त हो जाने पर दरबार की सब सम्पत्ति नीलाम कर दी गई। सर जान के का कहना है कि सामान लेने में रानियों के साथ बहुत ज्यादती की गई। नीलाम की कुछ आमदनी से भोसला परिवार की रक्षा के लिए एक 'भोसलाफंड' खोल दिया गया। इसमें सरकार की कोई उदारता नहीं थी। उस सम्पत्ति पर तो भोसला के कुटुम्बियों का सब तरह से अधिकार ही था।

भोंसला-शासन—तत्कालीन अन्य राज्यों के शासन की तरह भोसलाओं के शासन में भी बहुत से दोष थे। पर तब भी राज्य की दशा ऐसी शोचनीय न थी, जैसी कि बतलाई जाती है। यह बात रिचर्ड जेंकिस के, जो बहुत दिनों तक नागपुर दरबार में रेजीडेंट रहा था, दिये हुए विवरण से स्पष्ट है। वह लिखता है कि जानोजी भोसला के समय में न्याय ठीक ढँग से होता था। फौजदारी अपराध बहुत कम होते थे और प्राणदंड शायद ही कभी दिया जाता था। राज्य की आमदनी खूब थी और प्रजा सुख से रहती थी। सेना और बड़े अफसरों का वेतन ठीक समय से बिना कुछ घटाये हुए दिया जाता था। राजा उनको अपने बराबर समझता था और दरबार में कभी कभी वह स्वयं उठकर मिलता था। राघोजी के समय में 'मजुमदार' या दीवान राज्य का सबसे मुख्य अफसर होता था। उसके फटनवीस के हाथ में कुल हिसाब-किताब और दफ्तर रहता था। नगर के बड़े बड़े साहूकारों को भी दरबार में स्थान दिया जाता था और समय समय पर उनसे सलाह ली जाती थी। उनमें से एक 'नगर-नायक' होता था, जो व्यापार का निरीक्षण करता था और राज्य के लिए आवश्यकता होने पर ऋण का प्रबन्ध करता था।

यहाँ भी दक्षिण की तरह हर एक गाँव में एक पटेल रहता था, जिसके नीचे गाँव के अन्य कर्मचारी काम करते थे। लगान के अतिरिक्त भी बहुत

[1] आर्नल्ड, डलहौजी, जि० २, पृ० १७८-७९।

से कर लिये जाते थे। पटेलों पर निगरानी रखने के लिए सूबेदार लोग दौरा करते थे। पटेलों को न्याय और पुलिस के भी कुछ अधिकार रहते थे। दीवानी मामले पचायतों द्वारा तय किये जाते थे। पचों को चुनने में जाति-पाँति का भेद न माना जाता था। प्राय योग्य और प्रतिष्ठित लोग ही चुने जाते थे। बडी बडी पचायतों में कुल कार्यवाही लिखी जाती थी। गवाहों का बडा ध्यान रखा जाता था और किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होने पाता था। फौजदारी की अन्तिम अपील राजदरबार में होती थी। स्त्रियों और ब्राह्मणों को प्राण-दंड नहीं दिया जाता था। सन् १७९२ तक राज्य की अच्छी दशा थी। वेलेजली के मराठा-युद्ध के बाद से कुछ अत्याचार अवश्य प्रारम्भ हो गया था।

हर एक जिले में वहाँ के लिए काफी कपडा बनता था। नागपुर में बुनाई का अच्छा काम होता था। बगाल के ढँग के डोरिया और चारखाने बनाये जाते थे। सन् १८०३ में राघोजी ने बहुत से जुलाहों को जैनाबाद और बरहानपुर से लाकर बसाया था। सबसे अधिक खादी बनती थी, जो तम्बू, कनात और साधारण आदमियों के पहनने के काम में आती थी। बारह आने से लेकर तीन रुपये तक का एक थान बिकता था। सन् १८०३ तक यह खादी बरार होकर बम्बई और अरब तक जाती थी। धोतिया, साडी, लुगी और रुमाल भी बहुत बनते थे। सन् १८१७ से कपडे का बनना मन्दा पड गया। सेनाओं के तोड देने से कपडे की खपत कम हो गई। साल में १८ लाख रुपये का कपडा केवल पूना जाता था। पेशवा का दरबार नष्ट हो जाने से यह बन्द हो गया, पर तब भी बाजीराव के खर्च के लिए कपडा बराबर बिठूर जाता रहा। हुडी-पर्चे का काम मारवाडियों के हाथ में था, जो जेंकिंस के शब्दों में "बडे बुद्धिमान्, व्यापारचतुर और ईमानदार होते हैं।" शिक्षा का प्रचार ब्राह्मणों में अधिक था। गुलामी की कम चाल थी। हर एक चीज का भाव सस्ता था। घी रुपये का तीन चार सेर, आटा ३७ सेर और चावल २५ सेर बिकता था।[1] यदि सन् १८२७ तक, जब का यह विवरण है, ऐसी दशा थी, तो फिर

---

१ जेंकिंस, रिपोर्ट आन दि टेरीटोरीज ऑफ दि राजा ऑफ नागपुर, सन् १८२७।

पचीस ही वर्ष में कौन सा और क्यों ऐसा परिवर्तन हो गया, जिसके कारण डल-हौजी को प्रजा पर दया करके नागपुर कम्पनी के राज्य में मिला लेना पड़ा ?

नागपुर की गई-बीती अवस्था में भी अन्तिम रेजीडेंट मैन्सेल को मानना पड़ा है कि शासन के सिद्धान्त चाहे जो कुछ हो, राज्य की दशा अच्छी थी।[1] सर रिचर्ड टेम्पल भी, जो बाद को चीफ कमिश्नर हुआ, लिखता है कि भोंसला घराने के मराठा राजाओं द्वारा नागपुर के शासन के बारे में मेरा अच्छा ख्याल है। उसमें कई एक अच्छी बातें थीं।[2]

झाँसी—यह मराठों के अधीन थी और यहाँ का शासक पेशवा का सूबेदार कहलाता था। सन् १८१७ में पेशवा का राज्य नष्ट होने पर सूबेदार रामचन्द्रराव ने ब्रिटिश सरकार की अधीनता स्वीकार कर ली। सन् १८३२ में उसको राजा की उपाधि दी गई। सन् १८३५ में उसकी मृत्यु होने पर उसका चचा गद्दी पर बिठला दिया गया। जिस लड़के को उसने गोद लिया था, उसका हक न माना गया। कारण यह था कि गद्दी के लिए चार हकदार लड़-भिड़ रहे थे। गोद लेने के सम्बन्ध में भी बहुतों को सन्देह था। इसी लिए जो सबसे योग्य समझा गया और जिसका पक्ष सबसे प्रबल था, वही गद्दी का अधिकारी मान लिया गया। सन् १८५३ में जो राजा मर गया, उसके भी कोई सन्तान नहीं थी। मरने के एक दिन पहले उसने एक बालक को गोद लिया था। लार्ड डलहौजी ने उसको नहीं माना और रानी को पेंशन देकर झाँसी का राज्य जब्त कर लिया गया। डलहौजी का कहना था कि झाँसी तीसरे दर्जे का राज्य था। दत्तक पुत्र का अधिकार न मानने का सन् १८३५ का प्रमाण मौजूद था और वहाँ के राजा किसी योग्य न थे। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि झाँसी अँगरेजों की दी हुई जागीर न थी। उस पर रामचन्द्रराव तथा उसके "वारिसों" का अधिकार उन्होंने "सदा के लिए" मान लिया था। सन् १८३५ में गोद लेने का अधिकार था या नहीं,

---

[1] बरार पेपर्स, सन् १८५८, पृ० २६।

[2] ब्रिटिश एंड नेटिव सिस्टम्स, सन १८६८, पृ० ६९।

इस पर कोई विचार नहीं किया गया था। जिसका पक्ष सबसे प्रबल था, वही राजा मान लिया गया था। वहा के शासन से प्रजा सन्तुष्ट थी। राज्य का काम चलाने के लिए रानी "सर्वथा योग्य" थी।[1] परन्तु झांसी का राज्य "ब्रिटिश जिलो के बीच मे" था, इसलिए डलहौजी की राय मे इस पर अधिकार कर लेना ही "नीतियुक्त" था।

निज़ाम और बरार—सहायक सेना के अतिरिक्त निजाम को ४० लाख रुपया साल के खर्च से एक दूसरी सेना रखनी पड़ती थी, इसका उल्लेख किया जा चुका है। किसी सन्धि के अनुसार शान्ति के समय मे इस सेना का रखना आवश्यक न था। पर तब भी यह सेना तोडी न जाती थी। इसका परिणाम यह हो रहा था कि निजाम पर सरकारी कर्ज बढ रहा था। लार्ड हेस्टिंग्ज के शब्दो मे "यह सेना, जो वेतन देता था, उसकी अपेक्षा अपनी थी।' रेजीडेंट फ्रेजर की राय मे, इस सेना का रखना "अपने लिए वैसा ही लज्जाजनक था, जैसा कि निजाम के लिए हानिकारक।" रेजीडेंट लो इसको "निष्ठुरता" समझता था, जिसके कारण निजाम का खजाना खाली हो रहा था। उसका कहना था कि जिस सेना का खर्च हम बराबर २८ वर्ष से ले रहे हैं, किसी सन्धि के अनुसार, उसका निजाम से "एक रुपया" भी लेने का "हमे अधिकार नहीं है।" सन् १८४८ मे डलहौजी ने भी स्वीकार किया कि इस मामले मे ब्रिटिश सरकार निर्दोष नहीं है।[2]

इतने पर भी यह सेना घटाई नहीं गई। उलटे कुल कर्ज, जो बढते बढते ६४ लाख तक पहुँच गया था, फौरन अदा करने के लिए निजाम को बडी तीव्र भाषा मे लिखा गया और कहा गया कि भारत-सरकार की "शक्ति तुम्हे जब चाहे पदढलित कर सकती है"। बेचारे निजाम ने अपने जवाहरात गिरवी रखकर जैसे तैसे पहली किस्त अदा की। बाकी जवाहरात को वह एक बैंक मे, जो इसी के लिए कायम किया गया था, बन्धक रखकर ४० लाख रुपया लेना चाहता था, पर गवर्नर-जनरल की आज्ञा से वह बैंक तोड दिया गया।

१ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० १, पृ० ५६-५७।

२ ब्रिग्स, हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, जि० २, पृ० १९५-९७।

आबकारी के हिसाब में निजाम का ४० लाख रुपया अंगरेजों के पास निकलता था। वह भी मुजरा नहीं किया गया और निजाम से कुल रुपये की अदाई के लिए राज्य का कुछ भाग दे देने के लिए कहा गया। गवर्नर-जनरल की इस ज्यादती के कारण रेजीडेंट फ्रेजर का रहना मुश्किल हो गया। निजाम और उसके वजीर के आनाकानी करने पर सैनिक बल के प्रयोग की धमकी दी गई और सन् १८५३ में एक सन्धिपत्र पर, जिसके अनुसार बरार अँगरेजों के पास बन्धक रख दिया गया, निजाम के हस्ताक्षर करा लिये गये।[१]

डलहौजी की राय में निजाम के साथ बड़ी "उदारता और नम्रता" का व्यवहार किया गया। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की "ईमानदारी" और "क्षमता" में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इस प्रबन्ध से 'बोर्ड आफ कंट्रोल' के अध्यक्ष चार्ल्स वुड को भी बड़ी प्रसन्नता हुई। उसकी राय में यदि कोई भूल हुई तो इतनी ही कि निजाम को कुल हिसाब समझाने और बचत वापस कर देने का वचन दे दिया गया।[२] बरार रुई की खेती के लिए प्रसिद्ध है। यह निजाम को फिर कभी वापस न किया गया। बरार और नागपुर ले लेने के सम्बन्ध में एक अंगरेज ने ठीक कहा था कि "इन दिनों न्याय के कान में रुई ठुसी थी।"

अवध राज्य का अन्त—मुहम्मदअली के मरने पर उसके लड़के अमजदअली ने पाँच वर्ष तक राज्य किया। उसमें शासन की विशेष योग्यता न थी, पर तब भी ७७ हजार रुपया साल के खर्चे से रेजीडेंट की निगरानी में सीमा पर की पुलिस ठीक की गई। सिक्ख-युद्ध के समय पर उसने भी ब्रिटिश सरकार की बड़ी सहायता की। उसके बाद सन् १८४७ में वाजिद-अली शाह गद्दी पर बैठा। दो वर्ष में शासन ठीक करने के लिए उसको चेतावनी दी गई। इस पर सन् १८४८ में रेजीडेंट तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त के लफ्टिनेंट-गवर्नर की राय से अवध के कुछ सरहद्दी जिलों में ब्रिटिश शासन-

१ ब्रिग्स, हिस्ट्री ऑफ दि डेक्कन, जि० , पृ० २०६—[illegible]।

२ लोगानर, जि० २, पृ० १८२ ।

व्यवस्था चलाने के लिए एक योजना तैयार की गई। परन्तु कलकत्ता से उसके लिए मंजूरी नहीं मिली। वहां तो कुछ और ही तैयारियां हो रही थीं। डलहौजी ने पहले ही से यह राय कायम कर ली थी कि अवध के शासन में सुधार होने की सम्भावना नहीं है। वहां "बहुत कुछ परिवर्तन करने पड़ेंगे।"[१] अवध के सम्बन्ध में ता० ३० जुलाई सन् १८५१ के एक पत्र में वह लिखता है कि यह फल किसी दिन हमारे मुँह में अवश्य गिरेगा। यह बहुत दिनों से पक रहा है। परन्तु इस समय राज्यों के जब्त करने के विरुद्ध कुछ आन्दोलन हो रहा है। इसके अतिरिक्त कम्पनी के आज्ञापत्र
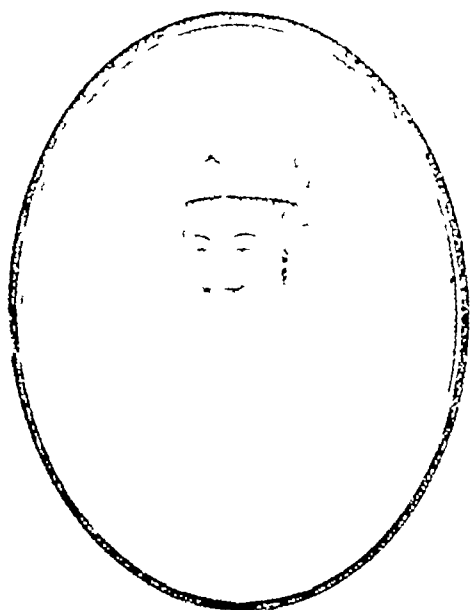
वाजिदअली शाह

पर विचार करनेवाली कमेटी भी बैठनेवाली है। इसी लिए, मेरी राय में, पेड़ को हिलाकर इस फल का गिराना संचालकों को पसन्द न आयगा।[२] ता० २१ अक्तूबर सन् १८५३ के पत्र में 'बोर्ड आफ कंट्रोल' का अध्यक्ष चार्ल्स वुड लिखता है कि यदि पीगू छीनने की आवश्यकता न पड़ी होती, तो मुझे अवध के ले लेने में कुछ भी संकोच न होता। हाल में या कुछ दिनों बाद वह तो हमें लेना ही पड़ेगा। "प्रश्न केवल समय, अवसर और बहाने का है।"

---

[१] डकॉयटी इन एक्सेल्सिस, पृ० १०२—११।

[२] डलहौजी, प्राइवेट लेटर्स, पृ० ६०।

इन दिनों "हड़प करने की प्रवृत्ति" का दिखलाना बहुत वांछित नहीं जान पड़ता है। इसलिए "अपनी जागीर" पर अधिकार करने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ।[1] इन वाक्यों से अवध के प्रति गवर्नर-जनरल तथा इँग्लेंड-सरकार के जो भाव थे, स्पष्ट है। इसके जब्त करने में कमी केवल दो बातों की थी। एक तो बहाना और दूसरे इँग्लेंड की जनता का समर्थन।

सन् १८५३ में कम्पनी के शासन की जांच समाप्त हो गई और इसको नया आज्ञापत्र मिल गया। इसलिए इँग्लेंड के लोकमत का अधिक भय न रहा, अब केवल बहाने की बात रह गई। शासन ठीक न होने का बहाना बना बनाया था। इसके लिए अवध के शासकों को प्रत्येक गवर्नर-जनरल बराबर चेतावनी देता आ रहा था। हाल ही में रेजीडेंट स्लीमेन का दौरा समाप्त हुआ था। प्रजा कैसी पीड़ित थी, उस पर कैसे कैसे अत्याचार हो रहे थे, इसका उसने जो वर्णन किया था, उससे बढ़कर अवध के शासन की तीव्र आलोचना क्या हो सकती थी? यदि वास्तव में ये सब बातें ठीक थीं, तो भी यह प्रश्न होता है कि उन सबको दूर करने का क्या एक मात्र उपाय अवध का अँगरेजी राज्य में मिला लेना ही था? स्वयं स्लीमेन इसको मानने के लिए तयार न था। उसकी राय में शासन का भार एक बोर्ड के हाथ में दे देने से काम चल सकता था। इसमें शाह को भी आपत्ति नहीं थी। सर हेनरी लॉरेंस का भी ऐसा ही मत था। उसका कहना था कि शासन के दोषों को दूर करने की "औषध हमारे हाथ में है।" यदि "कोई अपना धन नष्ट करता है, या प्रजा को पीड़ा पहुँचाता है, तो भी उसको लूट लेने का हमें अधिकार नहीं है। उसका धन बिना अपनी जेब में रखे हुए हम प्रजा की रक्षा और सहायता कर सकते हैं। यदि हमें अवध की चिन्ता है, तो जहाँ तक सम्भव हो शासन वहाँ के निवासियों ही के हाथ में छोड़ देना चाहिए और वहाँ का एक रुपया भी कम्पनी के खजाने में न लेना चाहिए।[2]

---

[1] लीवानर, डलहौजी जि० २, पृ० ३१६।

[2] हेनरी लॉरेंस, एसेज़ पृ० १२०—३०।

सन् १८३७ की सन्धि से डलहौज़ी ऐसा प्रबन्ध कर सकता था। परन्तु इसके अनुसार बादशाह को सारा हिसाब समझाना पड़ता और शासन ठीक हो जाने पर अवध वापस कर देना पड़ता। शायद इसी लिए उसका कहना था कि यह सन्धि रद्द हो गई। इसको संचालकों ने मंजूर नहीं किया था, यह बात ठीक है। परन्तु अवध के बादशाह को इसकी सूचना कभी नहीं दी गई थी। बाद में लार्ड हार्डिंज ने इसी सन्धि पर जोर दिया था। ऐसी दशा में यह सन्धि रद्द नहीं मानी जा सकती थी।[1] परन्तु डलहौज़ी का उद्देश्य ही दूसरा था। इसी लिए वह सन् १८०१ की सन्धि पर जोर दे रहा था, जिससे नवाब को यह वचन दिया गया था कि अवध का "शासन उसके अफसरों द्वारा होगा।" डलहौज़ी का कहना था कि ऐसी दशा में हस्तक्षेप कैसे किया जा सकता था? पर वास्तव में अवध में कई एक अँगरेज अफसर इस समय भी काम कर रहे थे। हेनरी लारेंस लिखता है कि छोटी छोटी बातों में बराबर हस्तक्षेप किया जाता था, पर जब कोई महत्त्व का प्रश्न आ जाता था, तब अवश्य हाथ खींच लिया जाता था। अवध की दशा बिगड़ने देने ही में ब्रिटिश सरकार का काम बनता था, इसी लिए उसके सुधारने की कोई चेष्टा नहीं की जा रही थी। केवल धमकियाँ दी जा रही थीं।

गवर्नर-जनरल की ज्यादती के कारण स्लीमैन को लखनऊ छोड़ना पड़ा। उसका कहना था कि डलहौज़ी और उसके सलाहकार इन दिनों अवध को अँगरेजी राज्य में मिला लेने के पक्ष में हैं, जिसका परिणाम यह होगा कि वहाँ मध्य तथा उच्च श्रेणी के लोग नष्ट हो जायँगे। उनकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए। ऐसा न करने का परिणाम हमारे ही लिए भयंकर होगा। "हड़प करने की नीति" से देशवासियों में भय के भाव दिखलाई दे रहे हैं। आन्दोलनकारियों के लिए यह अच्छा अवसर मिल रहा है। मैं सन्धियों का पूर्ण रूप से पालन चाहता हूँ। चाहे वे काले मुखवालों से की गई हों या गोरे मुखवालों से। अवध को

---

१ डकॉयटी इन एक्सेल्सिस, पृ० १९२–९० ।

जब्त करने का हमे कोई अधिकार नहीं है। ऐसा करना " 'बेईमानी और लज्जा' की बात होगी। यदि हम प्रजा को बराबर कसते जायेंगे, तो उस पर जैसा कुछ शासन हो रहा है, उससे अच्छा न होगा।[1] "यदि हम अवध या उसके किसी भी भाग को छीन लेंगे, तो भारतवर्ष मे हमारे नाम पर, जिसका मूल्य दर्जनों अवध से अधिक है, धब्बा लगेगा।"[2]

परन्तु डलहौजी की राय निश्चित थी। उसने एक चाल सोच रखी थी। पेंशन स्वीकार करके कुल शासन अँगरेजो के हाथ मे दे देने के लिए वह वाजिदअली से प्रस्ताव करना चाहता था। उसने सोचा था कि यदि यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया, तब तो कोई बात ही नहीं है। पर यदि ऐसा न किया गया तो वह अवध के साथ सब सम्बन्ध तोड देगा और वहाँ से सेना तथा अफसरों को हटा लेगा। इसका परिणाम यह होगा कि अवध भर मे उपद्रव मच जायगा और अगरेजो से छेड-छाड होने लगेगी। तब फिर अवध पर आक्रमण करके भी उसको छीन लेने मे किसी को आपत्ति न होगी।[3] उसका कहना था कि सन् १८०१ की सन्धि के अनुसार अवध के शासन मे कोई सुधार नहीं किया गया था। इसलिए उसके साथ सम्बन्ध तोड देने मे कोई दोष न था। इस सन्धि पर अधिक जोर देने का यही मुख्य कारण था। नाम मात्र के शासको को मानने से कोई लाभ नहीं है, यह लार्ड डलहौजी का सिद्धान्त था। पर अब वह स्वय इससे हट रहा था। अगरेज इतिहासकारो का कहना है कि इसी से अवध के शाही घराने के प्रति उसकी सहानुभूति प्रकट हो रही है। परन्तु वास्तव मे वह केवल एक "बहाना' ढूँढ रहा था। यदि सचमुच उसकी सहानुभूति होती, तो स्लीमैन तथा हनरी लारेंस की राय मानकर केवल शासन-व्यवस्था ठीक कर दी गई होती और अवध की आमदनी कम्पनी की जेब में न रखी जाती।

---

[1] स्लीमैन, अवध, जि० १, भूमिका, पृ० २१-२२।

[2] वही, जि० २, पृ० ३७०।

[3] लाबार्नर डलहौजी, पृ० ३२३।

इस चाल के चलने का काम नये रेजीडेंट आउट्रम को सौंपा गया। चुपके चुपके सब सैनिक प्रबन्ध कर लिया गया, हनुमान गढ़ी के उपद्रव को शान्त करने के बहाने सेना एकत्र कर ली गई और अधिकार मिल जाने पर कौन कौन अफसर कहाँ रहेगा, यह सब भी तय कर लिया गया। इतने ही में इँगलेंड से भी जैसा उचित जान पड़े वैसा करने के लिए मजूरी आ गई। अब किसी प्रकार की बाधा न रही। फरवरी सन् १८५६ में, सैनिक बल प्रयोग करने की धमकी देने पर भी वाजिदअली शाह ने अपमान-जनक सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। इस पर एक घोषणा द्वारा अवध अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया और वाजिदअली शाह को पेंशन दे दी गई। थोड़े दिनों बाद वह कलकत्ता भेज दिया गया। इस तरह अवध अँगरेजों के हाथ में आ गया। लार्ड डलहौजी अपनी डायरी में लिखता है कि अवध के ऐसे शासन को, जिससे करोड़ों आदमियों को पीड़ा पहुँच रही थी, कुछ काल अधिक बनाये रखने में सहायता देने से ईश्वर और मनुष्य की दृष्टि में ब्रिटिश सरकार दोषी ठहराई जाती। इस भाव को हृदय में लेकर और परम शक्तिशाली ईश्वर की अनुकम्पा पर विश्वास रखकर मैंने इस कर्तव्य को, बड़े सोच-विचार तथा सहानुभूति, परन्तु शान्ति और बिना किसी सन्देह के साथ किया।[1]

नवाबी शासन—शुजाउद्दौला के समय में देश की जैसी कुछ दशा थी, दिखलाई जा चुकी है। आसफुद्दौला के समय से अँगरेजों का हस्तक्षेप बढ़ने लगा, वैसे ही दशा भी बिगड़ने लगी। सन् १७८४ में इसको वारेन हेस्टिंग्ज ने भी माना है। सादतअली के समय में दशा फिर कुछ सुधरी। सन् १८१८ में लार्ड हेस्टिंग्ज गाज़ीउद्दीन को विश्वास दिलाता है कि खेती की अच्छी दशा, जनसंख्या की वृद्धि और प्रजा का "सुख तथा आराम" देखकर बड़ा सन्तोष हो रहा है। सन् १८२४ में हेबर लिखता है कि अवध की आबादी और खेती की अच्छी दशा देखकर

---

१ हटर, डलहौजी (रूलर्स ऑफ इंडिया सिरीज) पृ० १७६।

आश्चर्य हो रहा था।[1] सन् १८३६ में आकलेंड मुहम्मदअली शाह को लिखता है कि "जब से आप गद्दी पर बैठे हैं, पिछली दशा को देखते हुए राज्य में बहुत कुछ सुधार हुआ है।" सर हेनरी लारेंस का कहना है कि अवध के शासकों से जैसी कुछ आशा थी, उससे वे कहीं अच्छे थे। वे कभी कभी क्रूर अवश्य पर झूठे कभी नहीं हुए।

'हुज़ूर तहसील' को छोड़कर अवध का राज्य बहुत से इलाक़ों और चकलों में बँटा हुआ था। यहाँ के तालुक़ेदार और जमीन्दार बहुत कुछ स्वतन्त्र थे। वे प्राय आपस में लड़ा करते थे और सब तरह से अपनी रियासतें बढ़ाने का प्रयत्न किया करते थे। उनसे सरकारी मालगुजारी वसूल करना मुश्किल हो जाता था। परन्तु प्रजा के साथ इनमें से बहुतों का व्यवहार अच्छा था। इसको स्लीमेन ने भी माना है। शाहगंज के विषय में वह लिखता है कि यहाँ "काश्तकार धनी तथा सन्तुष्ट हैं।" उनको कभी धोखा नहीं दिया जाता है। चोर, डाकू, उद्दंड पड़ोसी और सबसे अधिक 'शाही फ़ौज' से उनकी रक्षा की जाती है। गाँवों में अच्छे अच्छे किसानों को बसाने का प्रयत्न किया जाता है। हर एक गाँव में झोपड़ों के सामने फुलवाड़ी है। देश एक "हरा-भरा बगीचा" सा जान पड़ता है। सरहद्दी झगड़े पटवारी और कानूनगो की सहायता से पंचायतों द्वारा निपटा लिये जाते हैं। छोटे बड़े सभी किसानों को जो वचन दिया जाता है, उसका जमीन्दार पालन करते हैं और किसान भी अपना लगान बराबर देते हैं। दुर्भिक्ष या किसी आपत्ति के समय में उनके साथ ख़ास रियायत की जाती है।[2] इस तरह नवाबी शासन ठीक न होने पर भी अवध के कई भागों में प्रजा का पालन होता था।

सन् १८३१ में यात्रा करनेवाली एक महिला लिखती है कि अवध की प्रजा ब्रिटिश शासन के सुख में भाग लेने के लिए किसी तरह राज़ी नहीं है। कम्पनी के राज्य में रहनेवालों से अवध-निवासी कहीं अधिक धनी, मोटे और

१ हबर, जर्नल, जि० २, पृ० ४९।

२ स्लीमेन, अवध, जि० १, पृ० १५०-६८।

प्रसन्नचित्त है।[1] स्लीमैन लिखता है कि सन् १८०१ में अवध का जो भाग ले लिया गया था, उसमें जमींन्दार और रईसों की श्रेणी नष्ट कर दी गई थी। उनकी आमदनी का बहुत सा हिस्सा हर नये बन्दोबस्त में ले लिया जाता था। अत्याचार, मारपीट और लड़ाई-झगड़े होने पर भी अवधनिवासी अँगरेजी जिलों मे रहना पसन्द न करते थे। हमारी अदालतों के कानून-कायदों, न्याय करनेवालों के "घमड और बेपरवाही" तथा वकीलों के "लालच और गुस्ताखी" से वे बहुत डरते थे।[2] एडवर्ड्स लिखता है कि "जब हमने अवध लिया वह धनी, आबाद और व्यापारी देश था। इन बातों में हमारे साम्राज्य के बहुत से भागों से उसकी अच्छी तरह तुलना की जा सकती थी।"[3]

यदि अवध में जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित न होने तथा शासकों के अत्याचार के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा गया है, उसमे अधिकाश सत्य भी हो, तो उसके लिए अँगरेज ही अधिक जिम्मेदार कहे जा सकते हैं। सेना उनके हाथ मे थी, वे शासन की हर एक बात मे हस्तक्षेप करते थे। देश-रक्षा की जिम्मेदारी से अलग होकर भोग-विलास में समय बिताना नवाबों के लिए स्वाभाविक था। यदि वे कभी सुधार की चेष्टा भी करते थे, तो उसमें भी अड़चनें डाली जाती थीं। हेनरी लारेंस की राय मे जैसी कुछ व्यवस्था थी उसमें कोई वजीर अपने स्वामी और रेजीडेंट को एक साथ प्रसन्न न रख सकता था और ऐसे रेजीडेंट का मिलना मुश्किल था, जो केवल "प्रजा और राजा के हित" का ध्यान रखकर निरर्थक हस्तक्षेप से अपने को अलग रखता। इसी लिए शासन मे बड़ी बाधाएँ पड़ती थीं।

मुग़ल बादशाह—लार्ड डलहौजी की राय मे नाम मात्र के नवाब और राजाओं को रखने की कोई आवश्यकता न थी। सब शक्ति छीनकर बड़े बड़े नाम देना उनकी हँसी उड़ाना था। इनमे सबसे मुख्य दिल्ली का

---

1 मिसेज फेन पाक, वाडरिंग्स आफ ए पिलग्रिम।

2 स्लीमैन, अवध, जि० १, पृ० १६८-६९।

3 एडवर्ड्स, हेनरी लारेंस, जि० २, पृ० २८०।

बादशाह था। लार्ड डलहौजी बहादुरशाह के मरने के बाद से तमूर के घराने से सम्राट् की उपाधि को हटा देना चाहता था। परन्तु उसकी इस बात को सचालकों ने स्वीकार नहीं किया। बहादुरशाह अपनी छोटी बेगम जीनतमहल के लडके को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। परन्तु डलहौजी ने एक बडे लडके को उत्तराधिकारी मान लिया और उससे यह वादा करा लिया कि बहादुरशाह के मरने पर दिल्ली का महल खाली कर दिया जायगा। रसल लिखता है कि शाही घराने के लोग नजरबन्द से जा रहे थे। न उनकी पूरी आर्थिक सहायता की जाती थी और न उन्हें सरकारी नौकरियां ही दी जाती थीं। उनके लिए "उचित महत्त्वाकांक्षा" का दर्वाजा बन्द था। ऐसी दशा में जब उनका समय "आलस्य, नीचता तथा भोग-विलास" में व्यतीत होता था, तब उनकी निन्दा की जाती थी और यह दिखलाया जाता था कि वे कितने पतित हैं।[१]
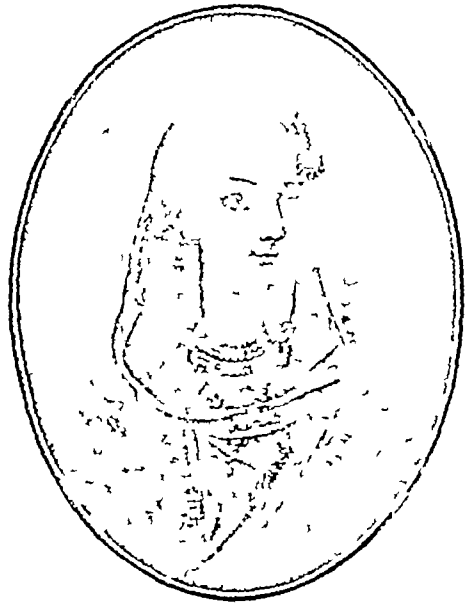
जीनतमहल

अन्य नवाब और राजा—कर्नाटक के नवाब का राज्य पहले ही छीन लिया गया था। सन् १८५५ में मुहम्मदगौस के मरने पर उसके उत्तराधिकारी को नवाब की उपाधि नहीं दी गई और पेंशन भी घटा दी गई। कहा गया कि सन १८०१ की सन्धि तत्कालीन नवाब के साथ व्यक्तिगत सन्धि था। उसमें उसके उत्तराधिकारियों का कोई उल्लेख न था। यदि ऐसा ही था तो उसके बाद दो और नवाब क्यों माने गये? इसके उत्तर में कहा

१ रसल, माइ डायरी इन इंडिया, १८५८-५९, जि० २, पृ० ५१।

गया कि तब बात दूसरी थी, अब उस नीति से काम लेने की आवश्यकता न थी।[1] इन दिनों नवाब के वंशज 'अर्काट के शाहजादे' कहलाते हैं। सन १८५४ में तंजोर के राजा शिवाजी की मृत्यु हो गई। उसके केवल दो लड़कियां थीं। उसका कोई वारिस न माना गया, पेंशन बन्द कर दी गई और कुटुम्ब के गुजारा का प्रबन्ध कर दिया गया। रानियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया गया, उनकी निजी सम्पत्ति भी छीन ली गई, परन्तु यह डलहौज़ी के चले जाने के बाद की बात है। तंजोर के राजाओं ने हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह किया था। यह तंजोर में अब भी मौजूद है। सन् १८५१ में पेशवा बाजीराव के मरने पर, उसको ८ लाख रुपये साल की जो पेंशन दी जाती थी, बन्द कर दी गई और नाना साहब को, जिसे उसने गोद लिया था, केवल बिठूर की जागीर दी गई। कहा गया कि पेंशन व्यक्तिगत थी, इसके अतिरिक्त बाजीराव बहुत सा धन छोड़ गया है। नाना साहब ने एक प्रार्थनापत्र इँग्लैंड भेजा, जिसमें उसने दिखलाया कि यह पेंशन राज्य छीनने के बदले में दी गई थी। धन एकत्र हो जाने से पेंशन का हक नहीं मारा जाता। पर वहां से भी कोरा जवाब मिला।

काबुल और क़िलात—पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा करने के लिए अफ़गानिस्तान के अमीर दोस्तमुहम्मद से मित्रता की सन्धि कर ली गई, जिसमें दोनों ने एक दूसरे के राज्य में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। बिलोचिस्तान की तरफ़ से किसी के आक्रमण का भय न रहे, इसलिए क़िलात के 'खान' से भी सन्धि की गई। इस सन्धि से अँगरेजों को बिलोचिस्तान में सेना रखने और व्यापार करने के अधिकार मिल गये। उस तरफ लूट-पाट से रक्षा करने के लिए क़िलात के 'खान' और उसके उत्तराधिकारियों को ५० हजार रुपये साल की सहायता देने का भी वचन दिया गया।

शासनप्रबन्ध—डलहौज़ी के समय में भारतवर्ष का बहुत सा भाग अँगरेजी राज्य में मिल गया, इसलिए अब शासनप्रबन्ध में कुछ परिवर्तन

---

[1] रोबर्ट्स, इतिहास, जि० २, पृ० १४२।

करना आवश्यक हो गया। इस समय तक बंगाल का शासन गवर्नर-जनरल के हाथ ही में था, परन्तु उसका काम अधिक बढ़ जाने के कारण सन् १८५३ में बंगाल प्रान्त के लिए एक अलग लेफ्टिनेंट-गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। पंजाब, बर्मा, अवध और नागपुर बिलकुल स्वतंत्र प्रान्त नहीं बनाये गये। इनमें चीफ़ कमिश्नर रख दिये गये जो गवर्नर-जनरल के अधीन थे। ये प्रान्त हाल ही में लिये गये थे। इनको शान्त रखने के लिए ऐसे शासन की आवश्यकता थी, जिसमें प्रचलित रीति-रिवाजों में बहुत परिवर्तन भी न हो और सरकार का काम भी शीघ्रता और सुगमता से निपटता जाय। इसी लिए यहाँ बंगाल के सब कानून-कायदे नहीं चलाये गये। जिला मजिस्टेट के हाथ में, जो 'डिप्युटी कमिश्नर' कहलाने लगे, न्याय, पुलिस और माल के सब अधिकार दे दिये गये।

बंगाल की अपेक्षा नये प्रान्तों में सेना का रखना अधिक आवश्यक समझा गया। उत्तरी भारत में मेरठ में सेना की मुख्य छावनी बनाई गई। पंजाब में एक अलग सेना रखी गई और गोरखों की भी कई एक पल्टनें बनाई गई। इस समय उत्तरी भारत में अधिक निगरानी रखने की आवश्यकता थी, इसलिए शिमला में भारत-सरकार के रहने का प्रबन्ध किया गया।

रेल—सन् १८४१ से ही भारतवर्ष में रेल चलाने का विचार हो रहा था। अब साम्राज्य का विस्तार हो जाने से, एक स्थान से दूसरे स्थान को सेना शीघ्र ले जाने के लिए, रेलों की बड़ी आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। सरकार इसके लिए धन लगाने को तैयार न थी। डलहौज़ी ने घाटा पूरा करने का वचन देकर भारतवर्ष में रेल चलाने के लिए अँगरेजी कम्पनियों को राज़ी किया। सन् १८५३ में बम्बई के निकट, 'ग्रेट इंडियन पेनिंशुलर' (जी० आई० पी०) रेलवे कम्पनी ने पहले-पहल रेल चलाई। इसी की शाखाएँ खानदेश और नागपुर की तरफ़ बढ़ाई गई। 'ईस्ट इंडियन रेलवे' (ई० आई० आर०) कम्पनी ने पहले कलकत्ता से रानीगंज तक रेल चलाई। फिर कलकत्ता से इलाहाबाद होते हुए दिल्ली तक इसी कम्पनी की रेल चल गई। इस तरह लार्ड डलहौज़ी के समय में ही 'मदरास रेलवे' (एम०

आर०) और 'बम्बई बड़ोदा सेंटल इंडिया' (बी० बी० सी० आई०) रेलवे कम्पनियाँ भी स्थापित हो गईं।

सेना की सुविधा के अतिरिक्त रेलों के चलाने में डलहौजी को इँग्लेंड के व्यापार का भी ध्यान था। वह लिखता है कि इँग्लेंड को रुई की बड़ी आवश्यकता है। भारतवर्ष में यह अच्छे किस्म की और खूब पैदा होती है। यदि समुद्र के बन्दरगाहों तक इसके पहुँचाने का प्रबन्ध किया जा सके, तो इँग्लेंड की यह आवश्यकता दूर हो सकती है। साथ ही साथ यह भी खयाल था कि रेलों से भारतवर्ष के दूर दूर के स्थानों में यूरोप की बनी हुई चीजों की खपत बढ़ जायगी।[1] इस तरह सैनिक सुविधा और इँग्लेंड की व्यापारिक उन्नति की दृष्टि से भारतवर्ष में पहले-पहल रेलें चलाई गईं।

तार—इसी उद्देश्य से तारों का भी प्रबन्ध किया गया। सन् १८५० में कलकत्ता के निकट पहला तार लगाया गया। भारतवर्ष में तार लगाना सहज काम न था। बड़े विकट जंगल, नदी, नाले और पहाड़ों के होने से तार के खम्भों के गाड़ने में बड़ी मुश्किलें पड़ती थीं। बन्दर तार तोड़ डालते थे और जंगली जानवर खम्भों को गिरा देते थे। डलहौजी के समय में बड़े परिश्रम के साथ यह काम पूरा किया गया। सिपाहीविद्रोह के समय पर तार अँगरेजों के बड़े काम आया। क्षण भर में समाचार एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँच जाता था, सिपाही मुँह ताकते रह जाते थे। लार्ड डलहौजी ने भारतवर्ष में अँगरेजी साम्राज्य को "लोहे की पटरियों और तारों से जकड़" दिया। हंटर लिखता है कि सन् १८५७ के विद्रोह में रेल और तार हजारों आदमियों के बराबर थे। रेल और तारों ही द्वारा भारतवर्ष अब भी सैनिक रीति से हाथ में है।

डाक—डलहौजी के पहले डाक का कोई ठीक प्रबन्ध न था। स्थान की दूरी और पत्र के वजन के हिसाब से महसूल लिया जाता था। पत्र देने पर डाकिया महसूल वसूल करता था, जिसमें बड़े झगड़े होते थे। गाँवों में तो पत्र

---

[1] हंटर, डलहौजी, (रूलर्स ऑफ इंडिया सिरीज) पृ० १८४।

कभी पहुँचते ही न थे। लार्ड डलहौज़ी ने जाँच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया और सन् १८५३ में आधे तोले के वजन का आधा आना महसूल सारे भारतवर्ष के लिए निश्चित कर दिया। महसूल वसूल करने के झगड़ों से बचने के लिए टिकटें चला दी गई। लार्ड डलहौज़ी के समय में ही साढ़े सात सौ के लगभग डाकखाने खोले गये। रेल, तार और डाक से आगे चलकर जनता को भी बहुत लाभ हुआ। समय तथा दूरी की कठिनाइयाँ जाती रहीं और भारत धीरे धीरे एकता की ओर बढ़ने लगा।

नहर और सड़कें—गंगा की नहर, जो बहुत दिनों से खुद रही थी, लार्ड डलहौज़ी के समय में पूरी हो गई। इससे उत्तरी भारत में सिंचाई के लिए सुविधा हो गई। पंजाब में भी बारी दोआब नहर से बहुत लाभ हुआ। दक्षिण में गोदावरी के पानी से भी खेती को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न किया गया। कई एक सड़कें बनवाई गई और ऐसे कार्यों की देख-भाल के लिए 'पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट' कायम किया गया।

शिक्षा और व्यापार—सर चार्ल्स वुड की सलाह से अब देशी भाषाओं पर अधिक जोर दिया जाने लगा। गाँवों की पाठशालाओं और मकतबों को सरकारी सहायता देने और उनके निरीक्षण करने का प्रबन्ध किया गया। बड़े बड़े गाँवों में प्रारम्भिक स्कूल और जिलों में हाई स्कूल खोले गये। तीनों प्रान्तों में इंजीनियरिंग की पढ़ाई का भी कुछ प्रबन्ध किया गया। लार्ड डलहौज़ी के समय में भारत में अँगरेज़ों का व्यापार भी बहुत बढ़ गया। सन् १८४८ में देश से जितनी रुई बाहर जाती थी, सन् १८५६ में उससे दुगुनी से भी अधिक जाने लगी। गल्ला तिगुना जाने लगा और सूती कपड़ा तथा अन्य विलायती चीज़ों का आना दुगने से भी अधिक हो गया।[1] इस व्यापार की वृद्धि से भारत को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होने लगी।

कम्पनी का अन्तिम आज्ञापत्र—सन् १८५३ में कम्पनी के आज्ञापत्र के सम्बन्ध में पार्लामेंट ने फिर कानून पास किया। भारत का शासन

[1] ट्रॉ, डलहौज़ी, पृ० १०६।

नाम मात्र के लिए इस समय भी कम्पनी के हाथ में था। इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया, केवल इस बार कोई अवधि निश्चित नहीं की गई। गवर्नर-जनरल की 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' (व्यवस्थापक सभा) के मेम्बरों की संख्या बढ़ा दी गई। इसमें बम्बई, मदरास और पश्चिमोत्तर प्रान्त से भी एक एक मेम्बर लिया गया। इस तरह पहले-पहल इसको केवल बंगाल प्रान्त की अपेक्षा भारत साम्राज्य की कौंसिल बनाने का प्रयत्न किया गया। लार्ड डलहौज़ी इसमें एक हिन्दुस्तानी मेम्बर भी रखना चाहता था, परन्तु इँग्लैंड-सरकार ने इसको स्वीकार न किया। इस कौंसिल में पार्लामेंट की नकल की जाती थी। यह बात इँग्लैंड-सरकार को पसन्द न थी। सर चार्ल्स वुड इसको 'भारतवर्ष की पार्लामेंट' न मानता था।

डलहौज़ी का चरित्र—मार्च सन् १८५६ में डलहौज़ी वापस चला गया। वह बड़ा परिश्रमी गवर्नर-जनरल था। सवेरे नौ बजे से लेकर पांच बजे शाम तक बराबर दिमागी काम किया करता था। इँग्लैंड से आने पर ही उसका स्वास्थ्य खराब था, भारतवर्ष में अधिक परिश्रम करने से वह और भी बिगड़ गया। उसके एक मित्र ने हँसी में लिखा था कि रूस के ज़ार और डलहौज़ी ये ही दो स्वेच्छाचारी शासक बाकी रह गये है।[१] इसमें बहुत कुछ सत्यता थी। वह जो राय कायम कर लेता था, उसमें किसी की न सुनता था। हेनरी लारेंस और स्लीमैन ऐसे अनुभवी अफसरों की राय का भी उस पर कुछ प्रभाव न पड़ता था। सेनापति चार्ल्स नेपियर से तो बराबर झगड़ा हुआ करता था। उसने स्वयं माना है कि वह दूसरों के साथ मिलकर काम न कर सकता था। वह प्राय कड़ी और कभी कभी अनुचित भाषा का प्रयोग कर बैठता था। दूसरों के सम्मान और प्रतिष्ठा का उसको बहुत कम ध्यान रहता था, जिसकी वजह से, जिनका उससे मतभेद होता था, वे और भी असन्तुष्ट रहते थे। अर्नाल्ड की राय में उसने आधुनिक भारत की नींव डाल दी। हंटर का मत है कि उसने साम्राज्य और देश को एक बना दिया। यह चाहे जो कुछ हो, देशी

---

१ डलहौज़ी, प्राइवेट लेटर्स, पृ० ५९।

सन् १८५६ में भारत

दिल्ली
लखनऊ
बम्बई
मदरास
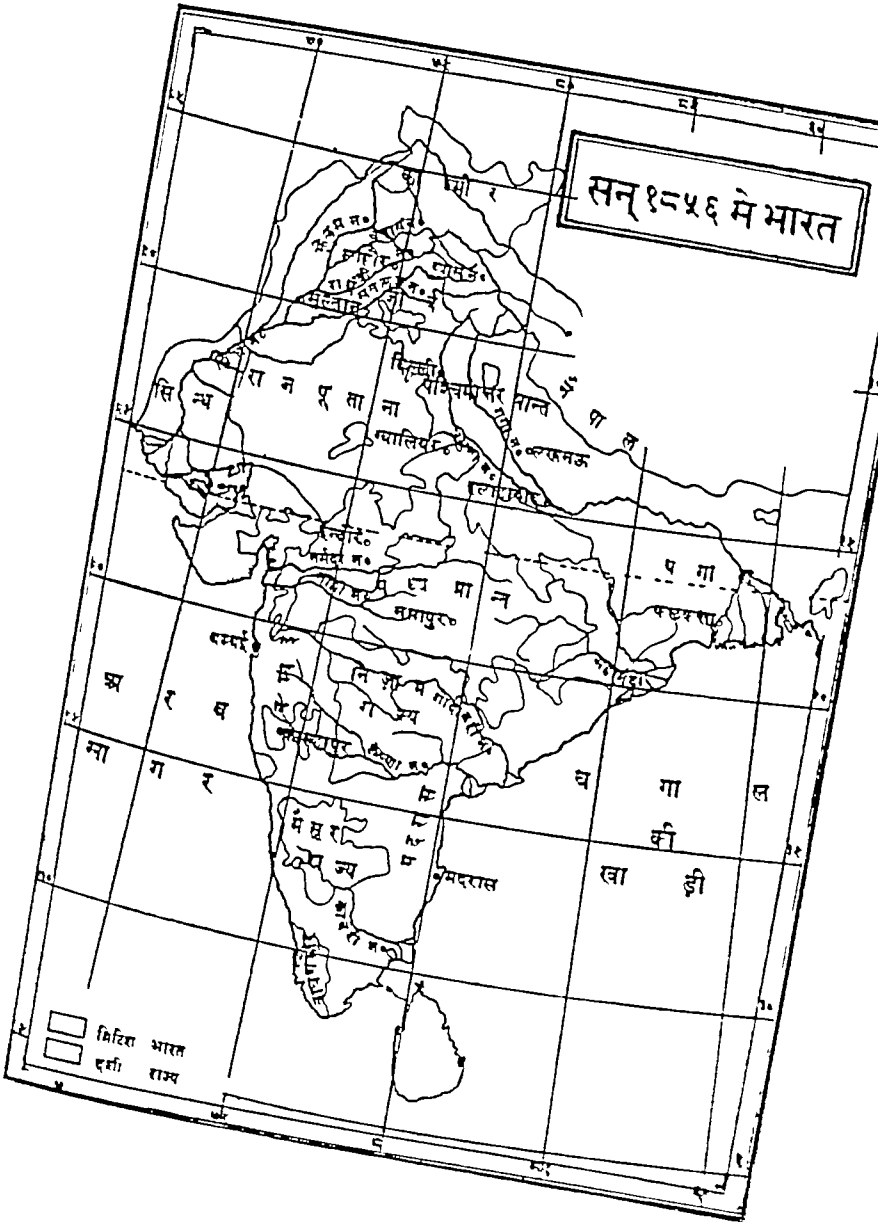
ब्रिटिश भारत
देशी राज्य

नरेशों के प्रति उसकी नीति और व्यवहार की प्रशंसा नहीं की जा सकती। आगे चलकर वह नीति भारत-सरकार को छोड़नी ही पड़ी। उसके लोकोपयोगी कार्यों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि उनमें से बहुतों की योजना उसके आने के पहले ही तैयार हो चुकी थी, उसने उनको पूरा अवश्य कर दिया। जिस काम को वह हाथ में लेता था, उसको करके छोड़ता था, यह उसमें बड़ा भारी गुण था। लार्ड डलहौज़ी ने जो कुछ किया, वह अपने देश के लिए किया। उसकी सेवा में वह अपने जीवन को भी तुच्छ समझता था। जिस साम्राज्य की लार्ड क्लाइव ने नींव डाली थी, जिसको वारेन हेस्टिंग्ज ने दृढ़ बनाया था, वेलेजली तथा लार्ड हेस्टिंग्ज के समय में जिसकी वृद्धि हुई थी, लार्ड डलहौजी ने उसको पूरा कर दिया।

जिसने सदा अँगरेजों का साथ दिया था, यह धारणा हो रही थी कि किसी राज्य का बचना सम्भव नहीं है। सबको यह भय हो रहा था कि किसी न किसी बहाने से धीरे धीरे सभी राज्य ले लिये जायँगे। मराठों में पेशवा का अन्त हो ही चुका था, सतारा और नागपुर लेकर शिवाजी और भोंसला के घराने भी नष्ट कर दिये गये थे। रणजीतसिंह का राज्य तो जड़ से ही उखाड़ दिया गया था। मुसलमानों में मुहम्मदअली के वंशजों को कर्नाटक के नवाब कहलाने तक की अनुमति नहीं दी गई थी, निजाम से बरार छीन लिया गया था और अवध के राज्य का तो एक-दम से ही अन्त कर दिया गया था। दिल्ली में वृद्ध मुगल सम्राट् बहादुरशाह को अपने पुराने महलों में भी रहना मुश्किल हो गया था।

जिस ढंग से यह नीति काम में लाई जा रही थी उससे अशान्ति और भी बढ़ रही थी। इन राजाओं तथा नवाबों के आभूषण, जवाहरात हाथी और घोड़े बाजारों में नीलाम किये जा रहे थे। रानियों और बेगमों की बुरी दशा थी। सतारा, कर्नाटक तथा अवध और नाना साहब के दूत इँगलैंड तक दौड़ रहे थे पर कहीं किसी की भी सुनवाई नहीं हो रही थी। इस तरह निराश होकर इनमें से कुछ लोग बदला लेने का अवसर ताक रहे थे।

सामाजिक परिवर्तन—कई एक देशी राज्यों के नष्ट हो जाने से समाज में भी बड़ा परिवर्तन हो रहा था। बहुत से बड़े बड़े आदमी बेकार हो गये थे। अँगरेजों के यहाँ उनके लिए नौकरियों का दर्वाजा बन्द था। अमला और सिपाहियों की तो कुछ गिनती ही न थी, इनके लिए कहीं भी ठिकाना न था। नये बन्दोबस्त में प्राचीन बड़े बड़े घरानों का कुछ भी ध्यान नहीं किया जा रहा था। बंगाल में बेंटिंक के समय से ही 'लाखिराज' जायदाद जब्त हो रही थी। बम्बई में सनदों की जाँच करने के लिए 'इनाम कमीशन' बना हुआ था, जो छोटी बड़ी मिलाकर २० हजार जायदादों और जागीरों को जब्त कर चुका था। अवध में तालुकेदारों के साथ भी यही व्यवहार किया जा रहा था। जिन इलाकों पर उनका पुश्तों से अधिकार चला आ रहा था, वे केवल सनद या और कोई ऐसे ही सबूत न होने के कारण, छीन जा रहे थे।

दीवानी अदालतों की डिक्रियों से जायदादें नीलाम हो रही थीं और जमीन्दार तबाह हो रहे थे।

अँगरेजों और हिन्दुस्तानियों का सामाजिक सम्बन्ध टूट रहा था, दोनों एक दूसरे से अलग हो रहे थे। अँगरेज हिन्दुस्तानियों को असभ्य और हिन्दुस्तानी अँगरेजों को अपने धर्म का विरोधी समझ रहे थे। दोनों की बहुत सी बातें एक दूसरे की समझ में न आ रही थीं और न उनके समझने का कोई प्रयत्न ही किया जा रहा था। शिक्षा से यह भेदभाव दूर नहीं हो रहा था। अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग हर एक बात में अँगरेजों की नकल कर रहे थे और अपने देश की सभी बातों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। बहुत से बेपढ़े हिन्दुस्तानी रेल और तार को 'जादू' समझे बैठे थे और उनसे भय करते थे। पाश्चात्य सभ्यता की बहुत सी बातों के आ जाने से भारतवर्ष के सामाजिक जीवन में, जो सहस्रों वर्ष से एक ही ढंग से चला आ रहा था, बड़ा उथल-पुथल मच रहा था।

धार्मिक उत्तेजना—भारतवर्ष में हर एक बात का सम्बन्ध धर्म से है। अँगरेज जिनको सामाजिक परिवर्तन समझ रहे थे, हिन्दुस्तानी उनको अपने धर्म पर आघात मान रहे थे। सती-प्रथा का बन्द करना धर्म में हस्तक्षेप समझा जा रहा था। विधवा-विवाह को जायज मानने के लिए हाल ही में एक कानून पास हुआ था। बहु-स्त्री-विवाह को रोकने के लिए भी कानून बनाने पर विचार हो रहा था। इस समय तक धर्म-परिवर्तन करने से पैतृक सम्पत्ति में हक मारा जाता था, अब यह नियम भी उठा दिया गया था। ये सब बातें जन-साधारण को खटक रही थीं। इनके अतिरिक्त सबसे भारी बात तो यह थी कि इन दिनों ईसाई मत के प्रचार पर बड़ा जोर दिया जा रहा था। लार्ड पामर्स्टन तक भारतवर्ष के करोड़ों मनुष्यों को "उच्च और श्रेष्ठ" मत में लाने का स्वप्न देख रहा था। सरकारी स्कूलों में बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य्य करने के लिए आन्दोलन हो रहा था। पादरी लोग हिन्दू और मुसलमान धर्मों की हँसी उड़ा रहे थे। बारिकपुर के मैनिक अफसर खुले तौर पर सिपाहियों को ईसाई मत का उपदेश दे रहे थे। सरकार की ओर से इनको रोकने की कोई चेष्टा नहीं की जा

८५ नेता गिरफ्तार कर लिये गये और उनको दस दस वर्ष की कडी कैद की सजा दी गई। ता० ६ को परेड पर उनकी वर्दियाँ छीनकर उन्हे सब तरह से अपमानित किया गया। अपने अपमानित साथियो के ललकारने पर सब सिपाही बिगड पडे। जो अँगरेज जहाँ मिल गया, वही मार डाला गया, छावनी मे आग लगा दी गई, जेल का फाटक तोडकर कैदी निकाल लिये गये और सबके सब दिल्ली की ओर बढ़ चले।

विद्रोह की आग भभक उठी। दिल्ली से लेकर कलकत्ता तक मुख्य मुख्य स्थानो पर सिपाही बिगड पडे। अँगरेजो से जो असन्तुष्ट हो रहे थे, उनको बदला लेने का अच्छा अवसर मिल गया और उनमे से कुछ लोग सिपाहियो के साथ हो गये। इस तरह एक सैनिक विद्रोह को राजनैतिक स्वरूप मिल गया।

दिल्ली—मेरठ से विद्रोही सिपाही दूसरे ही दिन दिल्ली पहुँच गये। यहाँ गोरों की कोई सेना न थी और शहर सिपाहियो के हाथ मे था। ये सब विद्रोहियो से मिल गये, अँगरेज अफसर मार डाले गये और वृद्ध बहादुरशाह को फिर से तख्त पर बिठलाकर मुगल साम्राज्य की घोषणा कर दी गई। बहादुरशाह के महल को विद्रोहियो ने चारों ओर से घेर लिया था, उनका साथ देने के सिवा उसके लिए अपनी रक्षा का कोई दूसरा उपाय न था। अँगरेजों के व्यवहार से उसके कुटुम्बी पहले ही से असन्तुष्ट थे। फारस की ओर से उनको भडकाने का बराबर प्रयत्न हो रहा था। बहादुरशाह के विरोध करने पर भी सिपाहियो ने क्रोध मे आकर कई एक अँगरेजो को उनके बच्चे सहित मार डाला। दिल्ली में एक बडा भारी बारूदखाना था, जिसको सिपाही लेना चाहते थे। पर कुछ साहसी अँगरेजो ने अपने जीवन की कुछ भी पर्वाह न करके उसमें आग लगा दी, जिससे बहुत से सिपाही जल-भुनकर मर गये। दिल्ली छिन जाने से अँगरेजों के प्रभाव पर बडा धक्का लगा और सारे पश्चिमोत्तर प्रान्त में उपद्रव मच गया। यह समाचार पजाब पहुँचने पर सर जान लारेंस ने लाहौर के सिपाहियो के हथियार छीन लिये और बडी सख्ती के साथ वहाँ के उपद्रवियो को दंड दिया।

अमृतसर के डिप्युटी कमिश्नर कूपर ने, एक अँगरेज़ अफसर को मार डालने के अपराध मे, पैदल सेना की २६ वीं पल्टन के २८२ सिपाहियों को गिरफ्तार कर लिया। इनमे से २३७ सिपाही बिना किसी अभियोग के गोली से मार दिये गये। वध करते करते एक गोली चलानेवाला बेहोश हो गया। बाकी ४५, जो एक कोठरी मे बन्द थे, भय, श्रम और दम घुटने के कारण आपही आप मर गये। इस तरह सौ वर्ष बाद कलकत्ते की काल कोठरी का बदला चुक गया। इन सबकी लाशें उजनाला के एक अन्धे कुएँ मे झोंक दी गई।[1] इस पल्टन के बचे-खुचे सिपाही लाहोर मे तोपदम कर दिये गये। मार्टिन लिखता है कि दो अँगरेजों के वध के अपराध मे पाँच सौ आदमियों के प्राण लेना ऐसा बदला है, जिसका कभी समर्थन नहीं किया जा सकता।[2] जान लारेंस ने इस तरह पंजाब को शान्त करके गोरों की सेना को निकल्सन की अध्यक्षता मे दिल्ली भेजा।

इसके पहले पंजाब और मेरठ की कुछ सेना जून मे बदलीसराय के युद्ध मे विद्रोहियों को हरा चुकी थी और दिल्ली को घेरे हुए पडी थी। निकल्सन की सेना आ जाने पर अच्छी तरह से युद्ध छिड गया। सितम्बर मे पंजाब से तोपें भी आ गई और शहर का काश्मीरी दर्वाजा उडा दिया गया। चार पाँच दिन तक घोर युद्ध करके अँगरेजों ने दिल्ली पर फिर से अधिकार कर लिया। इस युद्ध मे लगभग १५०० गोरे सैनिक बेकाम हो गये और वीर निकल्सन मारा गया। विजय के बाद 'खिजन' बोल दिया गया, शहर लूट लिया गया, निरपराध नागरिक दया की भिक्षा मागने पर भी गोलियों से मार दिये गये, भय से काँपते हुए बुड्ढे काट डाले गये।[3] 'टाइम्स' पत्र के संवाददाता के शब्दों मे शाहजहाँ की दिल्ली में नादिरशाह के बाद से ऐसा भीषण दृश्य देखने मे न आया था। इतिहासकार मार्टिन ने मर्मस्पर्शी शब्दों मे इसका वर्णन किया है।[4]

१ क्पर, क्राइसिस इन दि पंजाब, पृ० १६४–७४।

२ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ४२८।

३ होम्स, इंडियन म्युटिनी, पृ० ३८२।

४ मार्टिन, इंडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ४४५–६०।

वृद्ध बहादुरशाह ने प्राणरक्षा का वचन मिलने पर अपने को अँगरेजों के हवाले कर दिया। विद्रोही कहीं छुडा न लेवे, इस भय से उसके लडके, बिना इस

बहादुरशाह की गिरफ्तारी

बात की जाँच किये हुए कि उनका कोई अपराध था या नहीं, गोली से मार दिये गये। इतिहासकार मैलेसन का कहना है कि कोई ऐसा भय न था, इस तरह उनकी हत्या करना अनुचित था।[१] इतिहासकार होम्स का भी ऐसा ही मत है।[२] मुगल सम्राट् बहादुरशाह पर जनवरी सन् १८५८ में अभियोग चलाया गया। अपराधी सिद्ध होने पर वह रंगून भेज दिया गया, जहाँ सन् १८६२ में ८७ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई। इस तरह मुगल सम्राटों का अन्त हो गया।

दिल्ली हाथ में आ जाने से अँगरेजों की फिर धाक जम गई और सब जगह उनकी विजय होने लगी। सन् १८५८ में दिल्ली पंजाब में मिला दी गई।

कानपुर—यहां से थोडी ही दूर पर बिठूर में नाना साहब रहता था, जिसको बाजीराव ने गोद लिया था। जान के लिखता है कि वह सीधा-साधा प्रसिद्ध था और सदा अँगरेज कमिश्नर की बात मानने के लिए तैयार रहता था। बाजीराव की पेंशन के सम्बन्ध में वह बराबर लिखा-पढ़ी कर रहा था, पर कहीं उसकी सुनवाई नहीं हो रही थी। इसी से वह चिढ़ा हुआ था। कहा जाता है कि वह अँगरेज़ों के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहा था। इसी उद्देश्य से विद्रोह के पहले वह लखनऊ तथा दिल्ली गया था और रजवाड़ों से पत्र-व्यवहार कर रहा था। लखनऊ के मार्टिन गब्बिंस का तो यहां तक कहना है कि उसके दूत ने, जो इँग्लेंड गया था, रूसियों से भी बातचीत की थी।[1]

नाना साहब

जून में कानपुर के सिपाहियों ने भी विद्रोह कर दिया और वे भी सबके सब दिल्ली की ओर बढ़ने लगे। परन्तु नाना साहब के कहने पर वे सब कानपुर फिर लौट पड़े।[2] तीन सप्ताह तक अँगरेजों ने बड़े साहस और धैर्य्य के साथ शत्रुओं का सामना किया। अन्त में नाना साहब से रक्षा का वचन मिलने पर, उन सबने हथियार डाल दिये और गंगा के मार्ग से वे इलाहाबाद जाने

---

१ के और मेलेसन, इंडियन म्युटिनी, जि० २, पृ० ८५४।

२ तात्या टोपे का कहना है कि सिपाहियों ने जबरदस्ती नाना साहब को अपने साथ ले लिया और कानपुर की तरफ लौट पड़े। के और मैलेसन, जि० २, पृ० २२८।

के लिए तैयार हो गये। नाना साहब की ओर से नावों का प्रबन्ध कर दिया गया। परन्तु जब वे अपने बाल-बच्चे और स्त्रियों सहित नावों पर बैठ गये तब घाट पर से सिपाहियों ने गोली चलाना प्रारम्भ कर दिया। नावों में आग लगा दी गई और अँगरेजों का वध किया जाने लगा। शरण में आये हुए शत्रुओं के साथ ऐसा व्यवहार सर्वथा निन्दनीय है। नाना साहब को यह समाचार मिलने पर उसने बालकों तथा स्त्रियों की रक्षा करने के लिए तुरन्त ही आज्ञा भेज दी।[1] बचे हुए अँगरेज कानपुर में रख दिये गये और नाना साहब बिठूर चला गया, जहां बड़ी धूमधाम के साथ वह पेशवा बनाया गया।

उसने अपनी रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया, उलटे कानपुर आकर अपना अमूल्य समय नाचरंग में नष्ट कर दिया। कानपुर के हत्या काण्ड का समाचार मिलने पर इलाहाबाद से हैवलाक और नील की अध्यक्षता में गोरी सेनाएँ कानपुर की ओर चल पड़ीं। मार्ग में फतेहपुर, जो विद्रोहियों के हाथ में आ गया था, विध्वंस कर दिया गया। गावों में आग लगा दी गई, जिनमें कितने ही बच्चे तथा स्त्रियां जलकर मर गईं और सब सम्पत्ति लूट ली गई।[2] नाना साहब के सिपाही अँगरेजी सेना को रोक न सके। उसके बढ़ने का समाचार पहुँचते ही कानपुर में घबराहट फैल गई। इस उत्तेजना के समय में दो सौ से अधिक अँगरेज स्त्रियों और बाल-बच्चों का, जो बीबीघर में रख दिये गये थे, वध कर डाला गया और उनकी लाशें एक अन्धे कुएँ में फेंक दी गईं। कहा जाता है कि यह अमानुषिक कार्य नाना के दुष्ट सलाहकार अजीमुल्ला और एक मुसलमान स्त्री के कहने से किया गया था। एक भी सैनिक इस तरह की हत्या करने के लिए राजी न हुआ था। यह चाहे जो कुछ हो, इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष के नाम पर यह धब्बा लग गया।

नाना साहब अँगरेजों का सामना न कर सका, वह छिपकर भाग निकला। जुलाई में कानपुर पर अँगरेजों का फिर से अधिकार हो गया। बिठूर में नाना

[1] के और मेलेसन, इंडियन म्युटिनी, जि० २, पृ० २७८।

[2] वही, पृ० २७७–७८।

साहब का महल नष्ट कर दिया गया और सब सम्पत्ति लूट ली गई। उन्मत्त गोरे सिपाहियों ने भरपूर बदला लिया। सेनापति नील ने अपने कार्यों से यह दिखला दिया कि निर्दयता और कठोरता में अँगरेज़ भी किसी से कम नहीं हैं। उसके हाथ में जो कोई हिन्दुस्तानी सिपाही पड़ गया, उसी से उसने बेत लगा लगाकर बीबीघर का खून साफ करवाया और अन्त में उसको फाँसी लटकवा दिया। वह स्वयं लिखता है कि मैं हिन्दुस्तानियों को ऐसी कड़ी सजा देना चाहता था, जिससे उनके भावों को अधिक से अधिक आघात पहुँचे और जिसको वे सदा स्मरण रखें।[1]

लखनऊ—अवध का राज्य लेने के लिए चाहे जो कारण रहे हों, पर जिस ढग से वहाँ के शासन का प्रबन्ध किया गया, जान के लिखता है कि उससे, वहा की प्रजा में, जो सदा अंगरेजों का हित चाहती थी, असन्तोष के बीज बो दिये गये। 'छत्र मंजिल' में, जो बादशाहों का खास महल था, गोरों का डेरा जम गया और साल भर तक उनके कुटुम्बियों को पेंशनें नहीं दी गईं। शाही घराने के इस अपमान से प्रजा उनके अत्याचारों को भूलकर उनसे सहानुभूति दिखलाने लगी। जो लोग दरबार के आश्रित थे, उनकी रोजी जाती रही। जिन लोगों का महलों में पालन पोषण हुआ था, उनको रात में सडकों पर भीख मागने की नौबत आ गई। शाही सिपाहियों को कोई पूँछनेवाला न रहा, वे अपने अपने घर जाकर अंगरेज़ों के अत्याचारों का वर्णन करके असन्तोष फैलाने लगे। बहुत से तालुकदारों के इलाके छीन लिये गये और उनकी स्थिति पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। जिन कारीगरों का दरबार से गुजर होता था, उनका रोजगार नष्ट हो गया। व्यापार की सभी चीजों पर टैक्स लगा दिया गया और किसानों पर लगान बढ़ा दिया गया। बहुत सी इमारतें तोड़ दी गईं और रईसों को अपमानित किया गया। इस तरह सभी श्रेणी के लोगों को असन्तुष्ट कर दिया गया।

---

[1] के और मलेसन, इंडियन म्युटिनी, जि० २, पृ० २९८-३००।

इस दशा को सुधारने के लिए सर हेनरी लारेंस ने, जिसको लार्ड कैनिंग ने अवध का चीफ कमिश्नर बनाकर भेजा था, बहुत कुछ प्रयत्न किया। परन्तु अब अशान्ति पूर्ण रूप से फैल चुकी थी और उसका

लखनऊ की रेज़ीडेंसी

दबाना सहज न था। यहाँ भी कारतूस का झगड़ा चल रहा था। मेरठ में विद्रोह होने के साथ ही साथ लखनऊ में भी उपद्रव मच गया। हेनरी लारेंस सिपाहियों को शान्त करने में सफल न हुआ। कई एक अँगरेज अफसर मार डाले गये और वाजिदअली का एक दस वर्ष का लड़का नवाब वज़ीर बना दिया गया। रेज़ीडेन्सी को विद्रोहियों ने घेर लिया। मुट्ठी भर अँगरेजों ने बड़े साहस के साथ सिपाहियों का बहुत दिनों तक सामना किया। इसी बीच में एक गोला गिरने से सर हेनरी लारेंस की मृत्यु हो गई। वह बड़ा उदार-हृदय, दयालु और योग्य अफसर था। डलहौज़ी की नीति उसको पसन्द न थी देशी राज्यों की रक्षा के लिए उसने बराबर प्रयत्न किया था।

लखनऊ के विद्रोह का समाचार फैलते ही अवध के सभी ज़िलों मे ऊधम मच गया। पहले तो तालुकदार लोग चुप रहे, पर जब लार्ड कैनिंग ने उनके इलाको को जब्त करने की घोषणा कर दी, तब उनमे से बहुतो ने सिपाहियों का साथ दिया। विद्रोहियो का सबसे अधिक जोर लखनऊ मे था। कई बार अँगरेजो ने इसको लेने के लिए प्रयत्न किया, पर कामयाबी न हुई। नील तया और कई एक सैनिक अफसर मारे गये। बडी मुश्किल से मार्च सन् १८५८ मे सेनापति लार्ड क्लाइड ने लखनऊ पर फिर से अधिकार कर लिया। कैसर बाग लूट लिया गया और कई दिनो तक बराबर मारकाट जारी रही।[1] जो 'काला आदमी' हाथ मे पड गया, वही गोली से मार दिया गया, या किसी पेड मे फाँसी लटका दिया गया।[2] अवध के विद्रोह को शान्त करने मे अँगरेजो को, नैपाल के राणा जगबहादुर की अध्यक्षता में, गोरखो से बडी सहायता मिली।

बरेली—रुहेलखंड मे विद्रोह का आरम्भ बरेली से हुआ। मई सन् १८५७ के अन्त में यहा के सिपाही बिगड पडे और मुसलमान जनता उनके साथ हो गई। हाफिज रहमतखा का पोता नवाब नाजिम बना दिया गया जो साल भर तक बरेली पर अधिकार जमाये रहा। मुसलमानो ने इसको धर्म-युद्ध मान लिया और कटने मरने के लिए 'गाजियो' का एक दल बन गया, जो बड़ी वीरता से लडा। रुहेलखंड मे अहमदुल्ला नामक फैजाबाद के एक मौलवी ने बहुत जोर बाँधा। लखनऊ में भी उसी ने ऊधम मचाया था। वह कट्टर मुसलमान था और उसके घमड का कोई ठिकाना न था। पर साथ ही साथ सिटन के शब्दो मे "वह बडा योग्य, साहसी और दृढ विचार का मनुष्य था, विद्रोहियो मे वह सबसे अच्छा सैनिक था।" उसने शाहजहाँपुर मे दो बार सेनापति कैम्पबेल को छकाया। पुआर्वा के राजा ने उसे मरवा डाला। मैलेसन लिखता है कि

---

१ रसल, डायरी, जि० १, पृ० ३३१।

२ मर्नेटी, अप अमग दि पैंडीज, पृ० १९५—९६।

"वह सच्चा देशभक्त था। निरपराधियों के वध से उसने अपनी तलवार को कलंकित न किया था और न कभी उसने किसी ऐसे वध का समर्थन ही किया था। उन विदेशियों के साथ, जिन्होंने उसके देश पर अधिकार कर लिया था, वह वीरता, सम्मान और दृढ़ता के साथ मैदान में लड़ा था। उसकी स्मृति सभी जातियों के वीर तथा सच्चे हृदयवालों के लिए आदरणीय है।"[1] बरेली पर मई सन् १८५८ में ही अँगरेजों का अधिकार हो गया था। मौलवी के मरते मरते रुहेलखंड के अन्य स्थान भी अँगरेजों के हाथ में आ गये।

विहार—विद्रोह का समाचार मिलने पर पटना में धर-पकड़ शुरू कर दी गई। मेजर होम्स ने अपनी आज्ञा से सिगौली के आसपास जंगी कानून जारी कर दिया। केवल सन्देह के कारण कुछ आदमियों को फांसी दे दी गई और बहुत से जेल में ठूँस दिये गये। इन बातों से विहार में भी बड़ा असन्तोष फैल गया और दीनापुर के सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। जगदीशपुर का ८० वर्ष का वृद्धा जमीन्दार कुँवरसिंह उनका नेता बन गया। मालगुजारी के सम्बन्ध में उसके साथ बड़ी ज्यादती की गई थी। विद्रोहियों का साथ देने के लिए पहले वह तैयार न था। परन्तु पटना के कमिश्नर को उस पर भी सन्देह हुआ, तब उस वीर राजपूत ने फांसी पर लटकने की अपेक्षा युद्ध में प्राण देना ही उचित समझा।[2] विद्रोहियों के साथ उसने आरा को घेर लिया। परन्तु इलाहाबाद से एक अँगरेजी सेना के आ जाने पर उसको हटना पड़ा। जगदीशपुर की इमारतें नष्ट कर डाली गईं। कुँवरसिंह का बनवाया हुआ मन्दिर भी न छोड़ा गया।[3] विहार से निकलकर उसने आजमगढ़ के निकट अँगरेजों के एक दल की अच्छी खबर

ली। परन्तु जब अँगरेजों की अधिक सेना आ गई, तब वह बिहार लौट आया। यहाँ उसने अँगरेजों के एक दल को हरा दिया और जगदीशपुर पर फिर से अधिकार कर लिया। इसके बाद ही युद्ध मे आहत होने के कारण उसकी मृत्यु हो गई। अँगरेज इतिहासकारों ने भी उसकी वीरता की प्रशसा की है।

झाँसी—मध्य भारत और बुँदेलखड को शान्त करने मे अँगरेजों को बडी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। जून सन् १८५७ मे झाँसी के सिपाहियो ने बिगडकर कई एक अँगरेजो को मार डाला और राजा गगाधरराव की विधवा लक्ष्मीबाई को झाँसी की गद्दी पर बिठला दिया। अँगरेजो की हत्या से उसका कोई सम्बन्ध था, यह सिद्ध नही होता।[1] उसके साथ बहुत कुछ अनुचित व्यवहार होने पर भी, वह विद्रोहियो मे शामिल न होना चाहती थी। सिपाहियो के दबाव के कारण उसे उनकी बात माननी पडी। नौ दस महीने तक वह झाँसी का शासन बडी चतुरता से करती रही। मार्च सन् १८५८ मे सर ह्यू रोज़ ने झाँसी पर आक्रमण कर दिया। रानी बड़ी वीरता से लडी, पर अन्त मे उसको किला छोडना पड़ा। उसके हटते ही झाँसी मे भयानक 'विजन' बोल दिया गया। कहा जाता है कि इस अवसर पर पाँच हजार आदमियो का वध किया गया।[2] बिना किसी अपराध के, केवल लूट के लालच से, अमृतराव की जागीर किरवी, जिसकी गद्दी पर एक नौ वर्ष का बालक था, छीन ली गई।[3]

रानी लक्ष्मीबाई ने झाँसी से निकलकर तात्या टोपे के साथ, जो उसकी सहायता के लिए आ रहा था, ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। महाराज जयाजी राव सिन्धिया की सेना बिगड़ गई और वह भागकर आगरा चला

---

१ होम्स, इडियन म्युटिनी, पृ० ४९३। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष, भाग १४, पृ० १७।

२ मार्टिन, इडियन एम्पायर, जि० २, पृ० ४८५।

३ के और मैलेसन, जि० ५, पृ० १८१।

गया। ग्वालियर का शासन रावसाहब को दिया गया, जो भोग-विलास में पड गया। कालपी जीतकर जून में ह्यूरोज ग्वालियर पहुँच गया। रानी ने मरदाना भेष धारण करके फिर इनका सामना किया। दिन भर घोर युद्ध के बाद विजय की आशा न देखकर उसने मैदान छोड दिया। एक नाले के पास उसका घोडा रुक गया। कई एक गोरे आ पहुँचे, उसने अकेले ही उनका मुकाबला किया। अन्त में वह घायल होकर गिर पडी और उसकी मृत्यु हो गई। सेनापति सर ह्यूरोज की राय में विद्रोहियो के नेताओं में वह सबसे अधिक "योग्य और वीर" थी। मेलेसन लिखता है कि अँगरेजों की नजर में रानी का चाहे जो कुछ दोष हो, पर भारतवासी सदा उसे श्रद्धा तथा गौरव की दृष्टि से देखेंगे और सरकार पर यह दोष लगायेंगे कि उसने रानी के साथ अन्याय किया।[1]
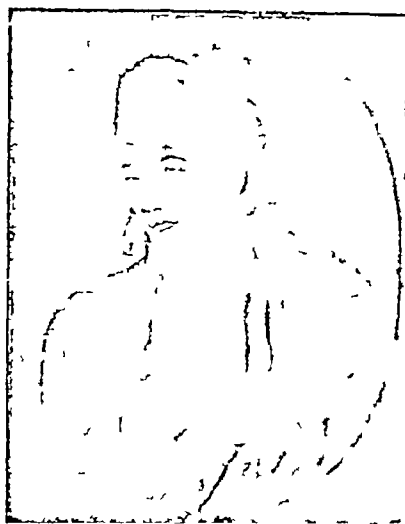
लक्ष्मीबाई

तात्या टोपे—यह नाना साहब का सेनापति था। ग्वालियर से भागकर यह कई महीनो तक राजपूताना, बुंदेलखड और मालवा में घूमता रहा। अँगरेजों के बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी यह उनके हाथ न आया। अन्त में सिन्धिया के एक स्वार्थी जागीरदार ने विश्वासघात करके इसको अँगरेजों के हवाले कर दिया। जगी अदालत मे ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध युद्ध करने का इस पर अपराध लगाया गया और फाँसी का दंड दिया

१ के और मलेसन, जि० ५, पृ० १७५।

कि बनारस में लड़के तक फाँसी पर लटका दिये गये थे। इलाहाबाद में निरपराध जनता का बिना किसी संकोच के वध किया गया था। वहाँ से चलते समय नील ने गाँव के गाँव जलाकर साफ कर दिये थे।[1] कैम्पबेल का कहना है कि नील ने जिस निर्दयता से लोगों का वध करवाया था वैसा हिन्दुस्तानियों ने भी नहीं किया था।[2] निकल्सन अधिक से अधिक वेदना देनेवाले प्राणदण्ड का समर्थन कर रहा था। हर एक जगह विजय के बाद 'विजन' बोल दिया जाता था, जिसमें कितने ही बेकसूर आदमी और औरतों की हत्या होती थी। दिल्ली और पंजाब की घटनाओं का उल्लेख किया जा चुका है। सिपाहियों की कठोरता का वर्णन करनेवाले कूपर ने ही लिखा है कि "यदि कानपुर का कुआँ है तो उसके साथ ढजनाला का भी कुआँ है।" स्वयं लार्ड कैनिंग ने माना है कि विद्रोहियों के साथ साथ कितने ही निरपराध बच्चों, स्त्रियों तथा बुड्ढों तक का वध किया गया था। वह लिखता है कि बिना पूरी जाँच किये हुए फाँसी लटका देने से और गाँवों को लूटने तथा जला देने से जो लोग सरकार का साथ देना चाहते थे, वे भी उत्तेजित हो गये थे।[3] बहुत सी अदालतों की कारवाइयाँ को लार्ड कैनिंग ने इस भय से प्रकाशित न किया था कि उनसे 'संसार में हमारे देशवासियों का घोर अपमान होगा।"[4]

यदि कुछ उन्मत्त सिपाहियों ने अँगरेज स्त्रियों और बच्चों का वध कर डाला था, तो अधिकांश जनता ने उनकी रक्षा भी की थी। जिस समय दिल्ली, कानपुर और झाँसी में अँगरेजों की हत्याएँ हो रही थीं, उसी समय बहुत से स्थानों पर दया, सहानुभूति और करुणा के उदाहरण भी घट रहे थे। बहुत

---

[1] के और मेलेसन, जि० २, पृ० [illegible]—०८। होम्स, पृ० [illegible]।

[2] कैम्पबेल, मेमायर्स, जि० [illegible], पृ० २८०।

[3] के और मेलेसन, जि० २, पृ० २०[illegible]।

[4] कनिंघम, कैनिंग (रूलर्स ऑफ इंडिया सिरीज़) पृ० [illegible]।

से हिन्दुस्तानियों ने अपनी जान हथेली पर लेकर अँगरेजों को अपने घर में छिपाया था। कितने ही भारतवासियों ने पद पद पर केवल मनुष्यत्व और दया के नाते अँगरेजों की सहायता की थी। कमिश्नर ग्रियेड लिखता है कि "दिल्ली से जितने भागे हुए अंगरेज आये, उन सबने स्वीकार किया कि अनेक लोगों ने स्थान स्थान पर उनकी सहायता की, उन्हें आश्रय दिया और उनके साथ भला बर्ताव किया। एक सन्यासी को जमुना में बहता हुआ एक अँगरेज बच्चा मिला, उसे वह मेरठ ले आया। जब हम उसको इनाम देने लगे उसने न लिया और कहा कि अगर मुझे कुछ देना ही है, तो रास्ते पर एक कुआ खोदवा दे।" कुछ दरिद्र मजदूरों ने घायल डाक्टर वुड की रक्षा की थी।[1] कितनी ही हिन्दुस्तानी आयाओं ने अँगरेज बच्चों की जानें बचाई और उनका इस कठिन अवसर पर अपनी सन्तानों से बढ़कर लालन-पालन किया।

यदि इस भयंकर समय में दरिद्र ग्रामवासी, मजदूर, धनी, राजा, रईस सभी दर्जे के भारतवासियों ने अँगरेजों की सहायता न की होती, तो उनका बचना मुश्किल था। साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि इस अवसर पर अंगरेजों ने भी अपने अद्‌भुत साहस, धैर्य्य, वीरता और स्वदेशभक्ति का परिचय दिया। सच बात तो यह है कि दोनों ओर से दैवी और आसुरी दोनों ही गुणों का प्रदर्शन किया गया।

यह विद्रोह भारतवर्ष के इतिहास में 'गदर' के नाम से प्रसिद्ध है। पंजाब के चीफ कमिश्नर सर जान लारेंस की राय में, इसका एकमात्र कारण कारतूस का झगड़ा था, पर मैलेसन इसको अँगरेजों की "बदनियती" बतलाता है। वह लिखता है कि अँगरेजों ने वचन देकर उनका पालन नहीं किया, अफगान-युद्ध के बाद में सिपाहियों की शिकायतें नहीं सुनी गईं, सन्धियों के विरुद्ध देशी राज्य छीन लिये गये और नये शासन-प्रबन्ध में प्रजा के रीति-रिवाजों का कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया।[2] लार्ड डलहौज़ी के समय में ही

---

[1] मार्टिन, इंडियन एम्पायर, पृ० १६९।

[2] के और मैलेसन, जि० ५, पृ० २७९-९०।

अशान्ति की बारूद एकत्र हो चुकी थी, उसमें कारतूस की चिनगारी पड़ गई। यदि ऐसा न होता, तो जिस तरह इसके पहले सैनिक विद्रोह शान्त हो गये थे, यह भी शान्त हो जाता।

असफलता के कारण—झाँसी की रानी को छोड़कर सिपाहियों का कोई योग्य नेता न था। उनमें हिम्मत, उत्साह और शक्ति की कमी न थी, पर सोचनेवाला मस्तिष्क न था। पहले से विद्रोह का कोई उद्देश्य या कार्य-क्रम निश्चित न था। एक ओर बहादुरशाह सम्राट् और दूसरी ओर नाना साहब पेशवा बनाया जा रहा था। अँगरेजों को निकालकर किस प्रकार शासन होगा, इस ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया था। हिन्दू और मुसल-मानों के उद्देश्य भिन्न भिन्न थे। धन की बड़ी कमी थी और संगठन की ओर तो किसी का ध्यान ही न था। विद्रोह के कुछ दिन पहले गाँवों में चपातियाँ और रिसालों में कमल घुमाये जा रहे थे। नाना साहब लखनऊ और दिल्ली के चक्कर लगा रहा था। इन बातों से सन्देह होता है कि विद्रोह के लिए षड्यंत्र रचा गया था। यदि ऐसा हो भी तब भी मानना पड़ेगा कि इसके लिए पूरी तैयारी नहीं की गई थी। यदि एक ही दिन सारे देश में विद्रोह हो जाता, तो अँगरेजों के लिए उसका दबाना असम्भव था।

विद्रोह देशव्यापी न था। इसका सबसे अधिक जोर पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रान्त, रुहेलखंड, अवध नर्मदा तथा चम्बल के बीच के प्रदेश और बिहार तथा बंगाल के पश्चिमी भाग में था। सिन्ध को नेपियर ने सिर उठाने योग्य ही न रखा था। राजपूताना का हौसला बहुत दिनों से पस्त था, दूसरे सर चार्ल्स मेटकाफ की नीति ने भी उसको भुलावे में डाल रखा था। नर्मदा के दक्षिण में कोल्हापुर को छोड़कर अन्य कहीं विशेष उपद्रव नहीं हुआ। मध्य और पूर्वीय बंगाल शान्त रहा। पश्चिमोत्तर और पूर्वोत्तर सीमा के स्वतंत्र राज्य अफगानिस्तान और नेपाल अँगरेजों के मित्र बने रहे।

प्राय सभी देशी राज्यों ने अँगरेजों का साथ दिया। इनकी सैनिक शक्ति पहले से ही नष्ट कर दी गई थी। ऐसी दशा में असन्तुष्ट होते हुए भी, अपने भविष्य का ध्यान करके, सिवा चुप रहने के इनके लिए कोई और उपाय न

था। सिन्धिया को उसके दीवान दिनकरराव ने समझा-बुझाकर राजभक्त बनाये रखा। यदि वह बिगड जाता तो अन्य मराठा राज्य भी उसके साथ हो जाते। जनरल इनिस के शब्दों मे "उसकी राजभक्ति ने अगरेजों के लिए हिन्दुस्तान बचा लिया।" इसी तरह निजाम को सर सालारजग ने राजभक्त बनाये रखा और मुसलमान उपद्रवियों को कठिन दड देकर हैदराबाद में उपद्रव को भडकने न दिया। विद्रोह के इतिहासकार होम्स का कहना है कि इसके लिए अँगरेजों को सालारजंग का सदा कृतज्ञ रहना चाहिए। सिख और गोरखा सैनिकों ने अँगरेजों की पूरी सहायता की, इनको लूट का खूब लालच दिया गया था। दिल्ली लूटने की सिखों को बहुत दिनों से अभिलाषा थी, यही बात अवध के सम्बन्ध मे गोरखों के लिए थी। सर जान लारेन्स लिखता है कि यदि पजाब ने साथ न दिया होता, तो हम कहीं के भी न होते।

लार्ड कैनिंग ने इस कठिन अवसर पर बडी बुद्धिमत्ता से काम लिया। यह बात ठीक है कि यदि उसने अशान्ति के चिह्नों को देखकर पहले [illegible] प्रबन्ध किया होता, तो विद्रोह इतना जोर न पकडता। परन्तु साथ ही [illegible] यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि भारतवर्ष आये हुए उसको थोड़े ही दिन हुए थे। उसे देश की स्थिति का पूरा ज्ञान न था, दूसरे अशान्ति के बीज उसके आने के पहले ही बोये जा चुके थे। बडी उत्तेजना के समय मे भी उसने अपने को शान्त रखा। यदि वह निकल्सन ऐसे अफसरों के कहने मे आ जाता, जो स्त्रियों और बच्चों को जला देने तथा विद्रोहियों की खाल [illegible] लेने के लिए क़ानून बना देने पर जोर दे रहे थे, तो निस्सन्देह अशान्ति [illegible] बढ जाती। अँगरेजों के बहुत कुछ आन्दोलन करने पर भी उसने बगाल [illegible] जगी कानून जारी नहीं किया और निर्मूल घटनाओं को प्रकाशित करके उत्तेजना बढानेवाले समाचारपत्रों का मुँह बन्द कर दिया। उसकी न्याय औ[र] दया की नीति को बहुत से अँगरेजों ने पसन्द नहीं किया, पर इसमें सन्[देह] नहीं कि इसका जनता पर अच्छा प्रभाव पडा।

कम्पनी का अन्त—विद्रोह का समाचार मिलने पर सन् १८५[illegible] [illegible]ही इँग्लेंड मे इस बात पर विचार हो रहा था कि भारत का शासन इँग[्लैंड]

परिच्छेद १४

ब्रिटिश छत्र की छाया

रानी विक्टोरिया का घोषणापत्र—नई शासन-व्यवस्था का आरम्भ इंग्लेंड की रानी विक्टोरिया के एक घोषणापत्र से किया गया। इसका मसविदा तैयार कराने में स्वयं विक्टोरिया ने योग दिया और इसमें "उदारता, दया और धार्मिक सहिष्णुता" के भावों को दिखलाने के लिए आदेश किया। पहली नवम्बर सन् १८५८ को इलाहाबाद में बड़ी धूमधाम से एक दरबार किया गया, जिसमें लार्ड कैनिंग ने, जो भारतवर्ष का पहला वाइसराय (राजप्रतिनिधि) बनाया गया, इस घोषणापत्र को पढ़कर सुनाया। इसमें कम्पनी के सब कर्मचारियों को उनके स्थान पर बहाल करते हुए और देशी नरेशों की सन्धियों की रक्षा तथा

रानी विक्टोरिया

प्रतिज्ञाओं के पालन करने का विश्वास दिलाते हुए, रानी विक्टोरिया की ओर
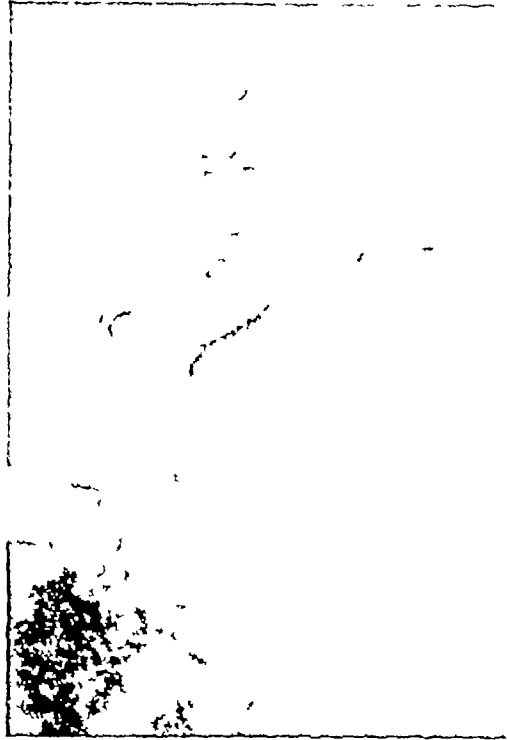
से कहा गया कि इस समय भारत में जितना मेरा राज्य है, मैं उसे बढ़ाना नहीं चाहती हूँ। "मैं देशी नरेशों के अधिकारों और मानमर्यादा को अपने ही अधिकारों और मानमर्यादा के समान समझूँगी।

"राजधर्म पालन करने के लिए जिस तरह मैं अपनी अन्यान्य प्रजाओं से प्रतिज्ञाबद्ध हूँ, वैसे ही भारत की प्रजा के निकट भी प्रतिज्ञाबद्ध रहूँगी। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की दया से मैं उन प्रतिज्ञाओं का भरसक यथारीति पालन करूँगी।

"ईसाई धर्म पर मेरा दृढ़ विश्वास है। इसके आश्रय से मुझे जो शान्ति मिली है, उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुए, मैं स्पष्ट कह देना चाहती हूँ कि अपने धर्म को प्रजा से मनवाने के लिए न मेरी इच्छा है और न मुझे अधिकार है। मैं अपनी यह राजकीय इच्छा प्रकट करती हूँ कि कोई व्यक्ति, अपने धार्मिक विश्वास या रीतियों के कारण, न किसी तरह अनुगृहीत किया जाय और न किसी तरह सताया या छेड़ा जाय। सबकी निष्पक्ष भाव और समान रूप से कानून द्वारा रक्षा की जाय। जो मेरे अधीन शासनकार्य में नियुक्त हैं, उन्हें मैं आज्ञा देती हूँ कि वे मेरी किसी प्रजा के धर्म या उपासना में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। यदि वे ऐसा करेंगे, तो मेरी अत्यन्त अप्रसन्नता के पात्र होंगे।

"मेरी यह भी इच्छा है कि यथासम्भव मेरी प्रजा को, वह चाहे किसी जाति या किसी धर्म की माननेवाली हो, अपनी विद्या, योग्यता और सच्चरित्रता के कारण, सरकार के अधीन जिस किसी काम के करने योग्य हो, वह काम उसको बिना किसी पक्षपात के दिया जाय।

"भारतवासियों को अपने पूर्वजों से जो जमीनें मिली हैं, उनके लिए उनमें कितनी माया और ममता होगी, इसको मैं अच्छी तरह समझती हूँ और उसका आदर करती हूँ। इन सब जमीनों पर जिसका जैसा और जितना अधिकार है, उसकी मैं रक्षा करना चाहती हूँ, पर उन्हें नियमानुसार लगाया हुआ कर देना होगा। मेरी इच्छा है कि कानून बनाते समय तथा कानूनों को व्यवहार में लाते समय भारत के प्राचीन स्वत्व और रीति-रिवाजों का पूरा ध्यान रखा जाय।"

विद्रोहियों के साथ दया का व्यवहार करने का वचन देते हुए घोषणा-पत्र के अन्त में कहा गया कि "ईश्वर की कृपा से जब शान्ति फिर से स्थापित हो जायगी, तब भारत की कलाओं को बढ़ाने, लोकोपयोगी कार्यों और सुधारों की ओर अधिक ध्यान देने तथा भारत की प्रजा के उपकार के लिए शासन करने की मेरी परम इच्छा है। इसकी समृद्धि में मैं अपनी शक्ति, इसके सन्तोष में मैं अपनी रक्षा और इसकी कृतज्ञता में मैं अपना सबसे बड़ा पुरस्कार समझूँगी।"

यह घोषणापत्र भारत का 'अधिकारपत्र' माना गया है। इस सम्बन्ध में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। एक तो यह कैसे समय पर प्रकाशित किया गया था और दूसरे इसके उच्च भावों से व्यवहार में कहाँ तक काम लिया गया। घोषणापत्रों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध फ्रीमन की राय है कि उनमें कूड़े की भरमार होती है। विक्टोरिया के उच्च आदर्श और प्रजाप्रेम पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता, पर साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि इंग्लैंड की शासन-व्यवस्था में नीति का काम में लाना मन्त्रियों के हाथ में है, न कि राजा के। सर जेम्स स्टिफन का मत है कि यह घोषणापत्र केवल दरबार में पढ़कर सुनाये जाने के लिए था। यह कोई सन्धि न थी जिसके अनुसार काम करने के लिए अंगरेजों पर किसी प्रकार की जिम्मेदारी हो। जिस उद्देश्य से यह घोषणापत्र प्रकाशित किया गया, वह अवश्य सफल हुआ। भारत की भोली-भाली जनता पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

देशी राज्य—सन् १८५९ में राजाओं के सम्बन्ध में भी पुत्र गोद लेने का अधिकार मान लिया गया। इस तरह राज्यों के बड़े भारी असन्तोष और भय का कारण दूर कर दिया गया। लार्ड डलहौजी के समय में जिस नीति का अनुसरण किया गया था उसका त्याग देना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि उसमें कितनी भारी भूल की गई थी। विद्रोह के समय में सरकार की सहायता करने के बदले में निजाम पर जो कर्ज था, वह माफ कर दिया गया। अवध की सीमा का कुछ जंगली भाग नेपाल को दे दिया गया। सिन्धिया, गायकवाड़, भूपाल की बेगम और कई एक राजपूत राजाओं को

थोड़ी थोड़ी भूमि दी गई और बहुतों का खिराज घटा दिया गया। राजाओं, तालुकदारों और जमीन्दारों से विपत्ति के समय में कितनी सहायता मिल सकती है, लार्ड कैनिंग इसको अच्छी तरह जानता था। इसी लिए जहाँ तक हो सका उसने इन सबको सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। विद्रोह शान्त हो जाने पर उसने अवध के तालुकदारों के साथ भी अच्छा व्यवहार किया, जिन्होंने उसके नाम से लखनऊ में 'कैनिंग कालेज' स्थापित किया।

सैनिक संगठन—साम्राज्य की रक्षा के लिए सेना का फिर से अच्छी तरह संगठन किया गया। कम्पनी और इँग्लेंड-सरकार की सेनाओं में जो भेद था, उठा दिया गया और दोनों सेनाएँ एक कर दी गईं। विद्रोह में जैसी कुछ स्थिति हो गई थी, भविष्य में उससे बचने के लिए यह नियम बना दिया गया कि तोपखाने में हिन्दुस्तानी भरती न किये जायँ और जितने सिपाहियों की सख्या हो, कम से कम उससे आधे गोरे अवश्य रखे जायँ। डलहौजी के समय में गोरी सेना की सख्या ४५ हजार थी, अब यह बढ़ाकर ७० हजार कर दी गई। इसी के अनुसार हिन्दुस्तानी सेना की संख्या १३५००० रखी गई। आवश्यकतानुसार इस सख्या में घटा-बढ़ी होती रहती है। सेना की सख्या बढ़ जाने से खर्च भी बहुत बढ़ गया।

आर्थिक सुधार—दो तीन वर्ष विद्रोह रहने के कारण सरकार को बहुत घाटा हुआ था, कर्ज की रकम दुगुनी हो गई थी और सालाना खर्च पूरा न पड़ता था। इस दशा को सुधारने के लिए इँग्लेंड से जेम्स विलसन बुलाया गया। उसके समय में व्यापार, आमदनी और तमाखू पर टैक्स लगा दिये गये। चाय, सन तथा जूट पर, जो भारतवर्ष से बाहर जाते थे, महसूल उठा दिया गया और बाहर से आनेवाले माल पर चुंगी कम कर दी गई। इस तरह आर्थिक कष्ट के समय पर भी इँग्लेंड के व्यापार का ध्यान रखा गया। सन् १८६० में विलसन की मृत्यु हो जाने पर सैम्युएल लैंग अर्थ-सदस्य बनाया गया। इसके समय में सेना और शासन के खर्च को कुछ घटाने का प्रयत्न किया गया और नमक पर टैक्स बढ़ा दिया गया। इन उपायों

से हर साल जो कमी पडती थी, पूरी हो गई और कुछ बचत भी होने लगी। इस बचत से भारत की दरिद्र जनता का कोई उपकार नहीं किया गया, पर मैंचेस्टर के माल पर चुंगी और घटा दी गई। इसी समय से प्रान्तीय सरकारों को कुछ आर्थिक स्वतत्रता देने का प्रयत्न किया गया और कागज का सिक्का भी चलाया गया।

शासनप्रबन्ध—सन् १८६१ मे 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' पास किया गया। इसके अनुसार वाइसराय की 'एक्जीक्यूटिव कौंसिल' (कार्यकारिणी समिति) के सदस्यों की सख्या पाँच कर दी गई। शासन के भिन्न भिन्न विभाग इन सदस्यों को सौंप दिये गये, जिससे हर एक बात पर विचार करने के लिए कौंसिल की मीटिंग करने की आवश्यकता न पडे। वाइसराय की अनुपस्थिति मे काम चलाने के लिए कौंसिल के सबसे बडे मेम्बर को सभापति मानने का नियम बना दिया गया। कानून बनाने के लिए वाइसराय को 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' (व्यवस्थापक सभा) के गैरसरकारी मेम्बर नामजद करने का भी अधिकार दे दिया गया, जिससे कुछ भारतवासियों को मेम्बर बनने का अवसर मिला। सरकारी मेम्बरों की सख्या अधिक होने से उसके अधिकारों मे किसी प्रकार की कमी नहीं आई। बम्बई और मदरास की कौंसिलों से कानून बनाने के अधिकार सन् १८३३ मे ले लिये गये थे, अब उनको ये अधिकार फिर से दिये गये। बगाल और पश्चिमोत्तर प्रान्त मे भी आवश्यकता होने से कौंसिले स्थापित करने की व्यवस्था की गई।

'सुप्रीम कोर्ट' तथा 'सदर अदालतों' का भेद उठा दिया गया और उनकी जगह पर कलकत्ता, बम्बई और मदरास मे 'हाईकोर्ट' स्थापित कर दिये गये। मकाले के समय से कानूनों का जो संग्रह तैयार हो रहा था, अब स्वीकार कर लिया गया और सारे भारतवर्ष में जाब्ता दीवानी, ताजीरात हिन्द और जाब्ता फौजदारी जारी कर दिये गये। बगाल मे काश्तकारों को बार बार बेदखल करके बडा तग किया जाता था। इसलिए सन १८५९ मे बगाल बिहार, आगरा और मध्यप्रान्त के लिए यह कानून बना दिया गया कि बारह वर्ष तक किसी खेत को जोतने से काश्तकार का उसमे मौरूसी हक मान लिया

जायगा। भारतवर्ष भर में इस्तमरारी बन्दोबस्त जारी करने का भी विचार था, पर कई कारणों से वैसा नहीं किया गया। सन् १८५४ में सर चार्ल्स वुड की रिपोर्ट के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध हो ही रहा था। अब उच्च शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया और सन् १८५७ में कलकत्ता, बम्बई और मदरास में 'यूनिवर्सिटियां' (विश्वविद्यालय) स्थापित की गईं।

नील और चाय की खेती—भारतवर्ष में अंगरेजों के बसाने के प्रश्न पर बहुत दिनों से विचार हो रहा था और इसके लिए उन्हें लालच भी दिये जा रहे थे। सन् १८५० में आसाम और नीलगिरि की पहाड़ियों में चाय और काफी की खेती करने के लिए कुछ युरोपियन आबाद हुए। इन लोगों को बहुत सी ज़मीनें मामूली लगान पर दे दी गईं। इसी तरह नील की खेती कराने के लिए बंगाल में भी बहुत से अँगरेज बसाये गये। विद्रोह के बाद इस पर बड़ा जोर दिया जा रहा था। कहा जाता था कि हिमालय की पहाड़ियों में अँगरेजों के आबाद हो जाने से रूसियों के आने का भय न रहेगा और भारतवर्ष में साम्राज्य की जड़ भी मजबूत हो जायगी। इसकी जाँच करने के लिए सन् १८५८ में पार्लमेंट की एक कमेटी भी नियुक्त की गई थी। ये यूरोपियन गरीब किसानों पर अत्याचार करते थे और उनसे जबर-दस्ती नील की खेती करवाते थे।[1] सन् १८६० में यह मामला इतना बढ़ गया कि इसकी सरकार की ओर से जांच कराई गई और जबरदस्ती नील की खेती कराने से उन्हें रोका गया। कुलियों पर अब भी ये लोग बड़ा अत्याचार करते हैं।

लार्ड एलगिन—सन् १८६२ में लार्ड कैनिंग वापस चला गया। चिन्ता और परिश्रम के कारण उसका शरीर बड़ा दुर्बल हो गया था। इँग्लैंड पहुँचने के थोड़े ही दिन बाद वह मर गया। विद्रोह के ऐसे कठिन समय पर

---

१ दीनबन्धु मित्र ने, अपने 'नील दर्पण' नामक नाटक में, इन अत्याचारों को बहुत अच्छी तरह दिखलाया है। इसके अँगरेजी अनुवाद से अँगरेज लोग बहुत चिढ़े और बेचारे अनुवादक को जेल भुगतनी पड़ी।

उसने बड़े धैर्य से काम लिया। उसकी उदार नीति से कुछ अँगरेज बहुत नाराज़ हो गये थे, पर अन्त में सबको उसकी योग्यता माननी पड़ी। उसके स्थान पर लार्ड एलगिन वाइसराय बनाया गया। यह पहले कनाडा में गवर्नर-जनरल और चीन में राजदूत रह चुका था। साल ही भर बाद नवम्बर सन् १८६३ में, पंजाब के धर्मशाला नामक स्थान पर, इसकी मृत्यु हो गई। इसके शासन-काल में केवल एक उल्लेखनीय घटना हुई। पश्चिमोत्तर सीमा पर वहाबी मुसलमानों ने बड़ा उपद्रव किया। इनको शान्त करने में अँगरेजी सेना को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं।

सर जान लारेंस—पश्चिमोत्तर सीमा पर अशान्ति होने के कारण गवर्नर-जनरल का पद सर जान लारेंस को दिया गया। पहले यह पंजाब का चीफ कमिश्नर रह चुका था। गदर के समय में भी इसने बड़ा काम किया था। पश्चिमोत्तर सीमा-सम्बन्धी विषयों का इसको अच्छा ज्ञान था। भारतवर्ष से वापस जाने के बाद से इंग्लैंड में यह नई स्थापित "इंडिया कौंसिल" में काम करता था। [illegible] सर लार्ड एल- [illegible] की नीति का

सर जान लारेन्स

पक्षपाती था, पर विद्रोह के समय में इसने अपना मत बदल दिया था। अब लार्ड कैनिंग की तरह इसकी राय में भी देशी राज्यों को बनाये रखना आवश्यक था।

भूटान की लड़ाई—सन् १८२६ में आसाम पर अधिकार हो जाने से अँगरेजी राज्य की सीमा भूटान से मिल गई थी। इस सीमा पर भूटानी प्राय लूट-मार किया करते थे। सन् १८६२ में इन झगड़ो को तय करने के लिए एक अँगरेज अफसर भेजा गया। भूटानियों ने उसका बड़ा अपमान किया और उससे एक सन्धि पर हस्ताक्षर करवा लिये, जिसमें आसाम में आने के लिए पहाड़ी मार्गों पर जो 'द्वार' कहलाते हैं, भूटानियों का अधिकार मान लिया गया। भारत-सरकार ने इस सन्धि को मानने से इनकार कर दिया और अँगरेज कैदियों को वापस करने के लिए भूटान को लिख भेजा। कोई उत्तर न मिलने पर युद्ध छिड़ गया। सन् १८६५ में भूटानियों ने देवनगिरि से अँगरेजी सेना को भगा दिया और दो तोपें छीन लीं। परन्तु अँगरेजों की अधिक सेना आ जाने के कारण अन्त में भूटानियों को हार मानकर सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। उनसे 'बारह द्वार' ले लिये गये और उनके बदले में उन्हें कुछ रुपया सालाना देने का वचन दिया गया।

अफ़ग़ानिस्तान—सन् १८६३ में अमीर दोस्तमुहम्मद की मृत्यु हो गई। विद्रोह के समय में यदि वह चाहता तो अँगरेजों से पेशावर छीन सकता था, परन्तु ऐसा न करके उसने उनके साथ बराबर मित्रता का व्यवहार किया। उसके १६ लड़के थे, इनमें से चार पाच गद्दी के लिए आपस में लड़ने लगे। जान लारेंस का यह मत था कि जो गद्दी पर बैठे उसके साथ मित्रता रखकर आपस के झगड़े में किसी तरह का हस्तक्षेप न करना चाहिए। इस नीति के अनुसार शेरअली या उसका भाई अफजल, जो गद्दी पर बैठ जाता था, वही अमीर मान लिया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि सब झगड़ो से बचने के लिए अँगरेजों के हक में यह बड़ी अच्छी नीति थी, परन्तु अफगानिस्तानवालों का

इससे असन्तुष्ट होना स्वाभाविक था। पहले शेरअली को मित्रता का विश्वास दिलाया गया, पर उसको हटाकर जब अफजल गद्दी पर बैठ गया, तब उसे बधाई का पत्र भेजा गया। इस पर एक अफगान सरदार का कहना था कि किसी जाति का अँगरेजों से पार पाना मुश्किल है। इस पत्र से अँगरेजों की यह इच्छा मालूम पड़ती है कि हम सब आपस ही में कट मरें। यदि शेरअली जीतता तो उसको भी इन्होंने ऐसा ही पत्र लिखा होता। इसी तरह शेरअली का कहना था कि अँगरेज अपने मतलब के सिवा और किसी बात को नहीं देखते। वे समय ताका करते हैं, जिसको वे सबसे जबरदस्त पाते हैं उसी के मित्र बन जाते हैं।[१]

मध्य एशिया में धीरे धीरे रूस दक्षिण की ओर बढ़ रहा था। इससे अफगानिस्तान की समस्या और भी जटिल हो गई थी। कुछ लोगों की राय थी कि रूस को रोकने के लिए अफगानिस्तान के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए, पर जान लारेंस इसकी आवश्यकता न समझता था। उसका कहना था कि रूसी तथा अँगरेजी साम्राज्यों की प्रभाव-सीमा रूस से ही मिलकर निश्चित कर लेनी चाहिए। मध्य एशिया में रूस का प्रभाव बढ़ जाने से कोई भय नहीं है। उससे वहाँ के जंगली मनुष्यों में कुछ सभ्यता आ जायगी। इसी लिए काबुल के सरदार को, प्रार्थना करने पर भी, भारत-सरकार की ओर से कोई सहायता नहीं दी गई। जान लारेंस की राय में अफगानिस्तान की ओर से भारतवर्ष की रक्षा का सबसे अच्छा उपाय यही था कि उसके झगड़ों में न पड़ा जाय, सीमा पर काफी सेना रखी जाय और भारतवर्ष के राजाओं को सन्तुष्ट रखा जाय। लार्ड लिटन के समय तक सरकार की यही नीति रही।

उड़ीसा का अकाल—सन १८६४ में उड़ीसा में बड़ा भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें लाखों आदमी मर गये। बंगाल-सरकार की ओर से जनता की रक्षा के लिए पहले से कोई उचित प्रबन्ध नहीं किया गया। यदि

---

[१] ह्वर, मेयो। (रूलर्स ऑफ इंडिया सिरीज) पृ० १०१—।

राजकुमारो के लिए अजमेर मे 'मेयो कालेज' खोला गया। लाहौर और राजकोट मे भी ऐसे ही कालेज स्थापित किये गये। इनमे राजकुमारो को अँगरेज शिक्षकों के साथ मिल-जुलकर रहने और पाश्चात्य आचार-विचार सिखलाने का प्रबन्ध किया गया। राष्ट्रीयता की दृष्टि से इन संस्थाओं का प्रभाव राज्यों के भावी शासकों पर अच्छा नहीं पड रहा है। बचपन से ही उन्हे पाश्चात्य ढग के रहन-सहन की शिक्षा मिलने लगती है। "शासन की जिम्मेदारी" का समझना तो दूर रहा, बडे होने पर बहुतों को यूरोप मे हवा खाने का चस्का लग जाता है।

शेरअली से भेंट—सन् १८६९ मे अफगानिस्तान के अमीर शेरअली के साथ अम्बाला मे लार्ड मेयो की भेंट हुई। शेरअली एक ऐसी सन्धि चाहता था, जिससे अँगरेज उसको साल मे कुछ रुपया दिया करें और आवश्यकता पडने पर सेना से उसकी सहायता करे। लार्ड मेयो ने यह तो स्वीकार नहीं किया, पर उसने इस ढग से काम लिया कि अमीर अगरेजो की नीति से अच्छी तरह सन्तुष्ट होकर अफगानिस्तान वापस गया। जान लारेंस की नीति से अमीर को जो सन्देह उत्पन्न हो गया था, वह इस भेंट से दूर हो गया। लार्ड मेयो भी उसी नीति का अनुयायी था, पर वह लारेंस की अपेक्षा अधिक नीतिनिपुण था। इसी लिए अमीर को उसने, अपने को बिना किसी प्रकार प्रतिज्ञाबद्ध किये हुए, अँगरेजों की मित्रता का विश्वास दिला दिया। इस भेंट का अमीर पर बहुत प्रभाव पडा। अफगानिस्तान जाकर, उसने शासन मे अँगरेजी ढग के कई एक सुधार किये। उसने कठोर दडो को उठा दिया, पुलिस को ठीक किया, न्यायालय तथा डाकखाने खोले और शासन में सहायता करने के लिए तेरह मेम्बरो की एक कौंसिल भी बनाई।

भारत की सीमाओं को सुरक्षित रखने के लिए लार्ड मेयो का मत था कि उसको सुदृढ तथा मित्रता का भाव रखनेवाले, स्वतन्त्र राज्यों से घेर देना चाहिए। अपने हित का ध्यान रखकर वे सदा हमारा साथ देंगे, फिर हमें किसी का भय नहीं रहेगा। अम्बाला-सम्मेलन के सम्बन्ध में उसका कहना था

कि इससे मध्य एशिया के राज्यों में अँगरेज़ों का प्रभाव बहुत बढ़ गया। हम यदि लोगों को यह समझा सकें कि वास्तव में हमारी नीति हस्तक्षेप न करने तथा शान्ति स्थापित रखने की है और इस समय एशिया में केवल हमारा ही एक ऐसा राज्य है, जो किसी पर आक्रमण नहीं करना चाहता, तो हम शक्ति की उस पराकाष्ठा पर पहुँच जायँगे, जो हमें पहले कभी नहीं प्राप्त हुई थी।[1] पश्चिम, उत्तर और पूर्व की सीमाओं के राज्यों के साथ उसने इसी नीति से काम लिया। रूस के साथ भी लार्ड मेयो ने समझौता कर लिया। आक्सस नदी के दक्षिण तक अफ़ग़ानिस्तान की उत्तरी सीमा मान ली गई और बदख़्शाँ पर भी अमीर का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। लार्ड मेयो की राय थी कि अँगरेज़ों की शक्ति इतनी दृढ़ है कि उसे रूस से कोई भय नहीं है। मध्य-एशिया में रूस के साथ छेड़खानी करने की अपेक्षा उससे मित्रता रखना ही अच्छा है।

आर्थिक प्रबन्ध—सर जान लारेंस के समय से सरकार का सालाना ख़र्च पूरा न पड़ता था इसलिए क़र्ज़ भी बहुत बढ़ गया था। इसको दूर करने के लिए लार्ड मेयो ने ख़र्च घटाने और आमदनी बढ़ाने का प्रबन्ध किया। इन दिनों 'पब्लिक वर्क्स' विभाग में ख़ूब रुपया उड़ रहा था। इंजीनियर लोग कोई काम अपनी निगाह से न देखते थे। लार्ड मेयो ने इस विभाग के ख़र्च को घटा दिया। इस समय तक बंगाल की अपेक्षा बम्बई और मदरास में नमक-कर कुछ कम था, इन दोनों प्रान्तों में यह कर बढ़ा दिया गया। 'इनकम टैक्स' (आय-कर) की दर भी बढ़ा दी गई। अर्थ-विभाग में हिसाब-किताब ठीक रखने का प्रबन्ध किया गया। इस समय तक प्रान्तीय सरकारों को बिना भारत सरकार की आज्ञा के रुपया ख़र्च करने का अधिकार न था। हर साल उन्हें अपना 'बजट' बनाकर भेजना पड़ता था और वहाँ से मंज़ूरी आ जाने पर उसी के अनुसार ख़र्च करना पड़ता था। आमदनी देखकर ख़र्च करना अर्थशास्त्र का साधारण सिद्धान्त है परन्तु इस प्रबन्ध से उसका

[1] लार्ड मेयो (रूलर्स ऑफ़ इंडिया सिरीज़), पृ० १८७-८।

भी पालन न होता था। कुल आमदनी भारत-सरकार की थी, प्रान्तीय सरकारों को उसका कुछ भी ध्यान न रहता था, उन्हें केवल अपने खर्च से मतलब था। इसके लिए जो रकम मंजूर होती थी, उसमें यदि कुछ बच रहता था तो उसको भारत-सरकार ले लेती थी। ऐसी दशा में किफायत से खर्च करने की ओर प्रान्तीय सरकारों का ध्यान भी न जाता था। हर एक सरकार अपना बजट खूब बढ़ा-चढ़ाकर भेजती थी, जो सबसे अधिक लिखा-पढ़ी करती थी, उसी को सबसे बड़ी रकम भी मिलती थी। इससे शासन में भी बड़ी बाधा पड़ती थी, कभी कभी तो जरूरी रकमों को भी भारत-सरकार स्वीकार न करती थी।

इस दशा को सुधारने के लिए लार्ड मेयो ने प्रान्तों के लिए सालाना रकम निश्चित कर दी और यह नियम बना दिया कि जिस प्रान्त की जो बचत हो, वह उसी के काम में आये और हर पाँचवें साल, किस प्रान्त को कितना मिलना चाहिए, इसकी जांच की जाय। इस रकम को खर्च करने का पूरा अधिकार प्रान्तीय सरकारों को दे दिया गया और जेल, रजिस्ट्री, पुलिस, शिक्षा तथा सड़क और सरकारी इमारतों का काम उन्हीं को सौंप दिया गया। इन सुधारों से प्रान्तीय सरकारों में जिम्मेदारी का भाव आ गया और वे समझ बूझकर काम करने लगीं। इस तरह कुछ काम बँट जाने से भारत-सरकार को भी सारे देश से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों पर विचार करने का समय मिल गया।

खेती और व्यापार की उन्नति करने के लिए लार्ड मेयो के समय में एक नया विभाग खोला गया। कई एक नई नहरें खोदवाई गईं और रेल की नई लाइनें खोली गईं। घाटे का भय न होने के कारण रेलवे कम्पनियां मनमाना खर्च करती थीं और नई लाइनें खोलने में सरकार की सैनिक तथा राजनैतिक सुविधाओं की ओर विशेष ध्यान न देती थीं। इन दोषों को दूर करने के लिए लार्ड मेयो ने सरकारी रेलें खोलने की व्यवस्था की। उसके सुधारों का परिणाम यह हुआ कि भारत-सरकार को हर साल बजाय घाटा के कुछ बचत होने लगी।

लार्ड मेयो की मृत्यु—लार्ड मेयो को जेलों की दशा सुधारने की बड़ी चिन्ता थी। उसका कहना था कि इनमें कैदियों की रक्षा करना है न कि उन्हें मार डालना है। शासन-प्रबन्ध ठीक करने के लिए सन १८७२ में वह अण्डमन द्वीप, जहाँ काले पानी के अपराधी रखे जाते हैं, देखने गया। वहाँ नाव पर सवार होते समय एक पठान कैदी ने उसको मार डाला। मेयो बड़ा उत्साही शासक था अपने शिष्टाचार से वह सबको प्रसन्न रखता था। उसके शासनकाल में भारतवर्ष में पूर्ण शान्ति रही। इंग्लैंड से नये वाइसराय लार्ड नार्थब्रुक के आने तक गवर्नर-जनरल के पद पर मदरास का गवर्नर नेपियर काम करता रहा।

लार्ड नार्थब्रुक—मई सन १८७२ में लार्ड नार्थब्रुक भारतवर्ष पहुँचा। वह इंग्लैंड के बड़े धनी घराने का था और युद्धविभाग में कुछ दिन काम कर चुका था। वह बहुत सोच-विचारकर चलता था और बड़े उदार विचार का शासक था। उसमें दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति का अभाव था, यही कारण था कि बहुत से कामों में उसको सफलता न मिली थी। अपनी नीति के सम्बन्ध में वह स्वयं लिखता है कि "अनुचित "टैक्सों को उठा देना और अनावश्यक कानून बनाने से रोक देना मेरा उद्देश्य रहा है।" हर एक बात में निरर्थक हस्तक्षेप करना वह पसन्द न करता था। "जैसा कुछ है उसे चलने दो यही उसकी नीति थी।[1] यद्यपि टैक्स का उठा देना" उसने अपनी नीति का उद्देश्य बतलाया है, पर भारत की गरीब जनता के सम्बन्ध में उसने इससे काम नहीं लिया। 'इनकम टैक्स' उठा देने से धनी व्यापारी, जमींदार और भारत में बसनेवाले अँगरेजों का ही भला हुआ। भारत की आर्थिक दशा का ज्ञान रखनेवाले सर रिचर्ड टेम्पिल और सर जान ... का मत था कि यदि टैक्स उठाना ही है, तो नमक-कर माफ कर देना चाहिए जिससे कितने ही दरिद्रों का उपकार होगा। भारतसचिव की भी यही राय थी। परन्तु लार्ड नार्थब्रुक अपनी ही बात पर डटा रहा।

स्वतन्त्र व्यापार—इन दिनों इंग्लैंड में 'स्वतन्त्र व्यापार' के सिद्धान्त की धूम थी। कहा जाता था कि व्यापार की वस्तुओं पर चुंगी न

[1] [illegible], नार्थब्रुक, पृ० ६९, १८[illegible]।

२२

लगाने से वे सस्ती पड़ेगी, जिससे सारे संसार का लाभ होगा। इसी सिद्धान्त के अनुसार बाहर से आनेवाले माल पर चुंगी उठाई जा रही थी। सन् १८६९ में स्वेज़ की नहर का मार्ग खुल जाने से भारतवर्ष के साथ इँग्लेंड का व्यापार बहुत बढ़ गया था। सन् १८६० तक भारतवर्ष में बाहर से आनेवाले माल पर १० सैकड़ा और बाहर जानेवाले माल पर ३ सैकड़ा चुंगी लगती थी। सन् १८६४ से बाहर से आनेवाले माल पर चुंगी घटाकर साढ़े सात सैकड़ा कर दी गई थी। सन् १८७५ में लार्ड नार्थब्रुक ने इसको घटाकर पाँच ही सैकड़ा कर दिया। तेल, चावल, नील तथा लाख को छोड़कर बाहर जानेवाले सब माल पर चुंगी उठा दी गई। इसका फल यह हुआ कि भारतवर्ष से कच्चा माल तथा अन्न खूब बाहर जाने लगा और बना हुआ माल यूरोप से भारतवर्ष भी ख़ूब आने लगा। मैंचेस्टर के बने हुए कपड़े पर इँग्लेंड-सरकार पाँच सैकड़ा चुंगी भी माफ कर देना चाहती थी, पर नार्थब्रुक इसके लिए राजी न हुआ। उसकी राय थी कि भारत-सरकार को आमदनी की इस घटी का पूरा करना मुश्किल हो जायगा। इँग्लेंड ऐसे देश के लिए, जिसकी औद्योगिक कलाएँ पूरी उन्नति कर चुकी हैं और जिसका जीवन व्यापार ही पर निर्भर है, 'स्वतंत्र व्यापार' का सिद्धान्त ठीक है, परन्तु भारतवर्ष ऐसे देश के लिए जहाँ की सब कलाएँ चौपट कर दी गई हैं और जिसका खेती ही केवल आधार बना दी गई है, यह सिद्धान्त हितकर नहीं माना जा सकता। इससे उसका अन्न तथा कच्चा माल बाहर चला जाता है और विलायती माल सस्ता पड़ने से किसी उद्योग के लिए भी उत्साह नहीं मिलता है।

मल्हारराव गायकवाड़—सन् १८७५ में मल्हारराव गायकवाड़ बड़ौदा की गद्दी से उतार दिया गया। कहा जाता है कि वह अँगरेज रेजीडेंट को जहर देना चाहता था। इसकी जाँच करने के लिए, ग्वालियर और जयपुर के महाराजा, निजाम के वज़ीर, इन्दौर के दीवान और तीन अँगरेज अफसरों का एक कमीशन नियुक्त किया गया। इस कमीशन के सब हिन्दुस्तानी मेम्बरों ने महाराजा को निर्दोष पाया। इस पर यह अभियोग छोड़कर भारतसचिव की सलाह से कहा गया कि उसके राज्य का प्रबन्ध को

बार चेतावनी देने पर भी ठीक ठीक नहीं हो रहा है, और वह गद्दी से उतार दिया गया। डलहौजी की नीति के अनुसार उसके राज्य का अपहरण नहीं किया गया बल्कि राजघराने का एक बालक गद्दी पर बिठला दिया गया और सर माधवराव दीवान बनाया गया, जिसके समय मे राज्य की बहुत कुछ उन्नति हुई।

युवराज का आगमन—सन् १८७५ मे इँग्लेंड के युवराज एडवर्ड ने भारत-भ्रमण किया। देश भर मे बड़ी धूमधाम से उसका स्वागत किया गया। भारतवर्ष मे राज्य का स्वरूप राजा है। उसके लिए भारतवासियो के हृदय मे सदा आदर रहता है। कम्पनी का शासन साधारण जनता की समझ मे न आता था। बहुतो का तो अनुमान था कि कम्पनी किसी रानी का नाम था, जो इँग्लेंड मे रहती थी। वे उसको 'कम्पनी जहाँ' कहा करते थे। मुगल बादशाहो के बाद मे सारे देश पर शासन करनेवाले घराने के राजकुमार को देखने का उन्हे फिर अवसर प्राप्त हुआ। देशी नरेशो ने अपनी राजभक्ति का परिचय दिया। उनके साथ अँगरेज अफसरो का उद्दंड व्यवहार देखकर एडवर्ड को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने इस सम्बन्ध मे अपनी माता को लिखा।[1] इस सहानुभूति से इँग्लेंड के राजघराने के साथ देशी नरेशो का सम्बन्ध दृढ हो गया। एडवर्ड के बाद से प्रत्येक युवराज के भारतवर्ष आने की चाल पड़ गई।

नार्थब्रुक का इस्तीफ़ा—सन् १८७३ मे रूसियो ने मध्य एशिया मे खीवा पर अधिकार कर लिया। इससे घबड़ाकर अफ़गानिस्तान के अमीर शेरअली ने अँगरेजो के साथ अपना सम्बन्ध दृढ बनाने के लिए एक दूत शिमला भेजा, परन्तु इसका कोई फल नहीं हुआ। इस समय तक अफ़गानिस्तान के प्रति इँग्लेंड तथा भारत-सरकार की वही नीति थी जिसका प्रारम्भ लार्ड कनिंग और सर जान लारेंस के समय मे हुआ था। लार्ड मेयो ने बड़ी चतुरता से बिना कोई सन्धि किये हुए भी अमीर को अपना मित्र बना लिया था, पर लार्ड नार्थब्रुक मे यह बात नहीं थी। रूसियो के विरुद्ध अँगरेजो से सहायता का कोई वचन न मिलने पर अमीर कुछ रुष्ट हो गया। इसने उसने

[1] प्रिंस ऑफ प्रिंसेज, ब्रिटिश क्राउन एंड दि इंडियन स्टेट्स, पृ० ७१।

बड़े लड़के याकूबखाँ को कैद कर दिया था। इस सम्बन्ध में लार्ड नार्थब्रुक ने एक कड़ा पत्र लिखकर उसको और भी चिढ़ा दिया। इतने ही में इँग्लैंड की सरकार दूसरे दल की हो गई और उसने राय दी कि शेरअली से अपने दरबार में अँगरेज रेजीडेंट रखने के लिए कहा जाय। लार्ड नार्थब्रुक इस बात पर राजी न हुआ। उसने भारतसचिव सालिसबरी को लिख भेजा कि अमीर पर सन्देह करना ठीक नहीं है। परन्तु भारतसचिव अपनी ही बात पर डटा रहा। इस तरह दोनों में मतभेद होने के कारण लार्ड नार्थब्रुक सन् १८७६ में इस्तीफा देकर इँग्लैंड लौट गया। चलते समय वह भारतसचिव को सचेत कर गया कि अमीर की इच्छा के विरुद्ध अँगरेज रेजीडेंट रखने का परिणाम यह होगा कि शीघ्र ही अफगानिस्तान से युद्ध करना पड़ेगा। उसकी यह बात सच निकली।

लार्ड लिटन

लार्ड लिटन—

अप्रैल सन् १८७६ में लार्ड लिटन वाइसराय होकर कलकत्ता पहुँचा। अँगरेजी भाषा का वह एक अच्छा विद्वान् और सुयोग्य लेखक था। बोलने का भी उसे खूब अभ्यास था। परन्तु शासन का कोई विशेष अनुभव न था। इसी लिए वाइसराय के उच्च पद पर उसकी नियुक्ति से बहुतों को आश्चर्य हो रहा था। अपनी नीतिज्ञता का परिचय वह कई दरबारों में अवश्य दे चुका था। इँग्लैंड के प्रधान सचिव लार्ड

मैकनफील्ड की राय में इस समय मध्य एशिया की जटिल समस्या को सुलझाने के लिए एक नीतिज्ञ की ही आवश्यकता थी। इसी लिए लार्ड लिटन वाइसराय बनाकर भेजा गया।

दिल्ली दरबार—अब विक्टोरिया एक छोटे से द्वीप इंग्लैंड की ही रानी न थी रूस को छोडकर सारे यूरोप के बराबर, सागर से लेकर हिमालय तक भारत पर उसका आधिपत्य था। बडे बडे राजा, महाराजा और नवाब उसके अधीन थे। ऐसी दशा में उसको नई उपाधि देने के प्रश्न पर कुछ दिनो से विचार हो रहा था। सन् १८७६ में पार्लामेंट की राय से उसको 'कैसरहिन्द' की उपाधि दी गई। जनवरी सन १८७७ में दिल्ली में एक बडा भारी दरबार किया गया, जिसमें राजा महाराजाओ ने उसको भारत की सम्राज्ञी स्वीकार किया।

दक्षिण में अकाल—जिस समय दिल्ली में यह आनन्द मनाया जा रहा था दक्षिण में भयकर अकाल पड रहा था। कहा जाता है कि उसमें लाखो मनुष्य बिना अन्न के भूखो मर गये। मध्यप्रान्त और पश्चिमोत्तर प्रान्त में भी अन्न की कमी थी। लार्ड लिटन ने उस कष्ट को दूर करने के लिए कुछ प्रयत्न अवश्य किया। अकाल-पीडितो में जो लोग काम करने योग्य थे उनको किसी काम में लगाया और बाकी लोगो में अन्न तथा रुपया बँटवाया। मद्रास में इस धन के खर्च में बडा गोलमाल हो रहा था, लार्ड लिटन ने स्वय वहा जाकर सब प्रबन्ध ठीक किया। सर रिचर्ड स्ट्रैची की अध्यक्षता में अकाल सम्बन्धी विषयो की खूब जाच की गई और भविष्य में पीडित लोगो की रक्षा के लिए कुछ रुपया अलग रखना तथा एक नया कर लगाना निश्चित किया गया। जिन जिलो में अकाल से बडी हानि हुई थी, वहा नहरे और रेल [illegible] का प्रबन्ध किया गया।

आर्थिक प्रबन्ध—सन १८७६ में लार्ड लिटन ने पश्चिमोत्तर प्रान्त के लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर जान स्ट्रैची को अर्थसदस्य बनाया। उसने नमक-कर का प्रबन्ध ठीक किया। इस समय तक भिन्न भिन्न प्रान्तो में इसकी दर [illegible] थी और देशी राज्यो से चुराकर नमक आता था। इसको रोकने के

लिए अटक से लेकर महानदी तक ईंट-पत्थर और कटीले वृक्षों की एक दीवाल सी बना दी गई थी, जो 'चुंगी की लाइन' कहलाती थी। बारह हजार कर्मचारी इसकी देख-रेख रखते थे और बिना चुंगी का नमक घुसने न देते थे। इस ढंग से खर्च अधिक पड़ता था, काम भी पूरा न होता था और कर्मचारी घूस खाते थे। जान स्ट्रैची ने यह भद्दा प्रबन्ध उठा दिया और जिन राज्यों में नमक बनता था, उन्हें कुछ रुपया देकर, उनसे नमक का कुल अधिकार अपने हाथ में ले लिया।

स्वतंत्र व्यापार के नाम पर लंकाशायर के कपड़ा बनानेवालों की फिर से सहायता की गई। सन् १८७७ में पार्लामेंट ने यह प्रस्ताव पास किया कि भारतवर्ष में विलायती कपड़े पर चुंगी लगना "उचित व्यापार-नीति" के विरुद्ध है, इसलिए उसको उठा देना चाहिए। गवर्नर-जनरल की कौंसिल के तीन मेम्बरों ने केवल सरकारी आमदनी की दृष्टि से इसका विरोध किया, पर लार्ड लिटन ने, कौंसिल के अधिकांश मत को न मानकर, सन् १८७९ में सूती मोटे कपड़े पर से चुंगी उठा दी। प्रान्तों के खर्चे के लिए इस समय तक भारत सरकार के खजाने से रुपया दिया जाता था, सर जान स्ट्रैची की सलाह से अब यह नियम बना दिया गया कि उन्हें आमदनी का कुछ भाग दे दिया जाय। इस तरह प्रान्तीय सरकारों को जिम्मेदार और स्वतंत्र बनाने के लिए जिस सिद्धान्त का प्रारम्भ लार्ड मेयो के समय में हुआ था, उसकी वृद्धि की गई।

अलीगढ़ कालेज—इस समय तक मुसलमानों में अँगरेजी शिक्षा का प्रचार अधिक नहीं हो रहा था, पर अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दुओं की संख्या बराबर बढ़ रही थी और उन्हें सरकारी नौकरियाँ भी मिल रही थीं। लार्ड मेयो के समय में मुसलमानों की शिक्षा के लिए कुछ विशेष प्रबन्ध किया गया था, अब सर सैयद अहमद के सराहनीय उद्योग से 'अलीगढ़ कालेज' खोला गया। इसके लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही चन्दा दिया। सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों की सामाजिक दशा सुधारने के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया। यद्यपि वह तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन के पक्ष में

न था, पर भारतवर्ष के हित के लिए वह हिन्दू और मुसलमानों की एकता को नितान्त आवश्यक समझता था। उसका कहना था कि "हिन्दू और मुसलमान भारतवर्ष की दो आँखें हैं।"

वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट—

सरकार की नीति से जनता में धीरे धीरे असन्तोष फैल रहा था। रूस के साथ जैसा कुछ व्यवहार किया जा रहा था उसकी हिन्दुस्तानी समाचार पत्रों में बड़ी तीव्र आलोचना की जा रही थी। इस पर सन् १८७८ में लार्ड लिटन ने यह कानून बना दिया कि देशी भाषाओं में प्रकाशित होनेवाले समाचारपत्रों के सम्पादकों को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि वे कोई ऐसी बात न लिखेंगे, जिससे सरकार के प्रति या भिन्न भिन्न जाति तथा धर्मवालों में परस्पर द्वेष फैले। इस कानून से देशी भाषाओं के समाचारपत्रों की स्वाधीनता छिन गई। कौंसिल के कुछ मेम्बरों ने इसका विरोध भी किया, परन्तु लार्ड लिटन ने किसी की नहीं सुनी।
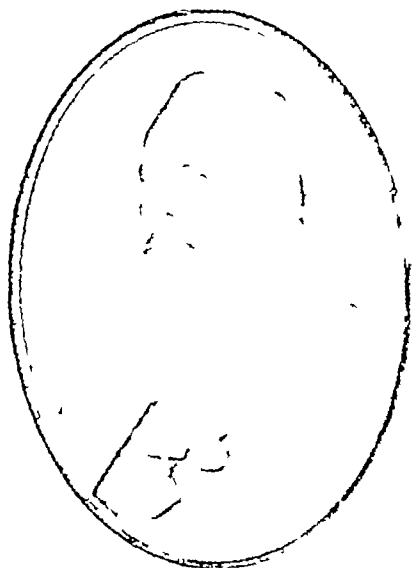
सैयद अहमद खाँ

उसको भय था कि अँगरेज दूत की रक्षा करना बड़ा मुश्किल होगा। यह बात ठीक भी थी, उन दिनों काबुल में खबरें उड़ रही थीं कि रूस और इँग्लेंड दोनों अफगानिस्तान को आपस में बाँट खाना चाहते हैं। लार्ड लिटन की दृष्टि में अँगरेजों का यह अपमान किया गया। सन् १८७६ में किलात के खान से उसने क्वेटा ले लिया। पहले अफगान-युद्ध में यहाँ से सेना गई थी। इससे अमीर को युद्ध का सन्देह होने लगा। जनवरी सन् १८७७ में उसका दूत सैयद नूरमुहम्मद सन्धि की शर्तें तय करने के लिए पेशावर आया। उसका कहना था कि "अँगरेज राष्ट्र बली है और उसकी शक्ति भी बहुत है। अफगान लोग उसका सामना नहीं कर सकते, परन्तु वे स्वेच्छाचारी तथा स्वतन्त्र हैं और उनकी दृष्टि में जीवन की अपेक्षा सम्मान का मूल्य अधिक है।" ऐसी दशा में अँगरेज रेजीडेंट रखना ठीक नहीं है, क्योंकि उसकी रक्षा करना बड़ा कठिन है। इसके अतिरिक्त अँगरेज हर एक बात पर निगाह रखते हैं। इस सम्बन्ध में उसने स्पष्ट कह दिया कि "हमें आपका विश्वास नहीं है। हमें भय है कि हमारे सम्बन्ध की सब बातें लिखी जायँगी और किसी दिन उन्हीं से हमारे विरुद्ध काम लिया जायगा।"

नूरमुहम्मद की ये बातें लार्ड लिटन की समझ में न आई। उसको यह सलाह दी जा रही थी कि काबुल और किलात ऐसे राज्यों के सम्बन्ध में यह बराबर ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी है, हम खूब सभ्य भी हैं और वे हमारे मुकाबले में कमजोर तथा आधे जंगली हैं।[१] नूरमुहम्मद की मृत्यु हो जाने पर दूसरे अफगान दूत के आने की बिना प्रतीक्षा किये हुए ही लार्ड लिटन ने सन्धि का प्रयत्न छोड़ दिया और लार्ड आकलैंड की तरह पेशावर की बातचीत का मनमाना वर्णन इँग्लेंड लिख भेजा। उसने पश्चिमोत्तर सीमा की जातियों को भी भड़काने का प्रयत्न किया और गुप्त रीति से महाराजा काश्मीर को समझा-बुझाकर गिलगिट में कुछ अँगरेजी सेना भेज दी। सीमा पर के अफसरों ने लार्ड लिटन को सचेत भी किया कि इस ढंग से शेरअली के साथ कोई समझौता न होगा। पर उसने

१ रॉबर्ट्स, हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, पृ० ४३७।

किसी की भी न सुनी। वह "अफगान शक्ति को कमजोर और चीर फाड़ करके छिन्न-भिन्न करने पर तुला हुआ था, जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है।

इधर तुर्किस्तान के सम्बन्ध में रूस और इंगलैंड की आपस में कुछ अनबन हो गई थी। इसलिए इंगलैंड को रूसियों का फिर डर सा भर रहा था। इतने ही में ताशकन्द से एक रूसी अफसर काबुल की तरफ बढ़ा। अमीर ने समझा-बुझाकर उसको लौटाने का बड़ा प्रयत्न किया परन्तु रूस ने उसको गद्दी से उतार देने की धमकी दी, इस पर

दर्रा खैबर के अफ्रीदियों को घूस दे दिलाकर चेम्बर्लेन अलीमस्जिद तक पहुँच गया। वहां उसको अफगान सिपाहियों ने बिना अमीर की आज्ञा पाये हुए आगे बढने से रोक दिया, इस पर वह पेशावर लौट आया। लार्ड लिटन की राय मे अँगरेजी दूत को यह "जबरदस्ती निकाल देना" था। इसके लिए अमीर से माफी मांगने को कहा गया, तब उसने दूत को काबुल आने की अनुमति दे दी। लार्ड लिटन को इतने पर भी सन्तोष न हुआ और अफगानिस्तान के साथ युद्ध की घोषणा कर दी गई।

इस युद्ध के सम्बन्ध मे 'लिबरल' दल के नेता ग्लैडस्टन का कहना था कि सन् १८३८ मे हमने भूल से अफगानिस्तान के साथ लडाई की थी। भूल करना मनुष्य का स्वभाव है और क्षमा के योग्य भी है। परन्तु दूसरी बार बिना किसी समर्थन के फिर हम वैसी ही भूल कर रहे है। सब तरह की चेतावनी मिलते हुए भी हम उस भूल को दोहरा रहे हैं। सन् १८४१ मे हमारी सेना पर जो विपत्ति पडी थी, वह भी फिर कहीं दोहरा न जाय ?

गडमक की सन्धि—अँगरेजी सेना ने तीन ओर से अफ़गानिस्तान मे प्रवेश किया। जनरल रावर्ट्स कुर्रम की घाटी से काबुल की तरफ बढा। अफगान लोगो ने अँगरेजो का सामना नहीं किया। कहीं से सहायता न मिलने पर शेरअली रूस भाग गया, वहीं १८७९ मे उसकी मृत्यु हो गई। उसके लड़के याकूबखां ने अँगरेजो के साथ सन्धि कर ली, जिसके अनुसार अफगानिस्तान की विदेशी नीति मे उसने अँगरेजो की सलाह लेना और काबुल मे अँगरेज रेज़ीडेंट रखना स्वीकार कर लिया। कुर्रम की घाटी अँगरेजो के अधिकार में आ गई और उन्होने बाहरी आक्रमण से अमीर की रक्षा करने और ६ लाख रुपया सालाना देने का वचन दिया। लार्ड लिटन की नीति की विजय हुई। इंग्लैंड के प्रधान सचिव बेकनसफील्ड की राय मे "भारतीय साम्राज्य की वैज्ञानिक तथा समुचित सीमा" स्थापित हो गई।

परन्तु यह सन्धि अधिक दिनो तक कायम न रही। अँगरेज रेजीडेंट कैवेग्नरी, काबुल पहुँचने के कुछ ही दिन बाद, मार डाला गया। लार्ड लिटन लिखता है कि "नीति का जाला, जो बडी चतुरता और धैर्य्य के साथ

बुना गया था, सहसा टूट गया। पिछले युद्ध में मैंने जिस बात के बचाव के लिए प्रयत्न किया था, अन्त में वही हुआ।" फिर से युद्ध छेड़ा गया, याकूब अँगरेज़ों की शरण में आ गया और काबुल पर अँगरेज़ों का अधिकार हो गया। रेज़ीडेंट की हत्या में कोई दोष न होते हुए भी याकूबखाँ कैद करके भारतवर्ष भेज दिया गया और उसकी जगह पर शेरअली का एक भतीजा अब्दुर्रहमान काबुल का अमीर बनाया गया। कन्दहार और हिरात पर दूसरे सरदारों का अधिकार मान लिया गया। इस तरह लार्ड लिटन का अफ़गानिस्तान को छिन्न भिन्न करने का उद्देश्य सफल हुआ।

परिच्छेद १५

राष्ट्रीयता का जन्म

लार्ड रिपन——वाइसराय के पद पर नियुक्त होने के समय लार्ड रिपन की अवस्था ५३ वर्ष की थी। 'रोमन कैथलिक' होने के कारण उसको वाइसराय बनाने का इँग्लेंड में बड़ा विरोध किया गया, परन्तु 'लिबरल सरकार' की दृष्टि में लार्ड लिटन की नीति से जो क्षति हुई थी, उसकी पूर्ति करने के लिए वह सर्वथा उपयुक्त था। भारतवर्ष पहुँचने पर उसके सामने सबसे मुख्य प्रश्न अफगानिस्तान का था। उसकी राय में रूस के आक्रमण का बहाना करके लार्ड लिटन अफगानिस्तान को अंगरेजी राज्य में मिला लेना चाहता था। वह लिखता है कि लार्ड लिटन की दृष्टि काश्मीर पर भी थी और उस 'चाद' को भी छीन लेने का प्रयत्न हो रहा था।[1]

रिपन

इँग्लेंड-सरकार ने लार्ड लिटन की इस नीति को बिलकुल बदल देना निश्चित कर लिया था। भारतसचिव लार्ड हारटिंगटन भारतवर्ष की रक्षा के लिए अफगानिस्तान के राज्य को सुदृढ़ बनाये रखना आवश्यक समझता था।

---

1 उल्फ, लार्ड रिपन, जि० २, पृ० १९–२०।

अमीर अब्दुर्रहमान—लार्ड लिटन की नीति से अफ़गानिस्तान छिन्न-भिन्न और निर्बल हो गया था। अब्दुर्रहमान केवल काबुल का शासक था। हिरात पर शेरअली का एक लड़का अयूबखाँ राज्य कर रहा था। कन्दहार एक दूसरे ही सरदार के पास था। इस तरह अफ़गानिस्तान में तीन स्वतन्त्र शासक थे। अँगरेज़ी सेना के हटने के पहले ही इन तीनों में युद्ध छिड़ गया। अयूबखाँ ने मेवान्ड में अँगरेज़ी सेना को हरा दिया। इस युद्ध में लगभग एक हज़ार अँगरेज़ मारे गये। इस हार का बदला जनरल रार्बर्ट्स ने कन्दहार में लिया। अयूबखाँ हारकर हिरात लौट गया। अब अँगरेज़ी सेना का अफ़गानिस्तान में रखना उचित न समझा गया और सन् १८८१ में काबुल और कन्दहार खाली कर दिये गये। इस पर अयूबखाँ ने हिरात से निकलकर कन्दहार छीन लिया, परन्तु इस बार बिना अँगरेज़ों की सहायता के ही अब्दुर्रहमान ने इसको हराकर फ़ारस भगा दिया और कन्दहार तथा हिरात पर अधिकार कर लिया। कन्दहार के शासक के साथ अँगरेज़ों की सन्धि थी, परन्तु इसको समझा-बुझाकर अँगरेज़ों ने शान्त कर दिया। इस तरह अब्दुर्रहमान पूरे अफ़गानिस्तान का अमीर बन गया।

समय से मैसूर का शासन बड़े अच्छे ढंग से हो रहा है। दीवान को सलाह देने के लिए प्रजा के प्रतिनिधियों की एक सभा भी बन गई है और राज्य की बराबर उन्नति हो रही है।

देशी समाचारपत्रों की स्वाधीनता—इँग्लेंड की 'लिबरल सरकार' की दृष्टि में लार्ड लिटन के 'वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट' से देशी भाषाओं में छपनेवाले समाचारपत्रों के साथ बड़ा अन्याय किया गया था। इस सम्बन्ध में पार्लामेंट में भी चर्चा चल रही थी और प्रधान सचिव ग्लेडस्टन इसको रद्द करने के लिए चिन्तित था। परन्तु वाइसराय की कौंसिल में इस समय भी बहुत से लार्ड लिटन की नीति के समर्थक थे, इसलिए लार्ड रिपन को इस "घृणित कानून" के रद्द करने में बड़ी चतुरता से काम लेना पड़ा।

स्थानीय स्वशासन—अँगरेजी शिक्षा, रेल, तार, डाक और समाचारपत्रों से धीरे धीरे भारतवर्ष के विचारों में बड़ा परिवर्तन हो रहा था। जिस ढंग से इस समय भारतवर्ष का शासन किया जा रहा था, लार्ड रिपन की राय में अब वैसा करना अधिक दिनों तक सम्भव न था। उसका मत था कि यथासम्भव भारतवासियों को शासनप्रबन्ध में कुछ भाग देना चाहिए। इसी उद्देश्य से उसने स्थानीय स्वशासन स्थापित करने का प्रबन्ध किया। इसके अनुसार जिलों और तहसीलों में बोर्ड स्थापित किये गये और उनको देहातों की सफाई, शिक्षा का प्रबन्ध और सड़कें बनाने का काम सौंपा गया। खर्च के लिए वहाँ की आमदनी का कुछ भाग उन्हें दे दिया गया। नामजद करने की अपेक्षा मेम्बरों को चुनने पर अधिक जोर दिया गया। जिला या 'डिस्ट्रिक्ट बोर्ड' के सम्बन्ध में लार्ड रिपन की राय थी कि जहाँ तक सम्भव हो इसमें "बड़े साहब" का हस्तक्षेप बहुत कम होना चाहिए। ऐसा न करने से शासन की शिक्षा देने का उद्देश्य नष्ट हो जायगा और केवल जिलाअफसर की आज्ञा का पालन होने लगेगा। तहसील, तालुका या 'लोकल बोर्ड' को स्थापित करके वह गाँवों की प्राचीन स्वशासन-व्यवस्था को फिर से जागृत करना चाहता था। इस सम्बन्ध में उसका कहना था कि मेरा उद्देश्य अँगरेजी संस्थाओं के प्रचार करने का नहीं है। हमने देशी स्वशासन

व्यवस्था को बहुत कुछ नष्ट कर डाला है, पर तब भी देश के बहुत से भागों में यह थोड़ी बहुत इस समय भी मौजूद है। इसी के आधार पर मैं स्थानीय स्वशासन की इमारत को खड़ा करना चाहता हूँ।[1] परन्तु इसका यह उद्देश्य सफल न हो सका। गाँवों के प्राचीन संगठन को अंगरेजी शासन ने बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था। इसके पुनरुद्धार के लिए अधिकांश अफसरों से वाद उत्साह न था।

शहरों में म्युनिसिपलिटियों के अधिकार बढ़ा दिये गये और जनता द्वारा मेम्बरों के चुने जाने का प्रबन्ध किया गया। कलकत्ता बम्बई और मद्रास में पहले से ही ऐसा होता था, परन्तु अब यह अधिकार धीरे धीरे अन्य नगरों को भी मिल गया। लार्ड रिपन की राय थी कि जहाँ तक सम्भव हो म्युनिसिपल बोर्डों का अध्यक्ष गैरसरकारी होना चाहिए, परन्तु बहुत दिनों तक ऐसा न हो सका। जिलों और शहरों में बोर्डों के स्थापित हो जाने से आमदनी और खर्च के प्रबन्ध में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। पहले कुल प्रबन्ध भारत-सरकार के हाथ में था। लार्ड मेयो के समय से प्रान्तीय सरकारों को इसमें कुछ भाग दिया गया था, अब कुछ भाग जिलों को भी मिल गया। इस तरह धीरे धीरे जिम्मेदारी सबमें बँट गई।

हिन्दुस्तानियों को "बातें करने और काम करने" के भेद का पता लग सकेगा।[१] कुछ दिनों तक इन बोर्डों का काम ठीक ठीक न चला, पर वह इससे निराश नहीं हुआ। उसकी राय में इनके स्थापित करने का सब से बड़ा भारी लाभ यह था कि जनता की "राजनीति और शासन में शिक्षा" हो रही थी।

आर्थिक सुधार—लार्ड रिपन भी स्वतन्त्र व्यापार-नीति का पक्षपाती था। सन् १८८२ में उसने नमक, शराब और अस्त्र-शस्त्र छोड़कर बाकी सब विलायती माल पर चुंगी उठा दी। इससे विलायत के व्यापारियों का ही अधिकतर लाभ हुआ। पर साथ ही साथ उसको भारत की दरिद्र जनता का भी ध्यान रहा और उसने नमक-कर घटा दिया। देश भर में इस्तमरारी बन्दोबस्त जारी करने की बहुत दिनों से बात चल रही थी। इसके विरोधियों का कहना था कि ऐसा करने से सरकार का नुकसान होगा। खेती में जो कुछ आमदनी बढ़ेगी, उसमें सरकार को कोई हिस्सा न मिलेगा। बीस तीस वर्ष का बन्दोबस्त कर देने से खेती में उन्नति करने का काफी समय भी मिल जाता है और सरकार की भी कोई हानि नहीं होती है। इसके प्रतिकूल इस्तमरारी बन्दोबस्त के समर्थकों का कहना था कि ऐसा करने से सरकार को बार बार बन्दोबस्त का खर्च न उठाना पड़ेगा, अपने लाभ की दृष्टि से खेती की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा और प्रजा की दशा अच्छी होने से अन्य करों द्वारा सरकार की हानि भी पूरी हो जायगी। कुछ लोगों का तो कहना था कि इस्तमरारी बन्दोबस्त हो जाने से अकालों की अधिक सम्भावना न रहेगी, क्योंकि जनता का ध्यान खेती की ओर अधिक जायगा। यह बात भले ही ठीक न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि जमीन का लगान बहुत ज़्यादा लिया जाता था। सन् १८७९ में विलियम हंटर का कहना था कि दक्षिण में किसानों को इतना भी नहीं बचता कि वे साल भर तक अपने कुटुम्ब का पालन कर सकें। सन् १८८१ में लार्ड नार्थब्रुक ने भी माना था कि "ज़मीन का लगान बहुत ज़्यादा लिया जाता है।"

---

[१] उल्फ, लार्ड रिपन, पृ० १०१–१०२।

सन् १८६२ में इँग्लेंड-सरकार ने इस्तमरारी बन्दोबस्त जारी करने के प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लिया था, परन्तु इस सम्बन्ध में भारत-सरकार से बराबर लिखा-पढ़ी होती रही। लार्ड मेयो ने इसका बड़ा विरोध किया। अन्त में सन् १८८३ में यह विचार त्याग दिया गया। लार्ड रिपन की राय थी कि जिन ज़िलों की पूरी पैमायश करके मालगुजारी बाँधी गई है, उन्हें यह वचन दे देना चाहिए कि सिवा दाम बढ़ जाने के मौके को छोड़कर और कभी दाद इज़ाफ़ा न किया जायगा। इस तरह एक प्रकार से स्थायी बन्दोबस्त भी हो जायगा और सरकार की कोई हानि भी नहीं होगी। परन्तु भारतसचिव ने उनकी इस राय को नहीं माना। लार्ड रिपन ने किसानों की दशा सुधारने का भी प्रयत्न किया। बंगाल और अवध में जमींदार किसानों को बार बार बेदख़ल करके तंग किया करते थे। उनके हक़ को स्थायी बनाने के लिए उसने दो क़ानून पेश किये, परन्तु उसके समय में वे पास न हो सके। कल-कारख़ानों में काम करनेवालों की रक्षा के लिए भी उसने प्रबन्ध किया और यह क़ानून बना दिया कि लड़कों से नौ घंटा रोज़ से अधिक काम न लिया जाय।

पेशा, सभी बातों का उल्लेख किया गया। तब से हर दसवें वर्ष यह गणना होती है। इसकी रिपोर्टों से देश की बहुत सी बातों का पता चलता है।

इंडियन सिविल सर्विस—सन् १८३३ के आज्ञापत्र तथा सन् १८५८ में महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र में, भारतवासियों को यह विश्वास दिलाया गया था कि सरकारी नौकरियों में किसी प्रकार का जातिभेद न रखा जायगा। परन्तु वास्तव में जितने बड़े बड़े ओहदे थे, उन पर अँगरेज ही रखे जाते थे। भारतवासियों को जो वचन दिये गये थे, उनका मनमाना अर्थ लगाया जाता था। कहा जाता था कि सब छोटी छोटी नौकरियाँ हिन्दुस्तानियों के ही हाथ में हैं, सरकारी नौकरियों में अँगरेजों की अपेक्षा उनकी संख्या कहीं अधिक है, इस तरह प्रतिज्ञाओं का पालन हो रहा है। सिविल सर्विस के कुछ पदों पर भारतवासियों को नियुक्त करने के नियम बनाने के लिए सन् १८७० में इँग्लेंड से भारत-सरकार को लिखा गया था, परन्तु उसने इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। सन् १८७८ में लार्ड लिटन ने 'स्टैटयूटरी सिविल सर्विस' नाम की एक श्रेणी खोली, जिसमें प्रान्तीय सरकार की सिफारिश पर बड़े घराने के लोगों को रखना निश्चित किया गया। लार्ड लिटन का मत था कि "इन प्रतिज्ञाओं को, जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं है और जो वास्तव में बिना सोचे-समझे कर दी गई है, अधिक स्पष्ट कर देना चाहिए। उनको नियमों से भले ही जकड़ दिया जाय, पर आवश्यक सीमाओं के अन्तर्गत उन्हें सत्य बनाना चाहिए।"

इस तरह लार्ड रिपन के आने पर सिविल सर्विस में घुसने के दो तरीके थे। एक तो लार्ड लिटन के बनाये हुए नियमों द्वारा नामजदगी से और दूसरे 'सिविल सर्विस परीक्षा' द्वारा, जो इँग्लेंड में होती थी। नामजदगी में शिक्षा और योग्यता की अपेक्षा सामाजिक पद पर अधिक ध्यान दिया जाता था। मध्य श्रेणी के उच्च शिक्षा-प्राप्त लोगों के साथ यह बड़ा अन्याय होता था। इसी लिए लार्ड रिपन इसको पसन्द न करता था। परीक्षा के लिए पहले २१ वर्ष की अवस्था का नियम था, लार्ड लिटन के समय में १६ वर्ष की अवस्था का नियम कर दिया गया था। यह नियम भी भारतवासियों

को परीक्षा से अलग रखने के उद्देश्य से ही बनाया गया था। लार्ड लिटन इस परीक्षा में बैठने से भारतवासियों को एकदम रोक देना चाहता था। लार्ड रिपन का तो यहाँ तक कहना है कि उसको "उच्च शिक्षा-प्राप्त भारत-वासियों से घृणा थी।" लार्ड रिपन २१ वर्ष की अवस्था का फिर नियम बनाना चाहता था। सिविल सर्विस की परीक्षा भारतवर्ष में भी हुआ करे, उसकी यह भी इच्छा थी। परन्तु वह एक ऐसे झगड़े में पड़ गया कि इस सम्बन्ध में वह कुछ भी न कर सका। उसकी पूरी कौंसिल ने इसका घोर विरोध किया।

इलबर्ट बिल—इस समय तक बम्बई, मदरास और कलकत्ता को छोड़कर अन्य स्थानों के हिन्दुस्तानी मजिस्ट्रेट और जजों को किसी गोरे अभियुक्त का मुकदमा करने का अधिकार नहीं था। अब कुछ हिन्दुस्तानी सिविल सर्विस की परीक्षा पास करके आ गये थे और वे शीघ्र ही जिला मजिस्ट्रेट होनेवाले थे। कुछ हिन्दुस्तानी 'सेशन जज' के पद पर भी पहुँचनेवाले थे। पद में अँगरेजों के समान होते हुए भी इनका एक अधिकार न रहना उचित न जान पड़ता था। महराजा ज्योतीन्द्रमोहन ठाकुर ने गवर्नर जनरल की लेजिस्लेटिव कौंसिल में इस प्रश्न को उठाया। लार्ड रिपन भी न्याय के मामले में जातिभेद रखना बड़ा अनुचित समझता था। इसी लिए सन् १८८३ में इस भेद को उठाने के लिए सरकार की ओर से कानूनी मेम्बर इलबर्ट ने एक बिल पेश किया। इसमें अँगरेजों की कोई हानि न था, पर तब भी इन्होंने इसका घोर विरोध किया। वाइसराय का खुले तौर पर अपमान किया गया। सरकारी अफसरों के अतिरिक्त अन्य अँगरेजों ने इसके लिए चन्दा जमा किया। अँगरेज अखबार जामे से बाहर हो गये। 'इंगलिशमैन' ने लिखा कि "भारतवर्ष में यदि किसी को अधिकार है, तो वे अँगरेज हैं। भारत-वासियों को कोई अधिकार नहीं है।" "इस तरह हिन्दुस्तानियों का मन पर

बिठलाना" भारतवर्ष में रहनेवाले गोरे सहन न कर सके और उन्होंने गोरी सेना को भी भड़काने का प्रयत्न किया।

लार्ड रिपन को कभी सन्देह न था कि इस बात पर इतना घोर आन्दोलन उठेगा। यदि वह ऐसा जानता तो शायद इस प्रश्न को उठाता ही नहीं। पर एक बार ऐसा प्रस्ताव करके उसे वापस लेने से, रिपन की राय में, भारतवासियों को यह दिखलाना था कि महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र में की हुई प्रतिज्ञाओं में कुछ तत्त्व नहीं हैं। परन्तु यह आन्दोलन बढ़ता ही गया और अन्त में लार्ड रिपन को भी इसके आगे सिर झुकाना पड़ा। कलकत्ता की सड़कों पर उपद्रव होने की नौबत देखकर लार्ड रिपन ने समझौता कर लिया। गोरे अभियुक्तों को 'जूरी' की सहायता से, जिसमें आधे अँगरेज या अमरीकन हों, मुकदमा कराने का अधिकार दे दिया गया। इस तरह देखने के लिए तो जातिभेद उठा दिया गया, क्योंकि जूरी की सहायता से मुकदमा करने का अधिकार हिन्दुस्तानी और अँगरेज जजों को समान रूप से दे दिया गया। पर वास्तव में यह भेद बना रहा, क्योंकि हिन्दुस्तानियों को जूरी की सहायता से मुकदमा कराने का कोई अधिकार न दिया गया।

उदार नीति—लार्ड रिपन इंडिया कौंसिल के हस्तक्षेप को पसन्द न करता था। उसका कहना था कि "भारतवर्ष को लिबरल सरकार से लाभ ही क्या हो सकता है, यदि वह हाथ-पैर बांधकर कुछ ऐसे बुड्ढे आदमियों के हवाले कर दिया जाय, जिनकी शक्तियां बुढ़ापे से नष्ट हो गई हैं, जिन्हें बिना किसी जिम्मेदारी के अच्छी तनख्वाहें मिलती हैं और जिनको उन लोगों के प्रस्तावों की आलोचना करने तथा उनके काम में बाधा डालने में आनन्द आता है, जिन्हें भारतवर्ष की वास्तविक दशा का पूरा ज्ञान है और जिनके ऊपर देश का अच्छा शासन करने की पूरी जिम्मेदारी है?[१] भारतवर्ष की आमदनी से इंग्लैंड का लाभ उठाना वह अनुचित समझता था। सन् १८८२ में विद्रोह शान्त करने के लिए भारतवर्ष से जो सेना

१ उल्फ, लार्ड रिपन, जि० २, पृ० ५३।

मिस्र भेजी गई थी, उसका खर्च प्रधान सचिव ग्लैडस्टन भारतवर्ष से लेना चाहता था, क्योंकि उसकी राय में इँग्लेंड पर काफी बोझ था और मिस्र को शान्त रखने से स्वेज की नहर सुरक्षित रह सकती थी। इस पर लार्ड रिपन ने भारतसचिव को लिखा कि इँग्लेंड में पार्लामेंट है इसलिए अधिक रुपया मांगने में भय होता है। भारतवर्ष पर "अनावश्यक बोझ लाद देने से कोई पूछनेवाला नहीं है, इसी लिए ऐसा किया जा रहा है। मेरी राय में यह न्याय नहीं बल्कि मन्त्रिमंडल की सरासर जबरदस्ती है। लिबरल दल का नेता होकर ग्लैडस्टन इसका समर्थन कर रहा था लार्ड रिपन को इसका बड़ा दुःख था। अन्त में उसकी बात मानकर इँग्लेंड सरकार ने आधा खर्च देना स्वीकार किया।[१]

भारतवर्ष की रक्षा के सम्बन्ध में उसका मत था कि रूस के आक्रमण का भय निर्मूल है। यह बात ठीक है कि जनता में असन्तोष होने से रूसी [illegible] हमारे विरुद्ध भड़का सकते हैं। इसको रोकने का [illegible] उपाय यह है कि देश का शासन उत्तम रीति से किया जाय और [illegible] बढ़ाई जाय। देश भर में उन्नति के चिह्न दिखलाई दे रहे हैं, [illegible] विचारों में बड़ा परिवर्तन हो रहा है। स्थिति निस्सन्देह बड़ी [illegible], परन्तु यदि बुद्धि और साहस से काम लिया जाय, तो इससे बहुत कुछ [illegible] हो सकता है। थोड़े दिनों के "न्याय और सभ्यतापूर्ण शासन" से हमारा [illegible] जनता के हृदय पर जम जायगा और उसका हम पर विश्वास तथा हमारे शासन से सन्तोष बढ़ जायगा। ऐसा करने से अफ़गानिस्तान की सीमाओं पर सेना रखने की अपेक्षा हम रूसियों के आक्रमण से भारतवर्ष की [illegible] रक्षा कर सकेंगे।[२]

लार्ड रिपन का कहना था कि भारत-सरकार के सामने दो [illegible] हैं। एक तो उनकी नीति है, जिन्होंने समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता को

है, शिक्षा की उन्नति की है, अधिक संख्या में भारतवासियों को सब तरह की नौकरियाँ दी हैं और जिन्होंने स्वशासन की वृद्धि का समर्थन किया है। दूसरी नीति उन लोगों की है, जो समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता का तिरस्कार करते हैं, जो शिक्षा की उन्नति से डरते हैं और जिन्हें शासन में भारतवासियों को ज़रा सा भी भाग देने में जलन होती है। "इन दो नीतियों में से हमें चुनना पड़ेगा। एक का अर्थ उन्नति और दूसरी का अर्थ दमन है। लार्ड लिटन ने दूसरी को और मैंने पहली नीति को चुना।"[१]

लार्ड रिपन का इस्तीफ़ा—सन् १८८४ में लार्ड रिपन ने इस्तीफ़ा दे दिया। जहाँ तक बन पड़ा उसने भारतवर्ष का हित करने के लिए बराबर प्रयत्न किया। हर एक बात में उसको भारतवासियों का ध्यान रहता था और शासन में वह किसी प्रकार का जातिभेद पसन्द न करता था। इसके लिए उसको अपने देशवासियों के मुख से बहुत सी बुरी-भली बातें भी सुननी पड़ीं। चलते समय भारतवासियों ने अपनी कृतज्ञता का पूरा परिचय दिया। जगह जगह पर उसको मानपत्र दिये गये और मीलों तक लाखों आदमियों ने जयध्वनि से उसकी बिदाई की। कुछ अँगरेज इतिहासकारों का कहना है कि उसमें कोई विशेष योग्यता न थी। सम्भव है यह ठीक हो, पर जैसा कि अर्सकाइन पेरी ने लिखा है, उसमें "दिल था, जिसका हिन्दुस्तानी सबसे अधिक आदर करते हैं।" सर कालविन का विश्वास था कि लार्ड रिपन का भारतवासियों के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव था कि वह जो चाहे कर सकता था। पंजाब के सर साहबदयाल ने ठीक कहा था कि लार्ड रिपन सहस्रों सैनिकों के बराबर है, क्योंकि भारतवासियों का उस पर विश्वास है और वे उसको चाहते हैं। यदि भारतवर्ष में कभी अँगरेजों पर विपत्ति पड़े, तो उन्हें लार्ड रिपन को भेजना चाहिए।[२]

---

[१] उल्फ़, लार्ड रिपन, जि० २, पृ० ९४।

[२] वही, पृ० १६५–६६।

"मेरा देश एक बेचारे बकरे की तरह है, जिस पर भालू (रूस) और शेर (इँग्लेंड) दोनो की निगाहे जमी हुई है। इसका ईश्वर ही रक्षक है।" इसी लिए वह पजदेह छोड देने के लिए भी राजी हो गया। इस पर रूस से समझौते की बातचीत होने लगी।

लार्ड डफरिन ने भी बडी चतुरता से काम लिया। उसने अमीर का बडा सम्मान किया और उसको रुपये तथा अस्त्र-शस्त्र की सहायता देकर काबुल वापस भेज दिया। अमीर किसी प्रकार की सैनिक सहायता न चाहता था, क्योकि वह जानता था कि इसमे फिर झगडा होगा। लार्ड डफरिन कुछ इजीनियरो को भेजना चाहता था, परन्तु अमीर ने इसको भी अस्वीकार कर दिया। लार्ड डफ़रिन भी सेना भेजने के लिए उत्सुक न था, यदि अमीर चाहता तो उसको सेना भेजनी पडती, क्योकि बाहरी आक्रमण से अफगानिस्तान की रक्षा करने का लार्ड रिपन वचन दे चुका था। परन्तु इसका अवसर न आया। सन् १८८७ मे रूस से समझौता हो गया और पजदेह पर उसका अधिकार मान लिया गया। इस घटना का भारतवर्ष पर यह प्रभाव पड़ा कि उसके खजाने का बहुत सा रुपया युद्ध की तैयारी मे उड गया और सेना की संख्या बढ़ गई।

बर्मा का तीसरा युद्ध—सन् १८७९ मे बर्मा के राजा थीबा के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर अँगरेजी राजदूत वापस बुला लिया गया था। तब से बर्मा मे अँगरेजो को पूरी व्यापारिक सुविधाएँ नहीं मिल रही थी और व्यापारी लोग बर्मा को भी अँगरेजी राज्य मे मिला लेने के लिए कह रहे थे। थीबा जर्मनी, इटली और फ्रास से सन्धि की बातचीत कर रहा था। सन् १८८५ मे एक फ्रासीसी राजदूत भी मडाले आया था और एक बैंक स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था। बर्मी दरबार मे फ्रासीसियो का प्रभुत्व अँगरेजो को खटक रहा था और वे लडाई का कोई न कोई बहाना ढूँढ रहे थे। इन्हीं दिनो एक अँगरेजी व्यापारिक कम्पनी पर थीबा ने २३ लाख रुपया जुरमाना कर दिया। यह अच्छा बहाना मिल गया। रगून मे दस हजार सेना एकत्र करके थीबा को इस मामले की अँगरेज पंचो द्वारा जांच

दस ही दिन में युद्ध समाप्त हो गया। बर्मियों ने युद्ध की कोई तैयारी न की थी, उन पर सहसा आक्रमण कर दिया गया था। जनवरी सन् १८८६ में उत्तरी बर्मा भी अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया और थीबा कैद करके भारतवर्ष भेज दिया गया, जहाँ रत्नागिरि में वह बहुत दिनों तक जीवित रहा। इस तरह विजय तो हो गई पर बर्मा को शान्त करने में बहुत समय लगा। चार पाँच वर्षों तक बहुत से लुटेरे बड़ा उपद्रव मचाते रहे, पर धीरे धीरे शान्ति स्थापित हो गई और अँगरेजी शासन चल पड़ा। इतिहासकार राबर्ट्स की राय में बर्मा के साथ "जबरदस्ती और निष्ठुरता" का व्यवहार किया गया। यह मानते हुए भी कि थीबा अत्याचारी था, उसके राज्य को छीन लेने का भारत-सरकार को कौन सा अधिकार था? वह स्वतंत्र शासक था और चाहे जिसके साथ सन्धि कर सकता था। फ्रांसीसियों का 'इंडो-चैना' भी उसके राज्य से मिला हुआ था। यदि उसके कहने पर फ्रांसीसी अपना प्रभाव वहाँ जमा रहे थे, तो फिर अँगरेजों को जलन क्यों होती थी? जैसा हक़ अँगरेजों का था वैसा ही फ्रांसीसियों का, इसमें बिगड़ने की कौन सी बात थी? परन्तु स्वार्थ के आगे न्याय की कौन सुनता है? निर्बल पर सबल का सभी अधिकार रहता है। दक्षिणी बर्मा से उत्तरी बर्मा अधिक उपजाऊ है, वहाँ ख़ूब धन कमाने की सम्भावना थी। युद्ध छिड़ने के पहले ही लार्ड डफरिन ने लिखा था कि यदि फ्रांसीसी उत्तरी बर्मा में अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न करें तो उसको बिना किसी संकोच के अँगरेजी राज्य में मिला लेना चाहिए।[1]

देशी राज्य—सन् १८८६ में ग्वालियर का किला सिन्धिया को वापस कर दिया गया। काश्मीर के शासन में रेजीडेंट प्लाउडन बहुत हस्तक्षेप करता था। सन् १८८८ में लार्ड डफरिन ने उसको वापस बुला लिया। वाइसराय के इन कार्यों का देशी राज्यों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। जब रूस के साथ युद्ध छिड़नेवाला था, तब बहुत से राज्यों ने सहायता करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। समय पड़ने पर सरकार की सहायता करने के लिए बड़े बड़े

---

१ लायल, डफ़रिन, जि० २, पृ० ११८।

स्थान पर इसकी शाखाएँ खुल गई। बहुत से हिन्दुओं को इसने ईसाई और मुसलमान होने से बचाया। समाजसुधार की ओर इसने विशेष ध्यान दिया और विधवा-विवाह का प्रचार किया। प्राचीन ढंग से शिक्षा देने के लिए इसने गुरुकुल स्थापित किये। उत्तरी भारत में इसने वही काम किया, जो ब्रह्मसमाज ने बंगाल में किया। केवल भेद इतना ही था कि ब्रह्मसमाज ने पाश्चात्य ढंग को अपनाया, परन्तु यह पूरा भारतीय बना रहा। इस समय भी समाजसुधार और शिक्षा के लिए आर्य्य-समाज बहुत कुछ कर रहा है। इसके प्रचारक उपनिवेशों तक में पहुँच गये हैं।
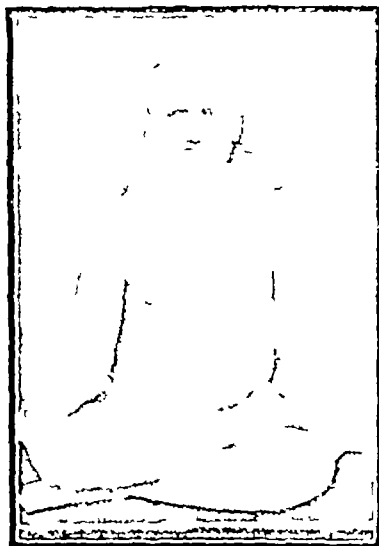
स्वामी दयानन्द

थियासोफ़िकल सोसायटी—

जिस साल भारतवर्ष में आर्य्यसमाज स्थापित हुआ, उसी साल अमरीका के न्यूयार्क नगर में मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अलकाट ने 'थियोसोफिकल सोसायटी' स्थापित की। इस सोसायटी ने सब धर्मों की एकता और सत्यता पर जोर दिया। स्वामी दयानन्द जी के आमन्त्रित करने पर सन् १८७९ में ये दोनों भारतवर्ष आये। इन्होंने प्राच्य शास्त्रों की महत्ता दिखलाते हुए यह बतलाया कि भारतवर्ष का उद्धार उसी के विचारों द्वारा हो सकता है। इस सोसायटी का मुख्य कार्यालय मदरास के निकट अदयार में स्थापित हुआ। सन् १८९३ में मिसेज बेसेंट के आ जाने से इसका ज़ोर बहुत बढ गया। अँगरेजी पढे हुए लोगों को भी, जो पाश्चात्य सभ्यता पर मुग्ध हो रहे थे, यह ज्ञात होने लगा कि उनके देश की प्राचीन सभ्यता और आचार-विचारों में भी कुछ तत्त्व है। इस सोसायटी ने समाजसुधार और शिक्षा को भी अपनाया और तत्कालीन शिक्षा को "धर्म तथा राष्ट्रीयता के भावों के विरुद्ध" बतलाया।

के आध्यात्मिक विचारों की उच्चता को सिद्ध कर दिया और देश के सामने समाजसेवा का आदर्श रखा। इस तरह भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के भावों का उदय हुआ।[1]

इंडियन नेशनल कांग्रेस—इन विचारों का राजनैतिक क्षेत्र में भी प्रभाव पड रहा था। अपने पूर्व गौरव का पता लगने पर राजनैतिक पराधीनता खटक रही थी। पाश्चात्य राष्ट्रों के इतिहास के अध्ययन से आँखे खुल रही थीं। समाचारपत्रों की संख्या बढ रही थी और उनसे धीरे धीरे लोकमत जाग्रत हो रहा था। कुछ उदार-हृदय अँगरेज भी भारतवासियों को उत्साहित कर रहे थे। जब से भारत का अँगरेजों से सम्बन्ध हुआ था, तभी से बराबर कुछ अँगरेज ऐसे अवश्य रहे हैं, जिन्हे अपने देश के साथ साथ भारतवर्ष के हित का भी ध्यान रहा है। फ्रान्सिस, बर्क, मालकम, मनरो, हेनरी लारेंस ऐसे लोगों का स्थान स्थान पर उल्लेख किया जा चुका है। इन दिनो जान ब्राइट भारत-सरकार की तीव्र शब्दों में आलोचना कर रहा था। भारतवर्ष का बराबर पक्ष लेने के कारण पार्लामेंट मे हेनरी फासट, 'भारतीय सदस्य' के नाम से प्रसिद्ध था। इलबर्ट बिल के झगडे से चार्ल्स ब्रैडला भी भारतीय प्रश्नों मे बडी दिलचस्पी ले रहा था। भारतवर्ष मे भी कुछ अगरेज अफसर भारतवासियों की सहायता करने के लिए चिन्तित थे। सिपाही-विद्रोह के समय से इटावा के कलेक्टर ह्यूम साहब बड़े लोकप्रिय हो गये थे। बगाल मे सर हेनरी काटन और बम्बई मे सर विलियम वेडरबर्न अपने उदार विचारों के लिए प्रसिद्ध थे। कई एक सुशिक्षित भारतवासी दे[श] की तत्कालीन स्थिति का अनुभव कर रहे थे। इनमे बम्बई के दादाभा[ई] नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे तथा काशी नाथ त्र्यम्बक तेलंग, बगाल के बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा आनन्दमोह[न] बोस, बिहार के दरभगामहाराज लक्ष्मीश्वरसिंह, मद्रास के माननीय सुब्रह्मण्

---

[1] मिसेज बेसेंट, इंडिया ए नेशन।

राष्ट्रीय सभा बन गई। कांग्रेस का इतिहास वास्तव मे भारतवर्ष के स्वतत्रता युद्ध का इतिहास है।

डफ़रिन की नीति—सन् १८८८ मे लार्ड डफरिन इस्तीफा देकर वापस चला गया। भारतवर्ष आने पर उसने इस बात को दिखलाने का प्रयत्न किया था कि वह लार्ड रिपन की नीति का अनुकरण करना चाहता है। अन्त तक वह यही कहता भी रहा, पर दोनो की नीति मे बडा अन्तर था। लार्ड रिपन की नीति से असन्तुष्ट अगरेजो को सन्तुष्ट करने का उसे सब से अधिक ध्यान था। शासन मे शिक्षित भारतवासियो के सहयोग की आवश्यकता को वह समझता था और उसने कौंसिलो के सुधार के लिए भारतसचिव को लिखा भी था, पर कांग्रेस की नीति और उसके कार्य्यक्रम को वह पसन्द न करता था। कांग्रेस को राजनैतिक संस्था बनाने की सलाह देने मे उसका उद्देश्य केवल इतना ही था कि सरकार को उसके द्वारा देश की जनता के मन का पता लगता रहे। उसकी राय थी कि थोडा-बहुत सुधार करके दस पन्द्रह वर्ष के लिए "सार्वजनिक सभाओ और उत्तेजित करनेवाली वक्तृताओ को बन्द कर देना चाहिए।" वह भारतवर्ष को प्रतिनिधि-शासन के योग्य न समझता था। उसका मत था कि "इँग्लेड को अपना शासनाधिकार कभी न छोडना चाहिए।"[1]

लार्ड लैंसडौन—सन् १८८८ मे लार्ड लैंसडौन वाइसराय नियुक्त किया गया। यह भी कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था और कुछ दिनो तक भारतवर्ष का उपसचिव भी रहा था। वाइसराय पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है, परन्तु लैंसडौन भारतवर्ष मे ६ वर्ष के लगभग रहा।

सीमाओं की रक्षा—अफगानिस्तान और भारतवर्ष की सीमाओ के बीच २५००० वर्ग मील के लगभग पहाडी भूमि है। इसके दक्षिण मे बिलोचिस्तान और उत्तर मे चितराल है। इन्हीं पहाडियो मे से अफगानिस्तान

---

१ लायल, डफ़रिन, जि० २, पृ० १५१, २०३।

राष्ट्रीय सभा बन गई। कांग्रेस का इतिहास वास्तव में भारतवर्ष के स्वतंत्रता-युद्ध का इतिहास है।

डफ़रिन की नीति—सन् १८८८ में लार्ड डफरिन इस्तीफा देकर वापस चला गया। भारतवर्ष आने पर उसने इस बात को दिखलाने का प्रयत्न किया था कि वह लार्ड रिपन की नीति का अनुकरण करना चाहता है। अन्त तक वह यही कहता भी रहा, पर दोनों की नीति में बड़ा अन्तर था। लार्ड रिपन की नीति से असन्तुष्ट अंगरेजों को सन्तुष्ट करने का उसे सब से अधिक ध्यान था। शासन में शिक्षित भारतवासियों के सहयोग की आवश्यकता को वह समझता था और उसने कौंसिलों के सुधार के लिए भारतसचिव को लिखा भी था, पर कांग्रेस की नीति और उसके कार्य्यक्रम को वह पसन्द न करता था। कांग्रेस को राजनैतिक संस्था बनाने की सलाह देने में उसका उद्देश्य केवल इतना ही था कि सरकार को उसके द्वारा देश की जनता के मन का पता लगता रहे। उसकी राय थी कि थोड़ा-बहुत सुधार करके दस पन्द्रह वर्ष के लिए "सार्वजनिक सभाओं और उत्तेजित करनेवाली वक्तृताओं को बन्द कर देना चाहिए।" वह भारतवर्ष को प्रतिनिधि-शासन के योग्य न समझता था। उसका मत था कि "इँग्लेंड को अपना शासनाधिकार कभी न छोड़ना चाहिए।"[1]

लार्ड लैंसडौन—सन् १८८८ में लार्ड लैंसडौन वाइसराय नियुक्त किया गया। यह भी कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था और कुछ दिनों तक भारतवर्ष का उपसचिव भी रहा था। वाइसराय पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है, परन्तु लैंसडौन भारतवर्ष में ६ वर्ष के लगभग रहा।

सीमाओं की रक्षा—अफगानिस्तान और भारतवर्ष की सीमाओं के बीच २५००० वर्ग मील के लगभग पहाड़ी भूमि है। इसके दक्षिण में बिलोचिस्तान और उत्तर में चितराल है। इन्हीं पहाड़ियों में से अफगानिस्तान

---

१ लायल, डफ़रिन, जि० २, पृ० १५१, २०३।

आने जाने के मार्ग हैं। यहाँ के निवासी नाममात्र के लिए अमीर की अधीनता स्वीकार करते थे, पर वास्तव में वे स्वतंत्र थे। ये लोग भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा पर बराबर लूट-पाट किया करते थे। इनके सम्बन्ध में भारत-सरकार की क्या नीति होना चाहिए, यह कुछ निश्चित न था। एक दल 'आगे बढ़ने की नीति' के पक्ष में था। उसका कहना था कि रेलें चलाकर और चौकियाँ कायम करके अफगानिस्तान की सीमा तक पहुँच जाना चाहिए। इसके प्रतिकूल दूसरा दल था, जो सिन्ध नदी की सीमा से ही सन्तुष्ट रहना चाहता था। इसका कहना था कि इन पहाड़ी जातियों को दबाये रखने में बड़ा खर्च पड़ता है और अफगानिस्तान के अमीर को भी भारत-सरकार की नीयत पर सन्देह होता है।

लार्ड लैंसडौन के समय में 'आगे बढ़ने की नीति' के अनुसार गिलगिट पर अधिकार जमाने का प्रयत्न हो रहा था। उसके व्यवहार से भी अमीर अब्दुर्रहमान चिढ़ा हुआ था। वाइसराय के "आदेशपूर्ण" पत्रों को, जिनमें शासनप्रबन्ध ठीक करने के लिए उसको लिखा जाता था, वह पसन्द न करता था। सन् १८९२ में एक अँगरेज दूत चितराल भेजा गया। इससे अमीर का सन्देह और भी बढ़ गया। परन्तु सर हेनरी मार्टिमर डुरांड की चतुरता से अमीर का भ्रम दूर हो गया और अँगरेजों के साथ मित्रता का सम्बन्ध हो गया। डुरांड अपने साथ किसी संरक्षक को भी नहीं ले गया, जिससे अफगानिस्तान-निवासियों को किसी प्रकार का सन्देह न हो। इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। सीमा के बहुत से झगड़े तय हो गये और अमीर को जो सालाना रकम दी जाती थी, वह बढ़ा दी गई। कुछ भूमि भी अमीर को दी गई, जिसके बदले में उसने सीमा पर बसनेवाले अफ्रीदी, वजीरी तथा अन्य जातियों के झगड़ों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। अमीर इँग्लैंड की नीति को खूब समझता था। उसका कहना था कि मित्रता दिखलाते हुए भी इँग्लैंड अपने मतलब से कभी नहीं चूकता। जो कुछ रूस ने लिया है, उससे भी अधिक इस मित्र ने लिया है।

काश्मीर—महाराजा गुलाबसिंह के लड़के महाराजा रणवीरसिंह को इस बात का बराबर भय था कि किसी दिन काश्मीर अँगरेजी राज्य में अवश्य

मिला लिया जायगा। वह कहा करता था कि उसके एक ओर रूस, दूसरी ओर अफगानिस्तान और तीसरी ओर अँगरेज हैं। इनके बीच में पड़कर उसका राज्य अवश्य पिसेगा। लार्ड रिपन ने लिखा ही था कि लार्ड लिटन इस चाँद को अँगरेजी राज्य में मिलाने का प्रयत्न कर रहा था। परन्तु रणवीरसिंह के समय में अँगरेजों की दाल न गल सकी। सन् १८८५ में उसके मरने पर प्रतापसिंह गद्दी पर बैठा। उसमें उतनी योग्यता और दृढ़ता न थी। उसके गद्दी पर बैठते ही पहला काम यह किया गया कि काश्मीर दरबार में अँगरेज रेजीडेंट रख दिया गया। गुलाबसिंह के साथ जो सन्धि हुई थी, उसमें रेजीडेंट रखने की कोई बात भी न थी। महाराजा प्रतापसिंह ने इसका विरोध भी किया, पर उसकी कुछ भी न सुनी गई। रेजीडेंट प्लाउडन ने शासन की हर एक बात में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। इस पर सन् १८८८ में लार्ड डफरिन ने उसको दूसरी जगह बदल दिया।

पर तब भी महाराजा प्रतापसिंह को चैन नहीं लेने दिया गया। सन् १८८९ में उस पर अँगरेजों के विरुद्ध रूस से पत्र-व्यवहार करने, प्रजा पर अत्याचार करने तथा भोग-विलास में राज्य का खजाना उड़ाने के अपराध लगाये गये और उससे एक पत्र पर हस्ताक्षर करवा लिये गये, जिसके अनुसार उसने कुल शासन कुछ सरदार तथा अँगरेज अफसरों की एक कौंसिल को सौंप दिया। उस पर जो अपराध लगाये गये, उनकी कभी जांच नहीं की गई। महाराजा प्रतापसिंह का कहना था कि उसने रूस से कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया था, शासन में भी वह बहुत से सुधार करना चाहता था, परन्तु रेजीडेंट के हस्तक्षेप के कारण कुछ न हो सका। उसके शासन से प्रजा को कोई शिकायत न थी, न उसके अत्याचार ही का कोई प्रमाण बतलाया गया। शिकायत करना तो दूर रहा, जम्मू के डोगरों का कहना था कि अँगरेज रेजीडेंट की आज्ञा पर चलनेवाली कौंसिल के इनामों से अपने राजा द्वारा लूटा जाना कहीं अच्छा है। मिस्टर विनगेट ने भी, जिसकी राय से भारत-सरकार ने अपना मत स्थिर किया था, माना है कि महाराजा दरिद्रों पर सदा दया करता था, जमीन के मामलों में बड़ी दिलचस्पी लेता था और अफ़सरों के

अत्याचारों से काश्तकारों की रक्षा करता था। सन् १८८८ में स्वयं लार्ड डफ-रिन ने लिखा था कि "सुधार के सम्बन्ध में बहुत कुछ उन्नति की गई है।" ऐसी दशा में प्रजा पर अत्याचार का अपराध सिद्ध नहीं होता। खजाने से अपने खर्च के लिए वह एक बँधी रकम लेता था। उसका बहुत सा रुपया काश्मीर की सैर करनेवाले अँगरेज अफसरों की खातिरदारी में उड़ता था।

काश्मीर पर अँगरेजों की जैसी कुछ दृष्टि थी, सो तो थी ही, परन्तु इस समय मुख्य बात यह थी कि उन्हें गिलगिट पर अधिकार करने की आवश्यकता थी। यह काश्मीर के अधीन था। उन दिनों मध्य एशिया में यह एक सैनिक महत्त्व का स्थान था। सन् १८६० में चार्ल्स ब्रैडला ने काश्मीर के मामले की जाँच कराने के लिए पार्लामेंट में प्रयत्न किया पर कोई फल नहीं हुआ। सन् १६०५ में न जाने क्या सोचकर महाराजा प्रतापसिंह को फिर से शासनाधिकार दिये गये।[1]

मनीपुर—सन् १८६१ में आसाम की सीमा पर कचार के पूर्व, मनीपुर की रियासत में गद्दी के लिए झगड़ा हुआ। भारत-सरकार ने वहाँ के सेनापति को निकाल दिया। इस पर उसने बगावत कर दी और कुछ अफसरों को धोखे से मार डाला। अन्त में वह और उसके साथी पकड़े गये और उन्हें फाँसी का दंड दिया गया। मनीपुर अँगरेजी राज्य में नहीं मिलाया गया। गद्दी पर एक लड़का बिठला दिया गया। अँगरेज अफसर उसी के नाम से शासन करते रहे। सन् १६०७ में उसको पूरे अधिकार दे दिये गये।

सिक्का—भारतवर्ष में बहुत दिनों से चाँदी का सिक्का काम में लाया जाता है और इँग्लैंड में सोने का सिक्का चलता है। भारतवर्ष को बहुत सा रुपया इँग्लैंड भेजना पड़ता है, परन्तु वहाँ चाँदी का सिक्का न होने के कारण यह रुपया सोने के सिक्कों में देना पड़ता है। पहले एक रुपया पौंड का आठवाँ हिस्सा, यानी २ शिलिंग ६ पेंस के बराबर माना जाता था। सन् १८७० से यह पौंड का दसवाँ हिस्सा अर्थात् २ शिलिंग के बराबर माना

---

१ डिग्बी, कटेम्ड अनहर्ड।

जाने लगा। इधर कई कारणों से चाँदी बहुत सस्ती हो गई, जिसका फल यह हुआ कि सन् १८९२ में रुपये का भाव घट कर १ शिलिंग १ पेंस ही रह गया। इसका भारत की आर्थिक स्थिति पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसको अब पहले से बहुत अधिक रुपया देना पड़ने लग गया। इस कमी को पूरा करने के लिए भारत-सरकार ने फिर से इनकम टैक्स लगा दिया और नमक-कर बढ़ा दिया। जब इतने से भी पूरा न पड़ा, तब रुपये का मूल्य १ शिलिंग ४ पेंस निर्धारित कर दिया गया, सरकारी खज़ानों में 'सावरेन' भी लिये जाने लगे और आगे चलकर भारतवर्ष में सोने का सिक्का चलाने की दृष्टि से टकसालों में अधिक रुपया ढालना बन्द कर दिया गया।

कौंसिलों का सुधार—लार्ड डफरिन के समय से कौंसिलों के सुधार पर विचार हो रहा था। उसकी बहुत सी बातें मान ली गईं और सन् १८९२ में 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' पास किया गया, जिसके अनुसार भारतीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। म्यूनिसिपल्टियों, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और यूनिवर्सिटियों को लेजिस्लेटिव कौंसिलों में अपने प्रतिनिधियों के भेजने का अधिकार दिया गया। इस तरह प्रतिनिधियों के चुनने के सिद्धान्त का प्रारम्भ किया गया। पर उस समय तक कौंसिलों में सरकारी मेम्बरों की ही अधिकता रखी गई। 'इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल' में मेम्बरों को प्रश्न पूछने और सालाना बजट पर बहस करने का भी अधिकार दिया गया। शिक्षित समाज इन सुधारों से सन्तुष्ट न हुआ। कांग्रेस का मत था कि इनसे "कौंसिलों में भेजने के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार जनता को न मिला।" इसलिए उसने इसको स्वीकार करते हुए आन्दोलन जारी रखना निश्चित किया।

पब्लिक सर्विसेज़ कमीशन—सरकारी नौकरियों की जाँच करने के लिए सन् १८८७ में एक कमीशन नियुक्त किया गया था। सन् १८९१ में उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसने नौकरियों की भारतीय, प्रान्तीय और मातहती ये तीन श्रेणियाँ बनाईं और यह निश्चित किया कि इँग्लैंड में सिविल सर्विस परीक्षा पास करनेवालों को केवल भारतीय श्रेणी की नौकरियाँ दी जायँ

करे और वाकी दो श्रेणियो मे यथासम्भव हिन्दुस्तानी रखे जाया करे। भारत सरकार ने इन सिफ़ारिशो को भी पूरे तौर पर नही माना। इस पर काग्रेस ने वडा असन्तोष प्रकट किया और इस सम्बन्ध मे श्री दादाभाई नौरोजी द्वारा, जो पार्लमेट के मेम्वर चुन लिये गये थे, एक प्रार्थनापत्र भेजना निश्चित किया। सन् १८९३ मे पार्लमेट ने सिविल सर्विस की परीक्षा भारतवर्ष मे भी करने की इच्छा प्रकट की। मदरास को छोडकर सभी प्रान्तीय सरकारो ने इसका वडा विरोध किया। इसलिए कोई क़ानून पास न किया गया और पार्लमेट का प्रस्ताव यो ही रह गया।

दूसरा लार्ड एलगिन—सन् १८९४ मे लार्ड एलगिन वाइसराय नियुक्त किया गया। यह पहले लार्ड एलगिन का, जो सन् १८६२-६३ मे गवर्नर-जनरल रह चुका था, लडका था। यह किसी वडे ओहदे पर नहीं रहा था और न इसको शासन का ही अधिक अनुभव था। इसमे कोई विशेष योग्यता भी नही थी और यह भारतवर्ष मे रहनेवाले अफसरो के कहने ही पर अधिकतर चलता था।

चितराल और तीराह—हिन्दूकुश के दक्षिण मे चितराल एक छोटी सी रियासत है। सन् १८९५ मे यहाँ की गद्दी के लिए झगडा हुआ और विद्रोहियो ने अँगरेजी चौकी को घेर लिया। इस पर अँगरेजी सेना ने वढकर चितराल पर अधिकार कर लिया। लार्ड एलगिन चितराल को छोडना न चाहता था। इँग्लेंड की लिवरल सरकार की राय थी कि वहाँ से सेना वापस वुला लेनी चाहिए। इस पर लिखा-पढी हो ही रही थी कि इतने में इँग्लेंड की सरकार वदल गई और नई सरकार ने एलगिन की वात मानकर चितराल मे अँगरेजी राज्य तक सडक वनाने और उस पर चौकियाँ स्थापित करने की आज्ञा दे दी। मार्ले और एसक्विथ की राय मे चितरालियो के साथ यह विश्वासघात किया गया। इसके उत्तर में भारतसचिव का कहना था कि चितराली युद्ध करने पर उद्यत थे, ऐसी दशा में चितराल पर सैनिक अधिकार रखना आवश्यक था।

चितराल के मामले का सरहद्दी जातियो पर बडा प्रभाव पडा श्रौर उन्हें श्रँगरेजो की नीति पर सन्देह होने लगा। सडके बनाना श्रौर चौकियो को कायम करना उन्हें पसन्द न श्राया। इसके श्रतिरिक्त इन दिनो तुर्को के सुलतान का, जिनको सब मुसलमान श्रपना 'खलीफा' मानते थे, बराबर श्रपमान करने के कारण ईसाइयो से मुसलमान चिडे हुए थे श्रौर मुल्ला लोग सरहद्दी श्रफगानो को 'जिहाद' का उपदेश दे रहे थे। इन सब का परिणाम यह हुश्रा कि सन् १८९७ मे कई एक सरहद्दी जातियाँ बिगड पडीं। स्वात निवासियो ने श्रँगरेजी चौकियो पर धावा कर दिया, काबुल नदी के उत्तर मे रहनेवाले महमन्द लोगों ने पेशावर तक लूटमार मचा दी। श्रफ्रीदियो ने सिख सिपाहियो को मार डाला श्रौर खैबर के दर्रें को रोक दिया। इस उपद्रव को शान्त करने के लिए दो सेनाएँ भेजी गईं। एक ने महमन्द लोगों को हराया श्रौर दूसरी ने पेशावर के दक्षिण-पश्चिम तीराह की घाटी मे श्रफ्रीदियो को दबाया। इसमें श्रँगरेजो को बडी कठिनाइयाँ उठानी पडीं। श्रफ्रीदी बडी वीरता से लडे। सन् १८९८ में उन्होंने हार मान ली। इस युद्ध मे भारत-सरकार को देशी राज्यों की 'साम्राज्य-सेवा सेना' से बड़ी सहायता मिली।

रूस से सन्धि हो जाने के कारण पामीर के पर्वतो मे दोनो साम्राज्यों की सीमाएँ निश्चित हो गईं। श्रफगानिस्तान की सीमा भी निर्धारित हो गई श्रौर पूर्व मे बर्मा तथा चीन के बीच की सीमा भी तय हो गई। इस तरह लार्ड एलगिन के समय में सीमाश्रों का प्रश्न कुछ काल के लिए हल हो गया।

प्लेग श्रौर श्रकाल—भारतवर्ष में पहले भी प्लेग हो चुका था। जहाँगीर बादशाह ने श्रपनी 'तुजक जहाँगीरी' मे इस 'वबा' का उल्लेख किया है श्रौर लिखा है कि यह रोग चूहो से फैलता है। सन् १८९६ मे बम्बई शहर मे यह रोग बडे जोरों से फैल गया। कहा जाता है कि यह चीन से श्राया था। शहर से लगभग चार लाख मनुष्य भाग निकले। यह रोग श्रन्य स्थानो मे न फैलने पावे, इसके लिए बडा प्रबन्ध किया गया। मकानो की सफाई श्रौर रोगियो को श्रलग रखने के लिए बडे कडे नियम बनाये गये श्रौर जनता की श्राराम-तकलीफ तथा उसके भावों का ध्यान न रखकर इनसे काम

लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता मे बडा असन्तोष फैल गया और पूना मे दो अँगरेज अफसर मार डाले गये। इस पर सरकार ने नाटू भाइयो को, विना अभियोग चलाये हुए, निर्वासित कर दिया और अपने पत्र 'केसरी' मे तीव्र लेख लिखने के कारण श्री वाल गगाधर तिलक को जेल भेज दिया। अशिक्षित जनता को यह भ्रम हो गया था कि प्लेग के कीडों को सरकार फैलाती है। सन् १८९८ मे सरकार को भी अपनी भूल का पता लग गया। उसने अधिक हस्तक्षेप न करना ही उचित समझा और नियमों को बहुत कुछ बदल दिया। धीरे धीरे प्लेग सभी प्रान्तों मे फैल गया और सन् १९०३ के अन्त तक इसमें २० लाख आदमी मर गये। अब प्लेग का उतना प्रकोप नहीं है, पर तब भी हरसाल लाखों आदमी इसके कलेवा बन जाते है।

इसी समय पश्चिमोत्तर प्रान्त, मध्य प्रदेश, बिहार और पजाब में बडा भीषण अकाल पड़ा। पश्चिमोत्तर प्रान्त मे अकालपीडित मनुष्यों के लिए लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर ऐंटनी मैकडानेल ने सराहनीय प्रयत्न किया। सन् १८९८ मे अकाल से बचने के साधन बतलाने के लिए फिर एक कमीशन नियुक्त किया गया। अकालों के सम्बन्ध मे काग्रेस का मत था कि भारतवर्ष का बहुत सा धन हर साल विलायत चला जाता है। अँगरेज़ अफसरो को बडी बड़ी तनख्वाहें देने और सेना रखने मे ख़ूब रुपया उड़ाया जाता है। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि जनता बराबर दरिद्र होती जाती है। यही कारण है कि दुर्भिक्ष के समय मे कष्ट इतना अधिक बढ़ जाता है। इसको निवारण करने के लिए खर्च घटाना चाहिए, रुपया जोडना चाहिए और देशी कलाओं को, जो नष्ट कर दी गई है, फिर से जाग्रत करना चाहिए।[1]

कपड़े पर चुंगी—सिक्के के झगडे के कारण, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, भारत-सरकार को जिस साल लार्ड एलगिन आया बडा घाटा उठाना पडा। इसको पूरा करने के लिए सूती कपडे को छोडकर वाहर से आनवाले माल पर पाँच सैकडा फिर चुगी लगा दी गई। साल के अन्त

---

१ सन् १८९६ की काग्रेस का प्रस्ताव।

में यह चुंगी कपड़े पर भी ली जाने लगी। इस पर मैंचेस्टर और लंकाशायर के कपड़े के व्यापारियों ने बड़ा शोर-गुल मचाया। तब भारत-सरकार ने उनको शान्त करने के लिए भारत के कारखानों में बने हुए कपड़े पर भी उतनी ही चुंगी लगा दी। सरकार की यह बड़ी जबरदस्ती थी। इसके विरुद्ध भारत में भी आन्दोलन होने लगा। सन् १८९६ में देशी और विलायती दोनों कपड़ों पर चुंगी घटाकर साढ़े तीन सैकड़ा कर दी गई। मैंचेस्टर के लाभ के लिए देशी माल पर चुंगी लगाने का भारतवर्ष बराबर विरोध करता रहा।

अफ़ीम का व्यापार—अफ़ीम पर सरकार का ठेका है। इसका बहुत सा भाग चीन जाता है। सन् १८४२ में अफ़ीम के ही कारण चीन से युद्ध हो गया था। इस व्यापार से सरकार का बड़ा लाभ होता है। कुछ लोगों के मत में अफ़ीम ऐसी हानिकारक वस्तु के प्रचार से लाभ उठाना सरकार के लिए उचित नहीं था। इसकी जाँच करने के लिए सन् १८९३ में एक कमीशन नियुक्त हुआ। इसकी राय थी कि अफ़ीम से कोई विशेष हानि नहीं होती, इसलिए आमदनी के खयाल से भारत-सरकार को यह व्यापार नहीं छोड़ना चाहिए। इस तरह चीन का पीछा नहीं छोड़ा गया। बहुत झगड़ों के बाद यह तय हुआ कि सन् १९०८ से चीन में अफ़ीम का भेजना धीरे धीरे कम कर दिया जाय।

सैनिक प्रबन्ध—इस समय तक बंगाल, बम्बई और मदरास की सेनाएँ अलग अलग रहती थीं और उनके सेनापति भी अलग अलग होते थे। परन्तु सन् १८७९ से इन तीनों सेनाओं को मिलाकर एक सेनापति रखने के प्रश्न पर विचार हो रहा था। सन् १८९५ में यह प्रबन्ध स्वीकार कर लिया गया और भारत की कुल सेना का एक सेनापति बना दिया गया। इस सुधार से सेना का प्रान्तीय भेद जाता रहा और उसमें एकता के भाव का संचार हुआ।

लार्ड कर्ज़न—सन् १८९९ में लार्ड कर्ज़न वाइसराय बनाया गया। भारतवर्ष के वाइसराय बनने की बचपन से ही इसको बड़ी आकांक्षा थी।

इस पद पर नियुक्त होने के पहले वह चार बार भारतवर्ष आ चुका था और एशिया के प्रायः सभी देशों का भ्रमण कर चुका था। फारस के शाह, अफगानिस्तान के अमीर, कोरिया तथा स्याम के बादशाहों से उसका परिचय था और पूर्वीय राजनीति का उसको अच्छा ज्ञान था। इस सम्बन्ध में उसने तीन पुस्तकें भी लिखी थीं। इन दिनों पश्चिमोत्तर सीमा का प्रश्न फिर जटिल हो रहा था। ऐसी दशा में उस विषय के एक पूर्ण ज्ञाता का वाइसराय के पद पर नियुक्त किया जाना आवश्यक समझा जाता था। इस समय लार्ड कर्जन की अवस्था ४० वर्ष की भी न थी, पर तब भी उसकी योग्यता का परिचय सारे देश को मिल चुका था। भाषण की उसमें विचित्र शक्ति थी, कल्पना की उसमें कमी न थी। हर एक बात उसकी समझ मे शीघ्र ही आ जाती थी। उसका प्रबन्ध ऐसा होता था कि कोई कसर बाकी न रह जाती थी। वह बड़ा परिश्रमी था, उसके नीचे काम करनेवालों को उसका साथ देना मुश्किल हो जाता था। अपने आगे वह किसी की भी न सुनता था। ब्रिटिश साम्राज्य का उसको बड़ा अभिमान था। भारतवर्ष ऐसे विशाल देश पर वह शासन करने आया है, इसका उसे बराबर ध्यान रहता था।
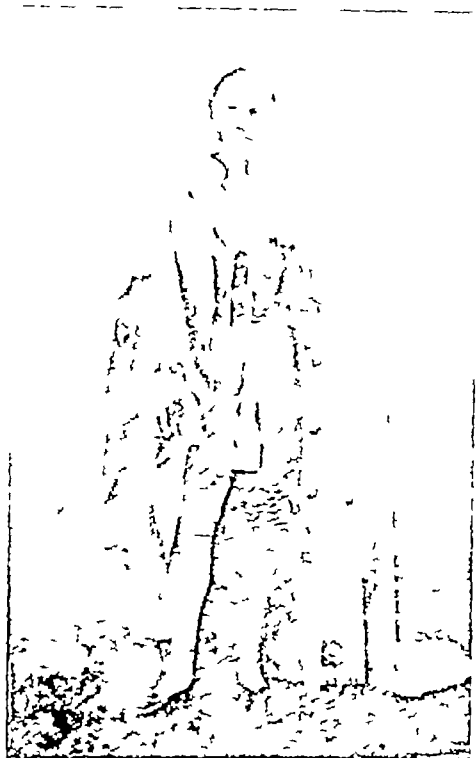
लार्ड कर्जन

भारतवर्ष की राजनीति से भी वह अनभिज्ञ न था। दो वर्ष तक वह उपसचिव के पद पर काम कर चुका था। सन् १८९२ का 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' पार्लामेंट की कामस सभा मे उसी ने पेश किया था। भारतवर्ष को वह "ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र" समझता था। इँग्लेंड से चलते समय उसने कहा था कि वाइसराय के पद को मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ, क्योंकि मैं भारतवर्ष, उसके निवासी, उसके इतिहास, उसके शासन, उसके जीवन तथा उसकी सभ्यता के मनोग्राही रहस्यो से प्रेम करता हूँ।[1] लार्ड कर्जन के इन शब्दो से भारतवासियो को भी उससे बहुत कुछ आशा हो रही थी और चौदहवीं कांग्रेस ने, सहानुभूतिसूचक शब्दो के लिए कृतज्ञता प्रकट करते हुए, उसके स्वागत का प्रस्ताव पास किया था।

अकाल—भारतवासियो के लिए लार्ड कर्जन के शासन का प्रारम्भ अकाल से हुआ। सन् १९०० मे फिर बडा भयकर अकाल पडा। इस बार गुजरात मे इसका बडा प्रकोप रहा। सन् १९०१ मे सर ऐंटनी मैकडानेल की अध्यक्षता मे फिर एक कमीशन नियुक्त किया गया, पर कांग्रेस के बताये हुए उपायो की ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया। कांग्रेस का कहना था कि जहाँ तक सम्भव हो देश भर मे इस्तमरारी बन्दोबस्त कर देना चाहिए, लगान घटा देना चाहिए, अँगरेज अफसरो के वेतन मे हर साल करोडो रुपया विलायत जाता है, उसको कम करने के लिए हिन्दुस्तानियो को बडे बडे ओहदे देना चाहिए और देशी कारखानो की रक्षा तथा कलाओ को उत्साह प्रदान करना चाहिए।

पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त—लार्ड कर्जन 'आगे बढने की नीति' का अनुयायी था। इँग्लेंड मे बहुतो को सन्देह था कि उसके समय मे सीमा पर लडाई छिडेगी और रूस से भी वैर होगा। परन्तु उसने ऐसी नीति से काम लिया कि सन् १९०१ मे महसूदी वजीरियो को दबाने के लिए एक छोटी सी लड़ाई के सिवा, दस वर्ष तक सीमा पर शान्ति रही। लार्ड

---

१ रोनाल्डशे, लार्ड कर्जन, जि० १, पृ० ३१५।

एलगिन के समय मे दस बारह हजार सेना भिन्न भिन्न स्थानो मे रख दी गई थी। लार्ड कर्जन ने इसमे की बहुतसी सेना का वापस बुला लिया श्रौर श्रँगरेज़ श्रफसरो की श्रध्यत्तता मे वहाँ के निवासियो को श्रस्त्र-शस्त्र देकर रत्ता का भार सैांप दिया। इस समय तक सीमा पर के जिलों का शासन पजाब-सरकार के हाथ मे था। सन् १९०१ मे इनका 'पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त' के नाम से एक श्रलग प्रान्त बना दिया गया। नाम मे कोई गडबड़ न हो इसलिए 'पश्चिमोत्तर प्रान्त' का नाम 'सयुक्त प्रान्त श्रागरा श्रौर श्रवध' रख दिया गया।

अफ़ग़ानिस्तान—सन् १९०१ मे श्रमीर श्रब्दुर्रहमान की मृत्यु हो गई। लार्ड कर्जन के साथ उसका पहले से परिचय था श्रौर वह कर्जन की नीति से सन्तुष्ट था। यद्यपि श्रँगरेजों की नीति पर उसे श्रधिक विश्वास नहीं था, पर तब भी श्रपने हित के लिए वह उनकी मित्रता श्रावश्यक समझता था। उसका लडका श्रमीर हबीबुल्ला गद्दी पर बैठा। उसके साथ भी श्रँगरेज नई सन्धि करना चाहते थे, पर उसने इसको स्वीकार न किया। उसकी राय में पिछली सन्धि श्रफगानिस्तान राज्य के साथ हुई थी। वह श्रमीर श्रब्दु-र्रहमान के साथ व्यक्तिगत सन्धि न थी। ऐसी दशा में उसके बदलने की कोई श्रावश्यकता न थी। इस पर दो तीन वर्ष तक दोनो सरकारो मे कोई सम्बन्ध न रहा श्रौर श्रमीर हबीबुल्ला ने, भारत-सरकार से जो सालाना रुपया मिलता था, वह भी न लिया। सन् १९०४ में एक श्रँगरेज दूत फिर श्रफगा-निस्तान भेजा गया, नई सन्धि पर जोर देना छोड दिया गया श्रौर हबीबुल्ला की 'शाह' की उपाधि मान ली गई। इस पर दोनो राज्यों मे फिर मित्रता स्थापित हो गई श्रौर हबीबुल्ला ने भारत-सरकार से जो रुपया बाक़ी था ले लिया।

फ़ारस की खाड़ी—सत्रहवीं शताब्दी मे श्रँगरेजों ने फारस की खाड़ी को व्यापार के लिए सुरत्तित बनाया था। सन् १८९३ मे श्रन्य राज्यों के जहाज भी यहाँ से श्राने-जाने लगे थे, पर श्रँगरेज इसके तटों पर किसी श्रन्य राज्य का श्रधिकार पसन्द न करते थे। यह बात इन राज्यो को खटकती थी श्रौर धीरे धीरे फ्रांस, रूस, जर्मनी श्रौर तुर्की इसके तटों पर जहाजों के स्टेशन बनाकर

उसकी सहायता के लिए एक सेना भेज दी गई। तिब्बतवाले आधुनिक शस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सेना का सामना न कर सके और अँगरेज वहाँ की राजधानी लहासा में पहुँच गये। इस पर सन्धि हो गई, जिसके अनुसार ७५ लाख रुपया दंड माँगा गया, जमानत के लिए कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लिया गया, और अँगरेज़ों को व्यापारिक सुविधाएँ देने तथा प्रतिनिधि रखने के लिए तिब्बत-सरकार को मजबूर किया गया। उससे यह वचन भी लिया गया कि भविष्य में वह किसी अन्य राज्य से सम्बन्ध न रखेगी।

इँग्लैंड-सरकार की इच्छा के विरुद्ध यह सन्धि की गई थी। तिब्बत के किसी भाग पर अधिकार न करने का वह रूस को वचन दे चुकी थी। लार्ड कर्जन के विरोध करते रहने पर भी उसने सन्धि की शर्तों को बदल दिया और दंड की रकम को घटाकर २५ लाख कर दिया। तीन वर्ष के बाद अधिकृत प्रदेश को खाली कर देने का वचन दिया और प्रतिनिधि रखने का विचार छोड़ दिया। एक दल का कहना है कि लार्ड कर्जन ने रूस की गुप्त चालों का अन्त कर दिया। इसके प्रतिकूल दूसरे दल का मत है कि एक स्वतंत्र पर निर्बल राज्य को अकारण दबाना अनुचित था। यह बात ठीक है कि सिवा [illegible] आने के इससे अँगरेजों का कोई लाभ नहीं हुआ, तिब्बत पर चीन का अधिकार पक्का हो गया और बैठे-बिठाये भारत की पूर्वोत्तर सीमा पर एक झगड़ा पैदा हो गया। इस झंझट में भारतवर्ष का खजाना बेकार लुटाया गया। सन् १८५८ में यह कहा गया था कि भारतवर्ष की आमदनी सिवा उस पर आक्रमण रोकने के और किसी दशा में उसकी सीमाओं के बाहर न खर्च की जायगी, परन्तु इस समय इसका कुछ भी ध्यान न रखा गया। कांग्रेस ने सरकार की इस नीति का विरोध किया।

बरार का झगड़ा—सन् १८५३ में निज़ाम के साथ बरार के सम्बन्ध में जो सन्धि की गई थी, उसमें यह कहा गया था कि निजाम को कुल हिसाब बराबर समझाया जायगा और जो बचत होगी दी जाया करेगी। बरार की आमदनी से ७ हजार सेना का खर्च चलाना और ४८ लाख रुपये का कर्ज निपटाना निश्चित किया गया था। शासन का खर्च स्पष्ट नहीं किया

गया था पर यह कह दिया गया था कि दो लाख रुपया साल से अधिक न होगा। सन् १८५३ तक सेना का खर्च ४० लाख रुपया साल होता था, यह घटाकर २४ लाख कर दिया गया, पर सेना की संख्या में कोई कमी या प्रबन्ध में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की गई। यदि यह रकम पहले ही घटा दी गई होती, जिसके करने में किसी प्रकार की बाधा न थी, तो इतने कर्ज की नौबत ही न आती, परन्तु वैसा नहीं किया गया। सन् १८५७ के गदर में अँगरेजों की सहायता करने के बदले में कर्ज माफ कर दिया गया। सेना का खर्च घट जाने से जो बचत हुई, उसका तथा आबकारी का जब निजाम ने पिछला हिसाब माँगा, तब उसके जिम्मे ४४ लाख की दो रकमें और दिखला दी गईं, जिनका इसके पहले कभी जिक्र तक नहीं किया गया था। सन् १८६० में जो नई सन्धि की गई, उसमें से हिसाब समझाने की शर्त ही निकाल दी गई।

शासन का खर्च बढ़ाकर चौगुना कर दिया गया। इस पर सन् १९०२ में इलाहाबाद के अँगरेजी समाचारपत्र 'पायनियर' का लिखना था कि "पहले हमने कर्ज के बदले में जायदाद देने के लिए निजाम पर जोर दिया, बाद को यह कर्ज फर्जी साबित हुआ। २५ सैकड़ा से अधिक शासन में खर्च न करने और सालाना बचत निजाम को देने का हमने वचन दिया। इस पर विश्वास करके निजाम ने हिसाब माँगना छोड़ दिया और हमको शासन की स्वतन्त्रता दे दी। हमने इसका (अनुचित) लाभ उठाकर केवल शासन का खर्च ४३ *सैकड़ा कर दिया।" यह बात ठीक है कि इस शासन से बरार का भी लाभ* हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं कि खर्च खुले हाथ से किया गया। सन् १९०२ में लार्ड कर्जन निजाम महबूबअलीखाँ से एकान्त में मिला और उससे यह स्वीकार करवा लिया कि २५ लाख रुपया सालाना देने पर अँगरेजों को बरार सदा के लिए दे दिया जाय। इस प्रबन्ध से बेचारे निजाम की ही हानि हुई, क्योंकि सेना टूट जाने से बरार की बचत ५० लाख साल से भी अधिक हो गई।[१]

---

१ ब्रिविल, हिस्टी ऑफ दि डेकन, जि० २, पृ० २१५-३४।

निजाम के वजीर नवाब सर सालारजंग के समय में हैदराबाद की बहुत कुछ उन्नति हुई। मालगुजारी के ठेके उठा दिये गये, पुलिस का प्रबन्ध ठीक किया गया, नई अदालतें स्थापित की गईं, स्कूल तथा कालेज खोले गये और प्रजा की दशा सुधारने की ओर अधिक ध्यान दिया गया। हैदराबाद राज्य में हिन्दुओं की संख्या अधिक है, पर यहाँ कभी पक्षपात से काम नहीं लिया गया। इन दिनों भी वजीर के पद पर एक हिन्दू राजा है।

दिल्ली दरबार और देशी राज्य—जनवरी सन् १९०१ में, ८२ वर्ष की अवस्था में, महारानी विक्टोरिया का देहान्त हो गया। ६४ वर्ष तक उसने राज्य किया। उसको अपनी भारतीय प्रजा से भी प्रेम था। देश भर में उसके मरने का शोक मनाया गया। उसका लड़का सातवाँ एडवर्ड गद्दी पर बैठा। सन् १९०३ में दिल्ली में भी एक बड़ा भारी दरबार किया गया। भारतवर्ष पिछले दुर्भिक्ष के कष्ट से इस समय तक मुक्त न हो पाया था, पर इसका कुछ भी ध्यान न रखा गया और लाखों रुपया 'तमाशे' में उड़ाया गया। इस साल की कांग्रेस के सभापति श्री लालमोहन घोष का कहना था कि जितना दरबार में रुपया फूँका गया, यदि उसके आधे से भी अकालपीड़ितों की सहायता की गई होती, तो लाखों मनुष्यों के प्राण बच गये होते। इस दरबार में देशी नरेशों के सम्मान का कुछ भी ध्यान न रखा गया। इन पर

सातवें एडवर्ड

लार्ड कर्जन की बड़ी कड़ी निगाह रहती थी। उसने एक आज्ञा प्रकाशित करवा दी थी कि भारत-सरकार की बिना अनुमति के कोई राजा यूरोप न जाय।[1]

कृषि और व्यापार—पंजाब में महाजन लोग अधिक ब्याज पर रुपया देकर किसानों की जमीनें छीन लेते थे। उनकी रक्षा के लिए सन् १९०० में यह नियम बना दिया गया कि कर्ज में किसी काश्तकार की जमीन न छीनी जाय। सन् १९०२ में मालगुजारी के प्रश्न की भी फिर से जाँच की गई। लार्ड कर्जन ने इस बात को दिखलाने की चेष्टा की कि अकालों का कारण मालगुज़ारी या लगान की अधिकता नहीं है। पर साथ ही साथ उसने यह भी निश्चय किया कि फ़सल खराब होने पर कुछ माफी देनी चाहिए या कुछ काल तक लगान वसूल न करना चाहिए। किसानों को आर्थिक सहायता देने के लिए 'कोआपरेटिव सोसाइटियों' (सहयोग-समितियों) के खोलने का प्रबन्ध किया गया और खेती की देखभाल करने के लिए 'कृषि-विभाग' स्थापित किया गया। व्यापार की निगरानी करने के लिए वाइसराय की कौंसिल का एक मेम्बर और बढ़ाया गया।

प्राचीन स्मारक-रक्षा—भारतवर्ष में बहुत सी हिन्दूकालीन इमारतें तो नष्ट हो ही चुकी थीं, मुगल साम्राज्य तथा बड़े बड़े देशी राज्यों का अन्त हो जाने से मध्यकालीन इमारतों की भी वही दशा हो रही थी। फ़तहपुर सीकरी के विशाल भवनों में भालू और भेड़िये निवास करते थे। संसार की सुन्दर इमारतों के ताज—ताजमहल—की शोचनीय दशा थी। बहुत सी इमारतों को तोड़-फोड़कर सरकारी दफ्तर बना लिये गये थे। लार्ड कैनिंग ने इस ओर अवश्य कुछ ध्यान दिया था, पर इस समय तक भारत-सरकार इनकी रक्षा के लिए अपने को जिम्मेदार न मानती थी। लार्ड कर्जन के समय में इनकी रक्षा तथा मरम्मत करने के लिए एक खास कानून बनाया गया और इसके लिए एक नया विभाग स्थापित किया गया, जो 'आर्क्योलोजिकल डिपार्टमेंट' कहलाता है। इस विभाग ने बड़ी खोज की है और अनेक ऐतिहासिक विषयों

---

१ फ्रेज़र, इंडिया अंडर कर्जन, पृ० २२९।

पर नया प्रकाश डाला है। निस्सन्देह प्राचीन सभ्यता के चिह्नों की रक्षा करके लार्ड कर्जन ने भारत का बड़ा उपकार किया।

उच्च शिक्षा—सन् १९०१ में शिक्षा के प्रश्न पर विचार करने के लिए शिमला में एक सम्मेलन किया गया। इसमें एक भी हिन्दुस्तानी नहीं बुलाया गया। यद्यपि लार्ड कर्जन का कहना था कि "मैं जब से भारतवर्ष आया हूँ, किसी बात का गुप्त रखना मेरी नीति नहीं रही," पर तब भी इस सम्मेलन की कार्यवाही गुप्त रखी गई। इसके बाद एक कमीशन नियुक्त किया गया। इसमें भी पहले कोई हिन्दुस्तानी मेम्बर नहीं रखा गया। समाचारपत्रों में बड़ा विरोध होने पर कलकत्ता हाईकोर्ट के जज सर गुरुदास बनर्जी का नाम शामिल कर लिया गया। पाँच ही महीने में इस कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई। इसकी राय थी कि सरकारी सहायता पानेवाले छोटे छोटे कालेजों में शिक्षा ठीक नहीं होती। इन कालेजों में कानून पढ़ाने के दर्जे न रखने चाहिएँ, इसके लिए एक कालेज अलग खोलना चाहिए। कालेजों में फीस बढ़ा देनी चाहिए, उनके निरीक्षण के लिए इंसपेक्टर रखने चाहिएँ और यूनिवर्सिटियों का प्रबन्ध करनेवाले 'सिनेट' तथा 'सिंडिकेट' का ऐसा संगठन करना चाहिए कि जिसमें उन पर सरकार की पूरी देख-रेख रह सके।

इसी रिपोर्ट के आधार पर सन् १९०४ में 'यूनिवर्सिटीज ऐक्ट' पास किया गया। कमीशन का उद्देश्य "शिक्षा का सुधार" बतलाया गया था, पर वास्तव में जैसा कि कमीशन ने स्वयं स्वीकार किया था, इसने यूनिवर्सिटियों पर सरकार का अधिकार बढ़ा दिया और उच्च शिक्षा के क्षेत्र को संकुचित बना दिया। उच्च शिक्षा से जिस लोकमत की जागृति हो रही थी, वह लार्ड कर्जन को पसन्द न था। उसका कहना था कि इससे हिन्दुस्तानी पाश्चात्य सभ्यता के कोरे कोरे शब्दों को सीख जाते हैं, पर उनके भावों को नहीं समझते। सार्वजनिक आन्दोलनों में सबसे अधिक भाग लेने के कारण वकील सरकार की आँखों में खटक रहे थे। इसी लिए कानून पढ़ाने की सुविधाओं को हटा कर उनकी संख्या कम करने का प्रयत्न किया गया। सर गुरुदास बनर्जी ने कमीशन की सिफारिशों से अपना मतभेद प्रकट किया। कांग्रेस की राय थी

कि इस नये कानून से यूनिवर्सिटियों की "स्वतंत्रता नष्ट हो गई और वे सरकार का एक विभाग बन गई।"

बंग-विच्छेद—शासन की दृष्टि से उस समय का बंगाल प्रान्त एक लेफ्टिनेंट-गवर्नर के लिए बहुत बड़ा था। सारे प्रान्त पर पूरा निरीक्षण न हो पाता था। इसी लिए कुछ दिनों से उसके दो टुकड़े करने का विचार किया जा रहा था। पहले यह सोचा गया कि पूर्वीय बंगाल अर्थात् चटगाँव, ढाका तथा मैमनसिंह के जिले आसाम में मिला दिये जायँ। बाद को लार्ड कर्ज़न ने गुप्त रीति से यह निश्चित किया कि उत्तरी बंगाल के कुछ जिले भी इसी के साथ मिला दिये जायँ। ये सब जिले बंगाल के अंग हैं। उनकी भाषा, सभ्यता और संस्कृति एक है, इसका कुछ भी ध्यान न रखा गया। सन् १९०५ में 'आसाम और पूर्वीय बंगाल' का नया प्रान्त बना दिया गया और उसके शासन के लिए एक लेफ्टिनेंट-गवर्नर रख दिया गया। ढाका उस प्रान्त की राजधानी बनाया गया।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

स्वदेशी और बायकाट—इसके विरुद्ध बंगाल में घोर आन्दोलन मच गया। बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, जिन्होंने अपना सर्वस्व देशसेवा के लिए अर्पण कर दिया था, इसके मुख्य नेता हुए। पहले सरकार से प्रार्थना की गई, पर जब कोई सुनवाई नहीं हुई, तब अँगरेजों पर जोर डालने के लिए

स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार और विलायती वस्तुओं के बहिष्कार की प्रतिज्ञा की गई। इसमें देश के प्राय सभी प्रान्तों ने बगाल का साथ दिया। सर्वत्र स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार का प्रबन्ध होने लगा और आन्दोलन में एक नया जीवन आ गया। कांग्रेस ने भी 'स्वदेशी और बायकाट' की नीति को मान लिया और देश भर में एक विचित्र जागृति हो गई। कई एक नये कारखाने खुल गये, समाचारपत्रों में निर्भीकता आ गई, अशिक्षित समाज में भी देश की चर्चा होने लगी, एकता का भाव बढ़ने लगा और भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का सचमुच जन्म हो गया।

शासन की सुविधा के लिए कई उपाय थे, जिनमें बगाल की जनता को कोई आपत्ति न हो सकती थी। मदरास और बम्बई की तरह यहां भी लेफ्टि-नेंट गवर्नर की सहायता करने के लिए एक्जीक्युटिव कौंसिल स्थापित की जा सकती थी या बिहार तथा उडीसा के जिले अलग किये जा सकते थे, जैसा कि बाद में किया गया, पर इन दिनों सरकार की नीति ही दूसरी थी। कलकत्ता के नेताओं का सारे प्रान्त पर प्रभाव पड रहा था। लार्ड कर्जन इसको अच्छा न समझता था। 'स्टेट्समैन' पत्र के एक भूतपूर्व सम्पादक की राय में बगालियों की सयुक्त शक्ति तथा कलकत्ते के राजनैतिक प्राधान्य का नष्ट करना और हिन्दुओं को दबाये रखने के लिए मुसलमानों के जोर को बढाना वास्तव में बग-विच्छेद के मुख्य उद्देश्य थे। पूर्वीय बगाल में मुसलमानों की सख्या अधिक है, इसलिए यह दिखलाने की चेष्टा की गई कि इस प्रबन्ध में मुसलमानों के हित का विशेष ध्यान रखा गया है। देशव्यापी आन्दो-लन बनावटी बतलाया गया और उसके दबाने का संकल्प कर लिया गया। सभाएँ तोड दी गईं, 'वन्दे मातरम्' चिल्लाना अपराध बना दिया गया, नेताओं पर अभियोग चलाये गये और बहुतों को जेल का दड दिया गया। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि आन्दोलन और भी जोर पकड गया।

किचनर से मतभेद—प्रधान सेनापति प्राय. वाइसराय की कौंसिल का मेम्बर भी होता था, पर सेना का 'शासनविभाग' कौंसिल के एक साधा-रण मेम्बर के हाथ में रहता था, जो एक सैनिक ही हुआ करता था। सेना

के शासन-सम्बन्धी मामलों में वाइसराय को यही सलाह देना था और प्रधान सेनापति के सब प्रस्ताव इसी के द्वारा वाइसराय के पास जाते थे। लार्ड किचनर की राय में, जो इन दिनों भारत का प्रधान सेनापति था, इस तरह सैनिक प्रबन्ध के हर एक काम में बड़ी देर लगती थी और वाद-विवाद बढ़ जाता था। इसलिए वह इस विभाग को प्रधान सेनापति की अध्यक्षता में ही रखना चाहता था। लार्ड कर्जन और उसकी कौंसिल दोनों इस राय के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि ऐसा करने से प्रधान सेनापति का अधिकार बहुत बढ़ जायगा, वाइसराय को, जिसे प्रायः सैनिक मामलों का विशेष ज्ञान नहीं रहता, स्वतंत्र सलाह न मिल सकेगी और उसको प्रधान सेनापति की सब बातें माननी पड़ेंगी। इसके उत्तर में लार्ड किचनर का कहना था कि हर एक बात के मानने या न मानने का वाइसराय को सदा अधिकार है। फिर ऐसी दशा में प्रधान सेनापति के होते हुए सेना का शासन एक साधारण सैनिक के हाथ में देना उचित नहीं जान पड़ता।

लार्ड कर्ज़न का इस्तीफ़ा—इस मामले में भारतसचिव ने जो निर्णय किया, वह लार्ड कर्जन को पसन्द न आया और उसने सन् १९०५ में इस्तीफा दे दिया। उसके पद की अवधि सन् १९०४ ही में समाप्त हो गई थी, पर वह दूसरी बार पाँच वर्ष के लिए फिर से नियुक्त किया गया था। इस बीच में, जब वह ६ महीने के लिए इँग्लैंड गया था, तब उसके स्थान पर मदरास के गवर्नर लार्ड एमथिल ने काम किया था। इसमें सन्देह नहीं कि लार्ड कर्जन बड़ा प्रतिभाशाली मनुष्य था। हर एक बात पर वह अपनी छाप लगाना चाहता था। अपने सिद्धान्तों के अनुसार वह कायापलट करना चाहता था। वह लार्ड वेलेजली और डलहौजी के ढंग का गवर्नर-जनरल था, जिन्होंने भारतवर्ष का नक़शा बदल दिया था। लार्ड कर्जन के लिए जीतने को कुछ बाकी न रह गया था, उसने बंगाल के टुकड़े करके ही ऐसा किया। महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र की प्रतिज्ञाओं का पालन करना उसकी राय में असम्भव था। वह अपने को भारत की दीन जनता का संरक्षक मानता था, देश के नेताओं पर उसको विश्वास न था और भारतीय शिक्षित

समाज को वह तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। उसका कहना था कि पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में सत्य का अधिक सम्मान है, पूर्व में कपट की ही मात्रा अधिक है, पूर्वीय कूटनीति संसार में प्रसिद्ध है।[1]

वह भारतवर्ष का शासन अँगरेजों के लिए "ईश्वरदत्त' मानता था। उसका विश्वास था कि सत्य के लिए लड़ना, अपूर्णता, अन्याय तथा नीचता का तिरस्कार करना, प्रशंसा, खुशामद या निन्दा की, जिनकी भारतवर्ष में कमी नहीं है, कभी पर्वाह न करना, ईश्वर ने यह काम सौंपा है, ऐसा समझ कर, न्याय, सुख, समृद्धि, नैतिक सम्मान, स्वदेशभक्ति, मानसिक उन्नति और कर्तव्य-परायणता के भावों का करोड़ों भारतवासियों में यथाशक्ति प्रचार करना ही भारतवर्ष में अँगरेजों के रहने का समर्थन है। उसका कहना था कि इसके अतिरिक्त मेरा अन्य कोई उद्देश्य नहीं रहा, इसका निर्णय भारतवर्ष ही करेगा।[2]
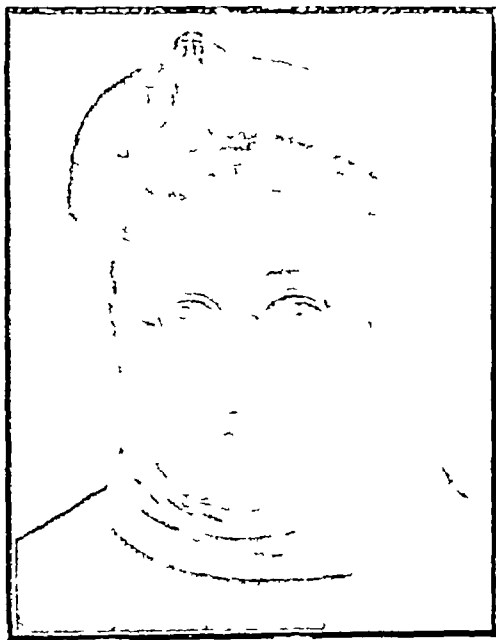
भारतवर्ष ने जो निर्णय किया, वह सन् १९०५ की कांग्रेस के सभापति स्वर्गीय श्री गोपाल कृष्ण गोखले के शब्दों में प्रकट है। गोखले का कहना था कि भारतवर्ष के इतिहास में लार्ड कर्जन के शासन की तुलना

गोपाल कृष्ण गोखले

---

[1] कलकत्ता कनवोकेशन ऐड्रेस।

[2] रोनाल्डशे, लार्ड कर्जन, जि० २, पृ० ४२४।

औरंगजेब के शासन से हो सकती है। उसने भी शासन को पूर्ण रूप से व्यक्तिगत बनाने का प्रयत्न किया था। उद्देश्य की दृढ़ता, कर्तव्य का भाव, काम करने की विचित्र शक्ति, अविश्वास और दमन की नीति में आग्रह उसमें भी ऐसा ही था। लार्ड कर्जन की सबसे अधिक प्रशंसा करनेवाले भी इस बात को मानने के लिए तैयार न होंगे कि उसने भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की नींव को दृढ़ बना दिया। "उसके लिए भारतवर्ष ऐसा देश था, जिसमें अँगरेज कुल शक्ति सदा अपने हाथ में रखकर केवल कर्तव्य ही का बखान किया करे। उसकी राय में भारतवासियों के लिए शासित होना ही केवल काम था, अन्य कोई आकांक्षा रखना पाप था।"

यह बात ठीक है कि अविश्वास तथा दमन की नीति से स्वदेशप्रेम और राष्ट्रीयता के भावों को उत्तेजना देने के लिए भारतवर्ष लार्ड कर्जन का अवश्य कृतज्ञ रहेगा।

परिच्छेद १६

राजनैतिक सुधार

लार्ड मिंटो—लार्ड कर्जन के इस्तीफा देने पर लार्ड मिंटो वाइसराय नियुक्त किया गया। यह पहले लार्ड मिंटो का, जो सन् १८०६ में गवर्नर-जनरल होकर आया था, वंशज था और कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था। लार्ड कर्जन ने देश की स्थिति बड़ी नाजुक बना दी थी, जिसके कारण लार्ड मिंटो को बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं।

लार्ड मिंटो

अमीर हबीबुल्ला—सन् १९०७ में अफगानिस्तान का अमीर हबीबुल्ला भारतवर्ष आया। लार्ड कर्जन उसको दिल्ली के दरबार में बुलाना चाहता था, परन्तु वह लार्ड कर्जन के स्वभाव को अच्छी तरह जानता था, इसलिए उसने आने से इनकार कर दिया था। लार्ड मिंटो ने आगरा में उसका बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया। वाइसराय के व्यवहार से वह बहुत सन्तुष्ट होकर वापस गया। हिन्दुओं का ध्यान रखकर बकरीद के समय पर उसने दिल्ली में गोवध न होने दिया। सन् १९०७ में इंग्लैंड का रूस से समझौता हो गया, जिससे दोनों साम्राज्यों ने अफगानिस्तान, फारस की खाड़ी
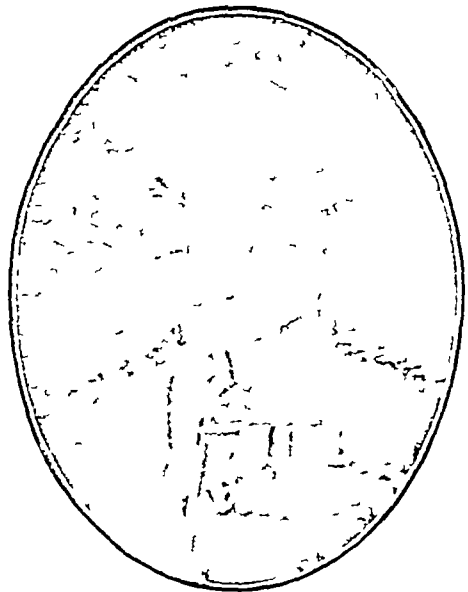
और तिब्बत के सम्बन्ध में अपनी नीति स्थिर कर ली। यह समझौता हबीबुल्ला को पसन्द न आया, पर तब भी उसने भारत-सरकार के साथ मित्रता का व्यवहार न छोड़ा। सन् १९०८ में सीमा पर जब जक्काखेल अफ्रीदियों ने फिर से उपद्रव किया, तब भी उसने उनका पक्ष न लिया। सीमा प्रदेश पर अधिकार करने की बात फिर चल पड़ी, परन्तु भारतसचिव ने स्पष्ट शब्दों में इसको रोक दिया।

मुसलिम लीग—कांग्रेस में बहुत कम मुसलमान शामिल हुए थे, अँगरेजी शिक्षा का बहुत प्रचार न होने के कारण अधिकांश मुसलमानों का ध्यान देश की स्थिति की ओर न गया था। राष्ट्रीय आन्दोलन को जोर पकड़ते देखकर सन् १९०६ में कुछ नेताओं ने मुसलमानों के राजनैतिक स्वत्वों की रक्षा करने के लिए कांग्रेस के ढंग पर 'मुसलिम लीग' की स्थापना की। मुसलमानों के कुछ प्रतिनिधि वाइसराय से भी मिले और उन्होंने यह दिखलाया कि मुसलमानों ने सदा अँगरेजों का साथ दिया है, इसलिए उनकी संख्या का खयाल न करके उनके राजनैतिक महत्त्व का बराबर ध्यान रखना चाहिए। साथ ही साथ उन्होंने इस पर भी जोर दिया कि कौंसिलों में जाने के लिए मुसलमान प्रतिनिधि केवल मुसलमानों द्वारा ही चुने जायँ। लार्ड मिंटो ने इ[illegible]नों का ध्यान रखने का वचन दिया।

कांग्रेस में मतभेद—सन् १९०६ की कांग्रेस के सभापति वयोवृद्ध द[illegible]भाई नौरोजी ने 'स्वराज्य' अर्थात् उपनिवेशों के ढंग का शासन राजनैतिक आ[illegible]लन का मुख्य उद्देश्य बतलाया। इसका प्रारम्भ सरकार किस ढंग से कर सकती है, इसके लिए कांग्रेस ने कई एक सुधार बतलाये। परन्तु इसके बाद से ही कांग्रेस में मतभेद उत्पन्न हो गया। सरकार की दमन-नीति के कारण एक दल का, जिसके नेता श्री बाल गंगाधर तिलक थे, सरकार पर से विश्वास जाता रहा। इस दल का कहना था कि कांग्रेस को 'प्रार्थना-नीति' छोड़कर अधिक साहस से काम लेना चाहिए। सन् १९०७ में सूरत में इन दोनों दलों में बड़ा झगड़ा हो गया। 'नरम' और 'गरम' दल अलग

अलग हो गये। पहले दल के नेता श्री गोपाल कृष्ण गोखले, सर फीरोज़शाह मेहता और बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे। कांग्रेस में नरम दलवालों की संख्या अधिक थी, इन्होंने 'औपनिवेशिक स्वराज्य' कांग्रेस का ध्येय माना और कानूनी उपायों द्वारा उसे प्राप्त करना निश्चित किया। साथ ही साथ यह भी नियम बना दिया कि जो लोग कांग्रेस के ध्येय और नियमों को मानने की लिखित प्रतिज्ञा करेंगे वे ही उसके मेम्बर हो सकेंगे। इस पर गरम दल-वालों ने कांग्रेस छोड़ दी। तब से सन् १९१६ तक उस पर नरम दलवालों ही का अधिकार रहा।

क्रान्तिकारी दल—इन दिनों देश भर में घोर राजनैतिक अशान्ति थी। इसके कई एक कारण थे। लार्ड कर्ज़न की नीति से सारा देश असन्तुष्ट था अकाल और प्लेग से जनता पीड़ित थी, देश में धन का अभाव था, व्यापार चौपट हो गया था और पढ़े-लिखे लोगों की बेकारी बढ़ रही थी। बहुत से अँगरेज अफसर दूरदर्शिता से काम न ले रहे थे, पूर्वीय बंगाल में नये लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर बैमफील्ड .फुलर का शासन असह्य हो रहा था। सन् १९०४ में जापान ने रूस को परास्त किया था, इसका भी बड़ा प्रभाव पड़ रहा था और नवयुवकों में बड़ी उत्तेजना फैल रही थी। इन्हीं दिनों सरकार की नीति से हताश होकर कुछ नवयुवकों का एक ऐसा दल स्थापित हो गया, जिसने सरकार को नष्ट करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। कई एक स्थानों में इसकी गुप्त समितियाँ बन गईं और अँगरेजों पर बम फेंके जाने लगे। एक मजिस्टेट के धोखे मुजफ्फरपुर में बम लगने से दो अँगरेज महिलाओं के प्राण गये। इसी तरह जहाँ तहाँ और भी कई एक हत्याएँ हुईं।

दमन का ज़ोर—इस अवसर पर सरकार ने भी बड़ी कड़ाई से काम लिया। गुप्त समितियों को ढूँढ निकालना और सच्चे अपराधियों को पकड़ना सहज काम न था, इसलिए गरम दल के नेता ही, जिनका इस आन्दोलन से कुछ भी सम्बन्ध न था, सरकार के क्रोध का अधिकतर शिकार बने। पहले सेना में विद्रोह फैलाने के सन्देह पर, बिना किसी प्रकार की जाँच किये हुए, सन् १८१८ के एक क़ानून के अनुसार, पंजाब से श्री लाला

लाजपतराय और अजीतसिंह निर्वासित कर दिये गये। फिर 'केसरी' में सरकार के विरुद्ध तीव्र लेख लिखने के कारण श्री बाल गंगाधर तिलक पर अभियोग चलाया गया और ६ वर्ष के लिए कैद करके उन्हें मंडाले भेज दिया गया। बंगाल का उपद्रव शान्त करने के लिए ६ प्रतिष्ठित नेता भी, सन् १८१८ के कानून के अनुसार, निर्वासित कर दिये गये।

बाल गंगाधर तिलक

विस्फोटक पदार्थों का रखना या बेचना अपराध बना दिया गया। समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता छीन ली गई। उनके लिए ज़मानत जमा करने का नियम बना दिया गया। राजनैतिक अभियोगों को जल्दी निपटाने के लिए ज़ाब्ता फौजदारी का संशोधन किया गया और सरकार को, जहाँ उचित समझे, सभाएँ रोक देने का अधिकार दिया गया।

सातवें एडवर्ड का घोषणापत्र—सन् १६०८ में भारतवर्ष पर इँग्लैंड के राजाओं को राज्य करते हुए ५० वर्ष पूरे हुए, इसलिए इस अवसर पर सम्राट् की ओर से एक घोषणापत्र प्रकाशित किया गया। जोधपुर के दरबार में वाइसराय ने इसको पढ़कर सुनाया। इसमें महारानी विक्टोरिया की प्रतिज्ञाएँ दोहराई गईं, इतने वर्ष के शासन पर सन्तोष प्रकट

किया गया और प्रजाहित के लिए जो कुछ भारत-सरकार ने किया था, उसकी बड़ी प्रशंसा की गई। इसमें यह भी कहा गया कि ज़िम्मेदार बड़ी बड़ी नौकरियों के सम्बन्ध में जातिगत भेद मिटाने का प्रयत्न किया जा रहा है और प्रतिनिधि संस्थाओं के सिद्धान्त की वृद्धि के प्रश्न पर भी विचार हो रहा है।

जान मार्ले की नीति—इन दिनों भारतसचिव के पद पर इँग्लेंड का सुप्रसिद्ध विद्वान् जान मार्ले काम करता था। वह भारत-सरकार की दमन-नीति को पसन्द न करता था। यह उसके उदार सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। पर तब भी शासन की दृष्टि से, जहाँ तक बन पड़ा, उसने वाइसराय का साथ दिया। जब कभी वह देखता कि भारत-सरकार बहुत आगे बढ़ रही है, तब वह उसके रोकने का प्रयत्न करता था। बिना जाँच किये हुए नेताओं का निर्वासित करना उसे बहुत खटकता था। "जंगी कानून" के नाम से उसके "रोंगटे खड़े हो जाते थे।" उसका विश्वास था कि "यदि सुधारों से (ब्रिटिश) राज्य की रक्षा नहीं हो सकती, तो फिर किसी से नहीं हो सकती।" परन्तु इन सुधारों से उसका अभिप्राय भारतवर्ष को कभी स्वराज्य देने का न था। वह केवल शिक्षित भारतवासियों को शासन में कुछ भाग देना चाहता था। उसकी राय थी कि जहाँ तक सम्भव हो नरम दलवालों को अपने पक्ष में मिलाये रखना चाहिए। वह गोखले के साथ बराबर परामर्श किया करता था।
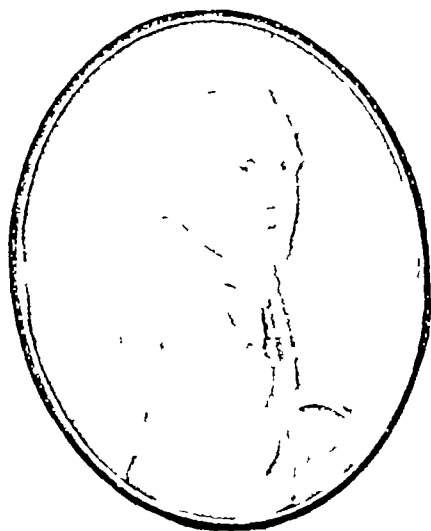
जान मार्ले

मार्ले-मिंटो सुधार—लार्ड मिंटो भी जब से भारतवर्ष आया था सुधारों की आवश्यकता प्रतीत कर रहा था। उसने समझ लिया था कि देश की स्थिति में बड़ा परिवर्तन हो गया है। अब "आंख बन्द रखने" से काम न चलेगा, भारतवासियों को कुछ अधिकार अवश्य देने पड़ेंगे। इस पर विचार करने के लिए उसने एक कमेटी भी नियुक्त की थी। वह एक हिन्दुस्तानी को अपनी 'एक्जीक्युटिव कौंसिल' का मेम्बर बनाना चाहता था, इसी का उसके कौंसिलवाले विरोध कर रहे थे। जातिगत भेद मिटाने की घोषणा करनेवाले स्वयं सम्राट् एडवर्ड भी इसके विरुद्ध थे। तीन वर्ष तक सुधारों के सम्बन्ध में वाइसराय की भारतसचिव से लिखा-पढ़ी होती रही। अन्त में दो भारतवासी 'इंडिया कौंसिल' के मेम्बर बनाये गये और कलकत्ता हाई कोर्ट के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर तथा 'ऐडवोकेट जनरल' सर सत्येन्द्रप्रसन्नसिंह वाइसराय की कौंसिल के 'क़ानूनी मेम्बर' बनाये गये। सन् १९०९ में पार्लामेंट से सुधारबिल भी पास हो गया। इसके अनुसार लेजिस्लेटिव कौंसिलों के मेम्बरों की संख्या बढ़ा दी गई और प्रान्तीय कौंसिलों में गैरसरकारी मेम्बरों की कुछ अधिकता रखी गई। बम्बई तथा मदरास की एक्जीक्युटिव कौंसिलों के मेम्बरों की भी संख्या बढ़ा दी गई और उनमें एक हिन्दुस्तानी मेम्बर रखने की व्यवस्था की गई। अन्य प्रान्तों में भारतसचिव की अनुमति से एक्जीक्युटिव कौंसिलें स्थापित करने का अधिकार वाइसराय को दिया गया। लेजिस्लेटिव कौंसिलों में मेम्बरों को प्रस्ताव पेश करने, बजट पर पूरी तरह बहस करने और एक ही विषय पर कई एक प्रश्न पूछने के अधिकार दिये गये। मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि अलग चुनने का अधिकार भी मिल गया।

सम्प्रदायों के अनुसार निर्वाचन-क्षेत्र बनाने के सिद्धान्त को कांग्रेस ने पसन्द न किया। इससे हिन्दू और मुसलमानों का भेद-भाव बढ़ गया। मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि अलग चुनने के अतिरिक्त हिन्दुओं के साथ भी प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। कांग्रेस ने इसको गैरमुसलमान प्रजा के साथ "अन्याय" बतलाया। सुधारों के सम्बन्ध में जो नियम

बनाये गये, उनसे उनका क्षेत्र और भी संकुचित कर दिया गया। किसी प्रतिनिधि को न चुने जाने की आज्ञा देने का अधिकार वाइसराय को दे दिया गया। गरम दल के नेताओं को कौंसिलों से अलग रखने की दृष्टि से यह नियम बनाया गया। प्रान्तीय कौंसिलों में नाम भर के लिए गैरसरकारी मेम्बरों की अधिकता रखी गई, पर वास्तव में सरकार के अधिकार ज्यों के त्यों बने रहे। कांग्रेस का कहना था कि इन नियमों में "शिक्षित समाज के प्रति सरकार का अविश्वास" स्पष्ट दिखलाई दे रहा था। इनमें सुधारों में जो कुछ बल था, वह भी नष्ट हो गया। इन सुधारों में स्वेच्छाचारी और प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्तों को मिलाने की चेष्टा की गई, जो सर्वथा असम्भव है।

मिंटो की नीति—लार्ड मिंटो के सामने बड़ी कठिन समस्या थी। एक ओर तो राजनैतिक अशान्ति से घबड़ाकर अँगरेज अफ़सर दमन पर जोर दे रहे थे और दूसरी ओर भारत का शिक्षित समाज सुधारों के लिए आतुर हो रहा था। इन दोनों को सन्तुष्ट रखने के लिए लार्ड मिंटो ने "दमन और सुधार" की नीति का अवलम्बन किया। दोनों ओर के उग्र आन्दोलनकारियों की बात को न मानकर उसने मध्य के मार्ग पर चलना निश्चित किया। दो चार अँगरेजों की हत्याओं से घबड़ाकर उसने अपना धैर्य न छोड़ा और वह चुपचाप अपनी नीति से काम लेता रहा। नई कौंसिल द्वारा समाचारपत्र-सम्बन्धी कानून पास हो जाने पर, जब उसने देख लिया कि नरम दल सरकार का पूरा साथ दे रहा है, तब उसने निर्वासित नेताओं को छोड़ देने की आज्ञा दे दी। देशी राजाओं से उसने बहुत मेल पैदा किया। भारत के शासन में वह उन्हें भी कुछ भाग देना चाहता था। इसके लिए उसने उनकी एक समिति बनाने का प्रस्ताव किया था। राजनैतिक आन्दोलन को दबाने के सम्बन्ध में भी उसने बड़े बड़े राजाओं से राय माँगी थी।[1]

---

[1] बूकन, लार्ड मिंटो।

लार्ड हार्डिंज—सन् १६१० में लार्ड मिंटो वापस चला गया और उसके स्थान पर लार्ड हार्डिंज वाइसराय बनाया गया। पहले लार्ड किचनर को वाइसराय बनाने की बातचीत थी, परन्तु जान मार्ले इसके पक्ष में न था। लार्ड हार्डिंज का भारतवर्ष में पुराना सम्बन्ध था। सन् १८४४ में इसी का दादा गवर्नर-जनरल होकर आया था, जिसके समय में पहला सिख-युद्ध हुआ था। मिंटो के सुधारों से राजनैतिक अशान्ति दूर न हुई थी, बंगाल का आन्दोलन चल रहा था। मार्ले ने बंगाल के विच्छेद को अनुचित मानते हुए भी उसे रद्द न किया था। उसका कहना था कि अब यह तय हो चुका। इससे असन्तोष बढ़ रहा था।
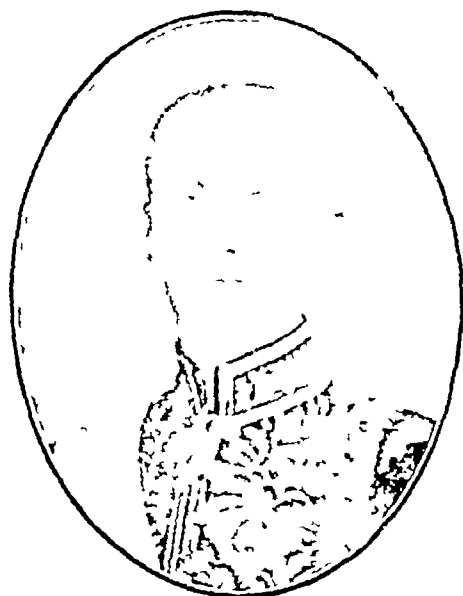
लार्ड हार्डिंज

सम्राट् का आगमन—सन् १६१० में सातवें एडवर्ड की मृत्यु हो गई और उसका लड़का पाँचवाँ जार्ज गद्दी पर बैठा। युवराज की हैसियत से यह पहले भारतवर्ष आ चुका था। सन् १६११ में अपने मंत्रियों की सलाह से सम्राज्ञी सहित यह फिर भारतवर्ष आया, जहाँ दिल्ली में बड़े समारोह के साथ इसका राज्याभिषेक किया गया। इसके पहले इँगलैंड का कोई राजा भारतवर्ष न आया था। भारतवासी स्वभाव से ही राजभक्त है, सम्राट् का भारतवर्ष में भी राज्याभिषेक कराकर लार्ड हार्डिंज ने अपनी नीति-निपुणता का परिचय दिया। इस अवसर पर कई एक बड़े महत्त्व की घोषणाएँ की गई। लार्ड कर्जन का किया हुआ बंग-विच्छेद रद्द कर दिया गया। बंगाल के जो जिले अलग किये गये थे फिर उसमें मिला दिये गये

और शासन के लिए एक्जीक्युटिव कौंसिल सहित एक गवर्नर रख दिया गया। आसाम फिर चीफ कमिश्नर के अधीन रह गया और लेफ्टिनेंट-गवर्नर के अधीन बिहार तथा उड़ीसा का एक नया प्रान्त बना दिया गया। भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ता के बजाय दिल्ली कर दी गई। 'विक्टोरिया क्रास' नामक विख्यात पदक लड़ाई में पराक्रम दिखलानेवाले भारतवासियों को भी देने का नियम कर दिया गया। गद्दी पर बैठते समय देशी राजाओं से नजराना लेने की प्रथा उठा दी गई। बहुत से कैदी छोड़ दिये गये, पचास रुपये से कम वेतनवाले कर्मचारियों को एक महीने का अधिक वेतन इनाम में दिया गया और पचास लाख रुपया शिक्षा के लिए दान किया गया।

पाँचवें जार्ज
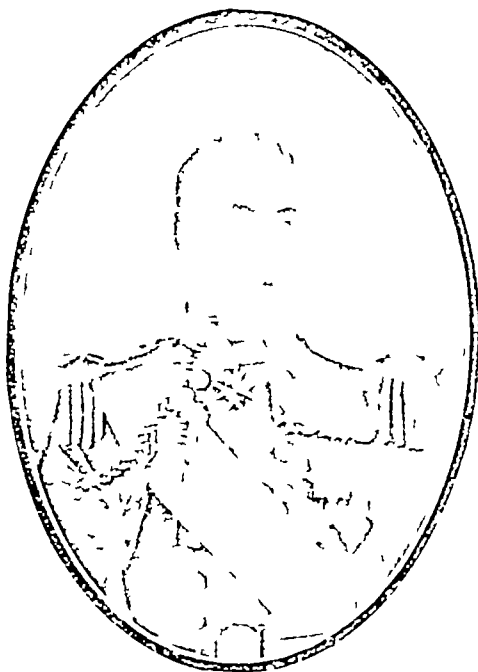
बंगाल के विच्छेद का रद्द होना कर्जन के दल को बड़ा खटका। राजधानी का परिवर्त्तन भारत में, विशेषकर कलकत्ता में, रहनेवाले अँगरेजों को पसन्द न आया। शासन-सम्बन्धी परिवर्तन का अधिकार केवल पार्लामेंट को है, इसलिए जब ये प्रस्ताव पार्लामेंट में पेश हुए तब लार्ड कर्जन को अपने हृदय के उद्गार निकालने का अवसर मिला। इन दोनों बातों को गुप्त रखकर, बिना पार्लामेंट की सलाह लिये हुए, सम्राट् के मुख से उनकी घोषणा कराने के लिए उसने मंत्रियों की निन्दा की। इसमें सन्देह नहीं कि इस अवसर

पर यह बिलकुल नया ढंग निकाला गया था, सम्राट् के मुख से निकली हुई बातों में हेर-फेर करना उचित न जान पड़ता था, ऐसी दशा में इन पर वाद-विवाद व्यर्थ था। बंगाल के विच्छेद को रद्द करने के सम्बन्ध में लार्ड कर्ज़न ने कहा कि इससे मुसलमान रुष्ट हो जायँगे। बंगालियों का "बनावटी आन्दोलन" शान्त हो गया था, ऐसी दशा में इसकी कोई आवश्यकता न थी। दिल्ली को उसने "साम्राज्यों का कब्रिस्तान" बतलाया और कहा कि वहाँ राजधानी बनाने में बड़ा खर्च पड़ेगा।

दिल्ली को राजधानी बनाने के पक्ष में भारत-सरकार का कहना था कि यह नगर ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही, प्राचीन स्मृतियों के कारण, इसको बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह शिमला के निकट और भारतवर्ष के मध्य में भी है। यहाँ रेल की कई लाइनें मिलती हैं और जलवायु भी अच्छा है। कलकत्ता भारतवर्ष के एक कोने में है, समुद्र-तट पर अब राजधानी रखने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त बंगाल में अब गवर्नर रहेगा, उसका और वाइसराय का एक ही स्थान पर रहना ठीक नहीं जान पड़ता। यह सब ठीक होते हुए यह अवश्य मानना पड़ेगा कि नई राजधानी के बनाने में बहुत धन फूँका गया। जितना तख़मीना हुआ था, उससे बहुत अधिक रुपया खर्च हो चुका है, परन्तु इस साल तक काम समाप्त नहीं हुआ है।

दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में कुछ अँगरेज और डच अफ्रिका पहुँचे। इन दोनों ने वहाँ के हबशियों को दबाकर बहुत सी भूमि पर अधिकार कर लिया। नैटाल प्रदेश में गन्ना, चाय और काफी की खेती में बराबर काम करने के लिए मजदूरों की आवश्यकता थी। पहले हबशियों को फँसाने का प्रयत्न किया गया, उसमें सफलता न होने पर भारत-सरकार को लिखा गया। भारतवर्ष में भूखे मरनेवालों की कमी न थी। सन् १८४० से हिन्दुस्तानी मजदूरों का वहाँ जाना प्रारम्भ हो गया। इनसे पाँच वर्ष तक काम करने के लिए एक ऐग्रीमेंट (इकरारनामा) लिखाया जाने लगा। मज़दूरों में यह 'गिरमिट' के नाम से प्रसिद्ध हो गया, इसी लिए

ऐग्रीमेंटवाले मजदूर 'गिरमिटिया' कहलाने लगे। नेटाल में इनकी आबादी बढ़ने पर कुछ हिन्दुस्तानी व्यापारी भी पहुँच गये। थोड़े ही दिनों में उनका व्यापार ख़ूब चल पड़ा। हवशी और डच लोगों से, जिन्हें अँगरेज़ घृणा की दृष्टि से देखते थे, हिन्दुस्तानियों की पटने लगी और वे सब रियासतों में पहुँच गये। अपनी मितव्ययता और परिश्रम से उन्होंने धन जमा कर लिया और जमीनें खरीद लीं। हिन्दुस्तानियों की यह बढ़ती गोरों को खटकने लगी और वे इनको तंग करने लगे। मुक्त हुए कुलियों से २१ पौंड साल का कर मांगा जाने लगा। अच्छी अच्छी ज़मीनें छीन ली गईं और राजनैतिक अधिकार भी रद्द करने का प्रयत्न होने लगा। सन् १८६६ में डच लोगों का, जो 'बोअर' के नाम से प्रसिद्ध हैं, अँगरेज़ों से घोर युद्ध हुआ। इसमें साम्राज्य के नाते से हिन्दुस्तानियों ने अँगरेज़ों का पूरा साथ दिया। इसका भी कुछ ध्यान न करके उनका हर तरह से अपमान किया गया। सन् १८६३ में वहां श्री मोहनदास कर्मचन्द गान्धी बैरिस्टरी कर रहे थे। उनके उद्योग से प्रवासी हिन्दुस्तानियों में आत्म-सम्मान और एकता के भाव जागृत हुए। गान्धीजी ने कई अनुचित नियमों का घोर विरोध किया, जिसके लिए उन्हें जेल जाना पड़ा और तरह तरह के कष्ट भोगने पड़े।

सन् १९१२ में वहां एक नया कानून पेश किया गया। इसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि हिन्दुस्तानी मजदूर वहां के निवासी न समझे जायँगे और स्वदेश जाने पर उन्हें लौटने का अधिकार न होगा। फ्री स्टेट की रियासत में व्यापार या खेती-बारी न करने की प्रतिज्ञा करने पर वहां जाने की आज्ञा दी जायगी, जिस धर्म में बहु-स्त्री-विवाह की प्रथा है, उस धर्म के अनुसार किया हुआ विवाह अप्रामाणिक माना जायगा और प्रत्येक हिन्दुस्तानी को अपना विवाह अदालत में जाकर रजिस्ट्री कराना पड़ेगा। इसका घोर विरोध किया गया। लगभग १५०० हिन्दुस्तानियों ने गान्धीजी की अध्यक्षता में सत्याग्रह प्रारम्भ किया। यह समाचार मिलने पर भारतवर्ष में भी बड़ा असन्तोष फैला। परन्तु इस अवसर पर लार्ड हार्डिंज ने बड़े साहस से काम लिया। उसने मदरास के भाषण में अफ्रिका के इस नये क़ानून को

"अन्यायपूर्ण" बतलाया, सत्याग्रहियो के प्रति महानुभूति प्रकट की और अफ्रिका की सरकार से जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त करने का अनुरोध किया। इस बात को वहाँ की सरकार ने मान लिया और सबको जेल से छोड़ दिया। प्रवासी हिन्दुस्तानियो के पक्ष का समर्थन करने के लिए गोखले भी अफ्रिका गये। अन्त मे समझौता होगया, जिससे वहा के हिन्दुस्तानियो की दशा कुछ सुधर गई।

मदनमोहन मालवीय

काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय—सन् १६१६ मे श्री पडित मदनमोहन मालवीय के उद्योग से काशी में हिन्दू विश्व-विद्यालय की स्थापना हुई। हिन्दू-शास्त्रों और संस्कृत-साहित्य की शिक्षा द्वारा हिन्दुओ के सर्वोत्तम विचारो तथा उनकी गौरवमयी प्राचीन सभ्यता के प्रसिद्ध गुणो की रक्षा और उनका प्रचार करना, आधुनिक साहित्य और विज्ञान की सभी शाखाओं का अध्ययन और उनमें अन्वेषण करना, ऐसी वैज्ञानिक, आर्थिक तथा व्यापारिक विद्याओं का काम में लाने योग्य शिक्षा के साथ फैलाना, जिनसे देश की सम्पत्ति बढे, और धर्म तथा सदाचार की शिक्षा देकर विद्यार्थियो को चरित्रवान् बनाना इस विश्व-विद्यालय के मुख्य उद्देश्य है। 'सेंट्रल हिन्दू-कालेज', जिसको मिसेज् बेसेंट ने अपने कुछ मित्रों की सहायता से सन् १८६८मे स्थापित किया था, इसका पहला कालेज हुआ। सन् १६२६ तक विश्वविद्यालय के लिए १ करोड २१ लाख

रुपया जमा हो गया। सभी श्रेणी के लोगों ने इसमें चन्दा दिया और सरकार ने भी सहायता की। यह अखिल भारतीय संस्था है। इसमें सभी प्रान्तों के

हिन्दू विश्वविद्यालय (विज्ञान-विभाग)

छात्र शिक्षा पाते हैं। हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य जातियों के छात्र भी इसमें बिना किसी रोक-टोक के पढ़ सकते हैं।

यूरोपीय महायुद्ध—सन् १९१४ में यूरोप में बड़ा भीषण युद्ध छिड़ गया। इसके जटिल राजनैतिक कारणों की विवेचना यहाँ नहीं हो सकती, इतना ही कह देना काफी है कि इसकी तैयारियाँ बहुत दिनों से हो रही थीं। यूरोप के भिन्न भिन्न राज्य एक दूसरे से जल रहे थे और इनके दो मुख्य गुट बन गये थे। आस्ट्रिया, जर्मनी तथा इटली एक ओर थे और दूसरी ओर फ्रांस, रूस तथा इंग्लैंड के राज्य थे। जून सन् १९१४ में आस्ट्रिया का युव-

राज वोस्निया मे मार डाला गया। इसका दोप सर्विया के मत्थे मढकर आस्ट्रिया ने उस पर आक्रमण कर दिया। यह देखकर रूस सर्विया की सहायता के लिए खडा हो गया। इस पर जर्मनी ने रूस और फ्रास से युद्ध छेड़ दिया। इँग्लेंड इस समय तक अलग था। सन १८३६ मे जर्मनी और इंग्लेंड दोनो वेलजियम की रक्षा का वचन दे चुके थे, पर जब इस सन्धि को "एक कागज का टुकडा" मानकर जर्मनी की सेना वेलजियम होकर फ्रास की ओर वढ़ने लगी, तब इंग्लेंड भी फ्रास और रूस के साथ, जर्मनी और आस्ट्रिया के विरुद्ध, युद्ध मे शामिल हो गया। जर्मनी के साथ तुर्कों के मिल जाने से एशिया मे भी युद्ध छिड गया।

इस अवसर पर सारे भारतवर्ष ने अँगरेजो का साथ दिया। राजा, महाराजा और नवाबो ने धन से सरकार की सहायता की और अपनी सेनाएँ युद्ध मे भेजीं। कई एक राजाओ ने स्वय युद्ध मे भाग लिया। जनता ने भी सरकार की सहायता करने मे कोई वात उठा न रक्खी। तुर्की के सुलतान मुसलमानो के खलीफा थे। उसके विरुद्ध शस्त्र उठाने पर भी राजभक्त मुसलमानो ने सरकार का साथ न छोडा। इस समय भारतवर्ष अँगरेज सैनिको से विलकुल खाली सा हो गया था, पर तब भी कही किसी प्रकार का उपद्रव नहीं हुआ। वडे कठिन अवसर पर भारत के वीर सिपाहियो ने फ्रास जाकर ईप्रीज, न्यूशपल और लू की लडाइयो मे जर्मनी के भयंकर आक्रमण को रोका। इन लडाइयो से युद्ध का रंग ही वदल गया।

मेसोपोटामिया (इराक) की लडाइयो मे भी भारतीय सेना ने वडी मदद की। मराठो की पल्टन ने बसरा जीत लिया। परन्तु टानशेंड की सेना को वगदाद की चढाई में हार माननी पडी। इसमे रसद और चिकित्सा का ठीक प्रबन्ध न होने के कारण सेना को वड़ा कष्ट हुआ। इसकी जाँच के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया, जिसने भारत सरकार की वडे तीव्र शब्दो मे आलोचना की। माटेग्यू ने उसकी शासनव्यवस्था को "हठी, कठोर तथा असामयिक" वतलाया। लार्ड किचनर की वात मानकर सेना का शासन-विभाग, प्रधान सेनापति के अधीन रखने के कारण, इस प्रवन्ध मे वडी असु-

विधाएँ हुईं। सन् १९१७ में बगदाद पर अँगरेजों का अधिकार हो गया। इतने ही में पैलेस्टाइन (फिलस्तीन) होकर जनरल एलेनबी की सेना, जिसमें अधिकांश हिन्दुस्तानी सिपाही थे, आ गई और उसने जरूसेलम और दमश्क के विख्यात नगरों को जीत लिया। अँगरेजों की इन विजयों से तुर्की के खलीफा की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। यह युद्ध चार वर्ष तक बराबर चलता रहा। जर्मनी के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर अमरीका भी 'मित्र राष्ट्रों' की ओर से युद्ध में शामिल हो गया। इटली, यूनान और जापान ने भी उनका साथ दिया। राज्य-क्रान्ति हो जाने के कारण रूस युद्ध से अलग हो गया था, जर्मनी में भी इसके लक्षण दिखलाई पड रहे थे। विजय की कोई आशा न देखकर जर्मन सम्राट् कैसर विलियम हालैंड भाग गया और जर्मनी ने हार स्वीकार कर ली। सन् १९१९ में सन्धि हो गई। इस सन्धि-पत्र पर भारत की ओर से महाराजा बीकानेर और लार्ड सिंह ने हस्ताक्षर किये।

लार्ड चेम्सफर्ड—लार्ड हार्डिंज के शासन से भारतवासी बहुत सन्तुष्ट थे। सन् १९१२ में दिल्ली की चांदनी चौक में उस पर बम भी फेंका गया, पर उसने इसका कुछ भी ख्याल नहीं किया। सन् १९१४ में उसकी अवधि समाप्त होने पर कांग्रेस ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए अवधि बढ़ाने का प्रस्ताव पास किया। इन दिनों लड़ाई की दशा बड़ी नाजुक थी, इसलिए
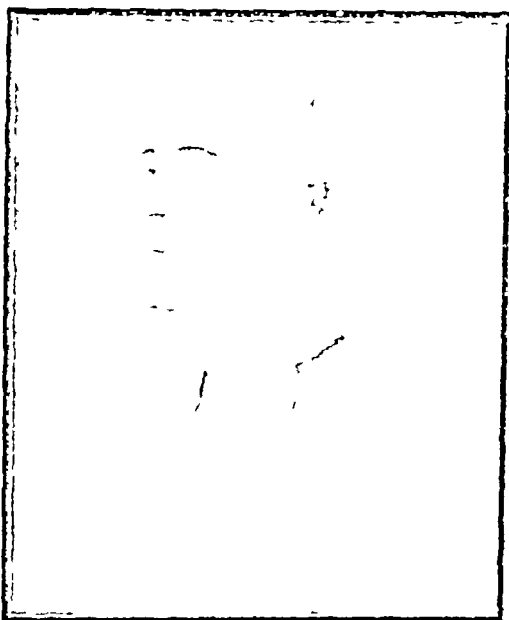
चेम्सफर्ड

का प्रान्तीय सरकारों पर अधिकार ज्यों का त्यों बना रहा। कौंसिलों में नामजद और सरकारी मेम्बरों की सहायता से सरकार की ही जीत होती रही, जिससे प्रतिनिधियों को इनकी निरर्थकता का पूरा अनुभव हो गया। लार्ड मिंटो के समय में पास किये हुए दमन-सम्बन्धी कानूनों के कारण भी बड़ा असन्तोष था। लार्ड हार्डिंज पर बम फेंके जाने के बाद राजनैतिक षड्यन्त्रों के सम्बन्ध में जाब्ता फौजदारी के नियम और भी कड़े बना दिये गये थे। "विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है" कौंसिलों में यह बराबर कहते रहने पर भी प्रतिनिधियों की कुछ सुनवाई नहीं होती थी। जिम्मेदार पदों पर हिन्दुस्तानियों को नियुक्त करने की ओर भी अधिक ध्यान न दिया जाता था। 'गोरे और काले' का भेद भी बना था। बिना लाइसेंस के भारतवासियों को हथियार रखने की आज्ञा न थी। अपने देश की रक्षा में उन्हें कोई भाग न दिया जाता था। सैनिक वालंटियर बनने तक का उन्हें अधिकार न था। उपनिवेशों में उनके साथ बड़ा अनुचित व्यवहार किया जाता था।

इन्हीं कारणों से युद्ध के समय में भी राजनैतिक आन्दोलन बन्द न हुआ था, बल्कि युद्ध छिड़ने से इसमें एक नया जीवन आ गया था। प्रजातन्त्र के लिए संसार को सुरक्षित बनाना, स्वेच्छाचारी शासन को नष्ट करना और छोटे राष्ट्रों की रक्षा करना, युद्ध के उद्देश्य बतलाये जाते थे। अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने "आत्मनिर्णय" के सिद्धान्त को संसार के भावी राजनैतिक प्रबन्ध का आधार बतलाया था। ऐसी दशा में भारतवासियों के लिए यह आशा करना स्वाभाविक था कि जिन सिद्धान्तों के लिए अँगरेज यूरोप में लड़ रहे थे, उनके लाभ से वे भारतवर्ष को, जिसने साम्राज्य की रक्षा के लिए अपना धन लुटाया और रक्त बहाया है, वंचित न रखेंगे। 'युद्ध-समिति' और 'साम्राज्य-सम्मेलन' में भारतीय प्रतिनिधियों के बुलाये जाने से, यह आशा और भी पक्की हो रही थी। भारतवर्ष के राजनैतिक जीवन पर रूस की बालशेविक राज्यक्रान्ति का भी, जिसने जार के स्वेच्छाचारी शासन को समूल नष्ट कर डाला था, प्रभाव पड़ रहा था। युद्ध के समय की कठिनाइयों से लाभ उठाने के लिए एक 'गदर पार्टी' बन गई थी। मिसेज एनी बेसेंट

भारत-सरकार और प्रान्तीय सरकारों से परामर्श किया। लार्ड चेम्सफर्ड के साथ भारत की मुख्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों तथा नेताओं से भी वह मिला। देशी राज्यों के सम्बन्ध में उसने राजाओं से भेंट की और सुधार सम्बन्धी अपने प्रस्तावों को उसने एक रिपोर्ट के स्वरूप में पार्लामेंट के सामने पेश किया। सन् १९१८ में उसने सर सत्येन्द्रप्रसन्नसिंह को, जिसे 'लार्ड' की उपाधि दी गई भारत का उपसचिव बनाया। मांटेग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट पर दो वर्ष तक विचार होता रहा। इसके प्रस्तावों के सम्बन्ध में भारतवर्ष में फिर राजनैतिक मतभेद हो गया। नरम दलवालों ने इसके मुख्य सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया, परन्तु कांग्रेस ने, जिसमें अब गरम दलवालों की अधिकता थी, "निराशा और असन्तोष" प्रकट किया। मुख्य मुख्य दलों के प्रतिनिधि इंग्लैंड गये और उन्होंने पार्लामेंट की कमेटी के सामने अपने विचार प्रकट किये। कुछ हेर-फेर के बाद सन १९१९ में सुधार-कानून पास हो गया, जिससे भारतवर्ष की शासनव्यवस्था में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया।

भारतसचिव और इंडिया कौंसिल—भारतवर्ष के शासन के लिए पार्लामेंट के प्रति भारतसचिव जिम्मेदार मान लिया गया और उसका वेतन इंग्लैंड के खज़ाने से दिया जाने लगा। शासन का कुल निरीक्षण इसी के हाथ में है। भारत-सरकार को बराबर उसकी सलाह लेनी पड़ती है। इसकी अधिकार-सीमा इतनी बढ़ी हुई है कि भारत-सरकार को बहुत कम स्वतंत्रता रह जाती है। इंडिया कौंसिल का मुख्य काम भारतसचिव को सलाह देना रह गया। इसमें हिन्दुस्तानी मेम्बरों की संख्या दो से तीन कर दी गई। कांग्रेस पहले से ही इस कौंसिल के तोड़ देने पर जोर दे रही थी, परन्तु इसका कुछ भी ध्यान नहीं किया गया। इसमें अधिकतर भारत से लौटे हुए सिविलियन होते हैं, जो हरएक बात को निष्पक्ष दृष्टि से नहीं देखते। हिन्दुस्तानी मेम्बरों को भारतसचिव ही नामजद करता है। प्रायः ऐसा अवसर आ जाता है, जब इनमें से कोई भी इँग्लैंड में उपस्थित नहीं रहता।

भारत-सरकार—गवर्नर-जनरल की एक्जीक्युटिव कौंसिल के हिन्दुस्तानी मेम्बरों की संख्या भी बढ़ाकर तीन कर दी गई। इसके मेम्बर राजाज्ञा द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और इसका सभापति गवर्नर-जनरल होता है। इसके मेम्बरों के हाथ में शासन के भिन्न भिन्न विभाग रहते हैं। कानून बनाने के लिए 'इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल' के स्थान पर दो सभाएँ कर दी गई, एक 'लेजिस्लेटिव असेम्बली' (बड़ी व्यवस्थापक सभा) और दूसरी 'कौंसिल ऑफ स्टेट' (राज्यपरिषद्)। लेजिस्लेटिव असेम्बली के मेम्बरों की संख्या १४३ है, जिसमें १०३ निर्वाचित और बाकी सरकारी अफसर तथा नामजद मेम्बर होते हैं। निर्वाचित मेम्बरों में सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि होते है, जिनका चुनाव जनता द्वारा होता है। 'कौंसिल आफ स्टेट' के मेम्बरों की सख्या ६० हैं, जिनमें ३४ निर्वाचित मेम्बर होते है। परन्तु इनके निर्वाचन के ऐसे नियम रखे गये हैं, जिनके कारण बड़े बड़े जमीन्दार और धनी लोग ही अधिक चुने जाते है। गवर्नर-जनरल इन दो सभाओं में से न किसी का मेम्बर ही होता है और न सभापति। लेजिस्लेटिव असेम्बली का सभापति मेम्बरों द्वारा चुना जाता है, पर कौंसिल ऑफ स्टेट के सभापति को सरकार नियुक्त करती है। लेजिस्लेटिव असेम्बली की अवधि साधारणत तीन वर्ष की होती है और कौंसिल ऑफ स्टेट का हर पांचवे वर्ष चुनाव होता है।

कानून बनाने के लिए किसी प्रस्ताव का दोनो सभाओं द्वारा पास होना और गवर्नर-जनरल द्वारा उसका मजूर होना आवश्यक है। दोनो सभाओं में मतभेद होने पर एक साथ वाद-विवाद हो सकता है। बजट के कुछ भाग में कमी-बेशी करने का भी इन सभाओं को अधिकार है, पर इसका अधिक भाग ऐसा है, जिसमें सेना का खर्च, वेतन तथा और कई ऐसी रकमें रहती हैं, जिन पर केवल बहस हो सकती है, पर कोई कमी नहीं की जा सकती। सरकारी कर्ज, भारतवर्ष की आमदनी, सैनिक प्रबन्ध तथा देशी या बाहरी राज्यों के प्रति सम्बन्ध के विषय में इन सभाओं को कुछ भी अधिकार नहीं है। गवर्नर-जनरल इन सभाओं को स्थगित, भग तथा आमंत्रित कर सकता

है और इनमें आवश्यकता होने पर भाषण भी कर सकता है। किसी बिल को गवर्नर-जनरल "ब्रिटिश भारत की शान्ति, रक्षा तथा हित" की दृष्टि से सभाओं की इच्छा के विरुद्ध भी पास या रद्द कर सकता है। बजट के सम्बन्ध में भी उसको इसी तरह के अधिकार हैं। वह या उसकी कौंसिल के मेम्बर भारत की व्यवस्थापक सभाओं के प्रति जिम्मेदार नहीं हैं। ये सभाएँ केवल आलोचना कर सकती हैं, जिससे इतना लाभ अवश्य होता है कि लोकमत प्रकट हो जाता है, अन्यथा इनकी अधिकार-सीमा बहुत सकुचित है। कौंसिल आफ स्टेट का ऐसा सगठन किया गया है कि वह बराबर सरकार का साथ देती है। लेजिस्लेटिव असेम्बली को गवर्नर-जनरल अपने विशेषाधिकार के अकुश से बराबर दबाये रख सकता है।

प्रान्तीय सरकार—बम्बई, मदरास और बगाल में तो गवर्नर थे ही अब अन्य बड़े बड़े प्रान्तों के लेफ्टिनेंट-गवर्नर भी गवर्नर बना दिये गये और उनकी सहायता के लिए एक्जीक्युटिव कौंसिलें स्थापित कर दी गई, जिनमें एक या दो हिन्दुस्तानी मेम्बर रखने की व्यवस्था भी रखी गई। इनके अतिरिक्त लेजिस्लेटिव कौंसिलों के चुने हुए मेम्बरों में से दो या तीन मंत्री नियुक्त करने का अधिकार भी प्रान्तीय गवर्नरों को दिया गया। प्रान्त का शासन, मंत्रियों तथा एक्जीक्युटिव कौंसिल के मेम्बरों में बाँट दिया गया। स्थानीय स्वशासन, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, उद्योग तथा अन्य छोटे छोटे विभागों का भार मंत्रियों को सौंपा गया और न्याय, शान्ति-स्थापन, पुलिस, रेवेन्यू तथा आमदनी के विभागों पर एक्जीक्युटिव कौंसिल को अधिकार दिया गया। इस तरह शासन के दो विभाग कर दिये गये, इसी लिए यह व्यवस्था 'डायर्की' अर्थात 'दोहरी शासन-व्यवस्था' के नाम से प्रसिद्ध हैं। मंत्री कौंसिल के प्रति जिम्मेदार समझे जाते हैं और उनका वेतन उसी के द्वारा स्वीकार होता है। कौंसिलों के मेम्बरों की संख्या बढ़ा दी गई और उनमें निर्वाचित मेम्बरों की अधिकता रखी गई। प्रान्तीय गवर्नरों को भी विशेषाधिकार दिये गये।

भारतीय और प्रान्तीय सरकारों की अधिकार-सीमाओं को निश्चित करने का भी प्रयत्न किया गया। देश-रक्षा, परराष्ट्र-सम्बन्ध, व्यापार-नीति, सिक्का,

तार, डाक तथा अन्य ऐसे विभागों पर भारत-सरकार का अधिकार बना रहा। परन्तु स्थानीय विषय, जैसे न्याय, शासन, म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का प्रबन्ध, सफाई, खेती और शिक्षा ऐसे विषय प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिये गये। आमदनी का भी बटवारा किया गया। मालगुजारी, आबकारी, सिंचाई और स्टाम्प की आमदनी प्रान्तीय सरकारों को दे दी गई और इनकम टैक्स, नमक, अफीम तथा रेलों की आमदनी भारत-सरकार के पास रह गई। इतने से भारत-सरकार का खर्च पूरा न पड़ता था, इसलिए प्रान्तों द्वारा उसे एक सालाना रकम देने का नियम बनाया गया। इसका प्रान्तों ने बड़ा विरोध किया। प्रान्तीय सरकारों को कर्ज लेने और कुछ टैक्स लगाने का भी अधिकार दिया गया। भारत-सरकार का प्रान्तीय सरकारों पर इस समय भी बहुत अधिकार है। हर एक कानून के लिए गवर्नर-जनरल की मंजूरी आवश्यक है।

इस प्रबन्ध से खर्च बहुत बढ़ गया। मंत्रियों को केवल खर्चवाले विभाग दिये गये। रुपये के लिए उन्हें गवर्नर का मुँह ताकना पड़ता है। अर्थसचिव एक्जीक्युटिव कौंसिल का ही मेम्बर होता है। इसके मेम्बरों के हाथ में जो विभाग रहते हैं, वे 'रिजर्व्ड' (रक्षित) कहलाते हैं। इनके खर्चे में यदि लेजिस्लेटिव कौंसिल कोई कमी करे, तो उसके मानने के लिए गवर्नर बाध्य नहीं है, पर यह बात मंत्रियों के विभाग के सम्बन्ध में, जो 'ट्रांसफर्ड' (हस्तान्तरित) कहलाते हैं, नहीं है। कौंसिल में जिस दल की अधिकता हो, उसी से मंत्रियों को चुनना चाहिए, तभी वे कौंसिल के विश्वासपात्र बन सकेंगे और अपनी नीति को काम में ला सकेंगे। परन्तु ऐसा करने का कोई नियम नहीं है। गवर्नर जिस दल से चाहता है मंत्री चुन लेता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मंत्रियों को अपना काम चलाने के लिए सरकारी तथा नामजद मेम्बरों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है।

निर्वाचन—पहले प्रान्तीय कौंसिलों के मेम्बरों का निर्वाचन, म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा होता था और भारतीय कौंसिल में प्रान्तीय कौंसिलों से प्रतिनिधि जाते थे। अब इन मेम्बरों का

निर्वाचन जनता के हाथ में आ गया। परन्तु सम्पत्ति को आधार मानकर निर्वाचकों के लिए ऐसे नियम बनाये गये कि सैकड़ा पीछे दो आदमियों को भी वोट देने का अधिकार मुश्किल से मिला। स्त्रियों को वोट देने का अधिकार देना या उन्हें प्रतिनिधि बनाना कौंसिलों की इच्छा पर छोड़ दिया गया। हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध में लखनऊ का समझौता स्वीकार कर लिया गया और यूरोपियन तथा सिक्खों को भी अपने प्रतिनिधि अलग अलग चुनने का अधिकार दे दिया गया। माटेग्यू साम्प्रदायिक निर्वाचन के सिद्धान्त को पसन्द न करता था। उसका कहना था कि इससे नागरिकता के भाव की अपेक्षा पक्षपात बढ़ जाता है। परन्तु सन् १९०९ में मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि अलग चुनने का अधिकार दिया जा चुका था, इसलिए उसको यह स्वीकार करना पड़ा।

नरेन्द्रमंडल—देशी राजा और नवाबों का भी एक मंडल बनाया गया, जो 'चेम्बर ऑफ प्रिंसेज'' कहलाता है। इसका सभापति वाइसराय होता है। यह देशी राज्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करता है और वाइसराय को सलाह देता है। इसके संगठन से बड़े बड़े राज्य सन्तुष्ट नहीं हैं। हैदराबाद, मैसूर तथा अन्य कई एक बड़े राज्य इसमें इस समय तक शामिल नहीं हुए हैं।

पार्लामेंट का अधिकार—इस नये कानून की भूमिका में भारतवर्ष पर पार्लामेंट का पूर्ण अधिकार स्पष्ट कर दिया गया और यह भी नियम बनाया गया कि हर दसवें वर्ष एक कमीशन द्वारा शासन की जांच की जाया करे और उसकी रिपोर्ट के अनुसार परिवर्तन किये जायँ। आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के, जिस पर युद्ध में इतना जोर दिया गया था, यह सर्वथा प्रतिकूल है। इस कानून के अनुसार भारत के भाग्य का निर्णय उसके नहीं बल्कि पार्लामेंट के हाथ में है।

सुधारों का प्रारम्भ—सन् १९१९ के अन्त में सम्राट् की ओर से एक घोषणापत्र प्रकाशित किया गया, जिसमें सुधारों के लिए मंजूरी देते हुए यह कहा गया कि भारतवर्ष को यथासम्भव सभी सुख देने का प्रयत्न किया गया, परन्तु उसके हित की रक्षा और उसके शासन के चलाने का अधिकार

वहाँ के निवासियों को इस समय तक नहीं दिया गया था, जिसके बिना किसी देश की उन्नति पूर्ण रूप से नहीं हो सकती।" उसी का प्रारम्भ अब इन सुधारों से किया जाता है और आशा की जाती है कि सरकारी अफसर और प्रजा के नेता, दोनों मिलकर इनको सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे। नई संस्थाओं को खोलने के लिए पहले युवराज आनेवाला था, परन्तु बाद में सन् १९२१ में सम्राट् का चचा ड्यूक ऑफ कनाट आया। इसने दिल्ली में राजकीय सन्देश पढ़कर सुनाया, जिसमें कहा गया कि वर्षों से स्वदेश और राजभक्त भारतवासी अपनी मातृभूमि के लिए 'स्वराज्य' का स्वप्न देख रहे थे, उसके लिए अब अवसर दिया जा रहा है। ड्यूक ने अपने भाषण में बड़े ज़ोर के साथ यह बतलाया कि भारतवर्ष में शासन का आधार "बल और भय" नहीं है। वाइसराय के शब्दों में इसने यह भी कहा कि "स्वेच्छाचारी शासन का सिद्धान्त" अब त्याग दिया गया। सन् १९१९ में अमृतसर की कांग्रेस ने सुधारों के प्रति अपना असन्तोष प्रकट किया। इस पर नरम दलवाले कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने अपनी दूसरी सभा स्थापित की, जो "नेशनल लिबरल फेडरेशन" के नाम से प्रसिद्ध हुई। सन् १९२० में नई कौंसिलों का पहला चुनाव हुआ, जिसमें असहयोग के कारण कांग्रेस ने कोई भाग न लिया। नरम दलवालों ने सरकार का साथ दिया और उनके कई एक नेता भिन्न भिन्न प्रान्तों में मंत्री बनाये गये। लार्ड सिंह बिहार और उड़ीसा के गवर्नर नियुक्त किये गये।

रौलट-बिल-सत्याग्रह—युद्ध के समय क्रान्तिकारी कार्यों को रोकने के लिए 'भारत-रक्षा-कानून' बनाया गया था। सरकार ने राजनैतिक आन्दोलन को दबाने के लिए इसके प्रयोग न करने का वचन दिया था, पर तब भी कई बार इसका दुरुपयोग किया गया। इसी के अनुसार 'होमरूल आन्दोलन' को दबाने का प्रयत्न किया गया। युद्ध में असाधारण सहायता और नये सुधारों की घोषणा से यह आशा थी कि युद्ध के साथ साथ साधारण स्वतंत्रता में बाधा डालनेवाले इस कानून का भी अन्त कर दिया जायगा। परन्तु ऐसा न करके सरकार ने इंग्लैंड के जस्टिस रौलट की अध्यक्षता में

इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की, जिसने गुप्त रीति से जाँच करके यह निश्चित किया कि भारतवर्ष में इस समय भी बहुत से क्रान्तिकारी मौजूद हैं इसलिए बिना किसी ऐसे कानून के हिंसा का रोकना असम्भव है। इसी रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने कौंसिल में दो कानून पेश किये, जिनमें पुलिस को बहुत अधिकार दिये गये और राजविद्रोह-सम्बन्धी मुकदमों को जल्दी निपटाने के लिए नियम बनाये गये। गान्धीजी ने इनको "न्याय तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों के विरुद्ध और मनुष्यों के उन प्रारम्भिक अधिकारों को जिन पर जनसमाज तथा राज्य अवलम्बित हैं नष्ट करनेवाला" बतलाया और इनके विरुद्ध सत्याग्रह करना निश्चित किया। सत्याग्रह की प्रतिज्ञा में कहा गया कि हम लोग इन तथा अन्य ऐसे ही कानूनों को न मानेंगे और हम झगड़े में "धर्मपूर्वक सत्य का आश्रय ग्रहण करके किसी के जीवन या सम्पत्ति पर आघात न करेंगे।" इसी सम्बन्ध में ता० ६ अप्रैल सन् १९१९ को देश भर में हड़ताल मनाई गई। दिल्ली में ता० ३० मार्च को ही हड़ताल मनाई गई, वहाँ कुछ दंगा होने पर गोलियाँ चलाई गईं। बम्बई से आते हुए गान्धीजी गिरफ्तार करके वापस कर दिये गये। यह समाचार मिलने पर अहमदाबाद तथा उसके आस-पास कई स्थानों में कुछ उपद्रव हुआ।

पंजाब में अशान्ति—यूरोप के युद्ध में केवल पंजाब से ३६०००० योद्धा भेजे गये। इनके भरती करने में बहुत सख्ती से काम लिया गया। सन् १९१८ में दिल्ली की 'युद्ध-सभा' के बाद पंजाब के लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर माइकेल ओडायर ने स्वयं कहा था कि "हमें सेना के लिए दो लाख आदमी चाहिएँ, सम्भव हो तो रजामन्दी से, नहीं तो जबरदस्ती से।" व्यवहार में इसी नीति से काम लिया गया और जनता के साथ बहुत जबरदस्ती की गई। इसी तरह लड़ाई के लिए कर्ज लेने में भी ज्यादती की गई। युद्ध से महँगी के कारण भी जनता में बड़ा असन्तोष था। टर्की के प्रति ब्रिटेन की नीति से मुसलमान भी असन्तुष्ट थे। इतने ही में गान्धीजी का सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। इस पर ओडायर ने राष्ट्रीय पत्रों का

पंजाब में आना बन्द कर दिया और कई एक नेताओं की भर्त्सना की। शिक्षित नेताओं के प्रति उसका व्यवहार बहुत अनुचित होता था, अपने निन्दनीय आक्षेपों के कारण, कौंसिल में एक बार उसे माफी मागनी पड़ी थी। सुधारों के साथ भी उसकी सहानुभूति न थी। ता० ६ अप्रैल की हड़ताल में कोई उपद्रव न होने पर भी उसने बहुत चिढ़कर अमृतसर के कुछ नेताओं को निर्वासित कर दिया और गान्धीजी को पजाब आने से रोक दिया।

भीषण हत्याकांड—उसके इन कार्यों से अमृतसर में बड़ी उत्तेजना फैल गई। नेताओं को छुड़ाने की प्रार्थना करने के लिए एक बड़ा भारी जलूस डिप्युटी कमिश्नर के बॅगले की तरफ चल पड़ा। इन लोगों के पास कोई हथियार न थे, पर तब भी इन पर गोली चलाई गई, जिसका फल यह हुआ कि कुछ लोगों का धैर्य जाता रहा और उपद्रव मच गया। कई एक अँग-रेज मार डाले गये, एक बैंक का गोदाम लूट लिया गया और टाउनहाल में आग लगा दी गई। इस गड़बड़ में बदमाशों को अपना काम बनाने का अच्छा अवसर मिल गया। इन थोड़े मनुष्यों के उपद्रव पर, जिन्हें शान्त नागरिक नहीं रोक सकते थे, समस्त नागरिकों को दंड देना निश्चित कर लिया गया। जनरल डायर की आज्ञा से ४ मनुष्यों का जमाव गैरकानूनी बना दिया गया, परन्तु इसकी पूरी तरह से मुनादी नहीं की गई। ता० १३ अप्रैल को तीसरे पहर जलियानवाला बाग में एक सभा हो रही थी। यह बैसाखी का दिन था, जब अमृतसर में यात्रियों की खूब भीड़ होती है। सभा में लगभग २० हजार आदमियों की भीड़ थी, स्थान घिरा हुआ था, जिसमें केवल एक मुख्य रास्ता था। सभा का समाचार मिलने पर जनरल डायर ६० सैनिक और २ मशीनगन लेकर वहाँ पहुँच गया। उसने "तीस सेकेंड" में अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया और गोली चलाने की आज्ञा दे दी। भीड़ के भागने पर भी गोली चलाना बन्द नहीं किया गया। जनरल डायर का कहना था कि "मैंने इसे पूरा तितर-बितर होने तक गोली चलाते रहना अपना कर्तव्य समझा। यदि मैंने थोड़ी गोलियाँ चलाई होतीं तो यह मेरी भूल होती।"

इसमें लगभग एक हजार निरपराध मनुष्यों की जानें गईं और बहुत से घायल हुए, जिनकी सेवा, शुश्रूषा और चिकित्सा का कोई उचित प्रबन्ध न किया गया।[1] पंजाब के पाँच जिलों में जंगी कानून जारी कर दिया गया। कितने ही नेता निर्वासित कर दिये गये, शान्त नागरिकों को हर तरह से अपमानित और पीड़ित किया गया। पेट के बल रेंगने का दंड दिया गया और हर एक अँगरेज को सलाम करने का नियम बनाया गया। पंजाब की इन घटनाओं से देश भर में रोष फैल गया और सरकार की कठोर नीति की बड़े तीव्र शब्दों में आलोचना की गई। कांग्रेस की ओर से जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई, जिसने सर माइकेल ओडायर की नीति को पंजाब के असन्तोष का मुख्य कारण बतलाया और जनरल डायर की कठोरता का वर्णन करते हुए, उसे दंड देने का अनुरोध किया। वाइसराय लार्ड चेम्सफर्ड की उदासीनता पर भी इसने खेद प्रकट किया और उसको वापस बुला लेने की सलाह दी। हंटर की अध्यक्षता में जाँच करने के लिए सरकार की ओर से भी एक कमेटी नियुक्त हुई, जिसके सामने जनरल डायर ने स्वीकार किया कि जलियानवाला की फायरों से भय उत्पन्न करके वह "नैतिक प्रभाव" डालना चाहता था। कमेटी के अँगरेज मेम्बरों ने, जिनकी संख्या अधिक थी, राजनैतिक आन्दोलन को अशान्ति का मुख्य कारण बतलाया। उनकी राय में पंजाब में राज-विद्रोह की स्थिति थी, जिसके दमन के लिए जंगी कानून आवश्यक था, पर फौजी अफसरों ने कुछ अनुचित उपायों से काम लिया और जनरल डायर ने जलियानवाला में ज्यादती की। कमेटी के हिन्दुस्तानी मेम्बरों की राय में जंगी कानून जारी करनेवाली स्थिति न थी और अशान्ति के मुख्य कारण वे ही थे, जिन्हें कांग्रेस कमेटी ने बतलाया था।

भारत-सरकार ने हंटर कमेटी के अँगरेज मेम्बरों की राय मानकर जंगी कानून व कुछ कार्यों की निन्दा की और जनरल डायर के व्यवहार को कठोर तथा

---

[1] सरकार ने मरे हुए लोगों की संख्या पहले २९१ और बाद में ३७९ या कुछ अधिक मानी।

से सरकारी उपाधियाँ त्याग दी जायँ, अवैतनिक पदों से इस्तीफा दे दिया जाय, सरकारी दरबार तथा अन्य उत्सवों में जाना छोड़ दिया जाय, सरकारी या सरकार से सहायता पानेवाले स्कूल तथा कालेजों से लड़के हटा लिये जायँ, उनकी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय स्कूल खोले जायँ, धीरे धीरे सरकारी अदालतों में जाना छोड़ दिया जाय और उनकी जगह पर पंचायतें नियुक्त की जायँ। नई कौंसिलों के निर्वाचन में कोई भाग न लिया जाय और सूत की कताई तथा कपड़े की बुनाई का खूब प्रचार किया जाय। दिसम्बर में नागपुर की कांग्रेस में इसका समर्थन किया गया और इसको अहिंसात्मक बनाये रखने पर बड़ा ज़ोर दिया गया। कांग्रेस का संगठन भी ठीक किया गया। बराबर काम चलाने के लिए एक 'कार्यकारिणी समिति' (वर्किंग कमेटी) नियुक्त की गई और "न्याययुक्त तथा शान्त उपायों द्वारा स्वराज्य की प्राप्ति" कांग्रेस का ध्येय बनाया गया।

अगस्त सन् १९२० में लोकमान्य तिलक की मृत्यु हो गई। उनकी स्मृति में 'तिलक स्वराज्य कोष' स्थापित किया गया और देश भर में असहयोग आन्दोलन बड़े ज़ोरों से चल पड़ा। हज़ारों विद्यार्थियों ने सरकार से सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाओं में पढ़ना छोड़ दिया। पढ़ाई के लिए कई एक राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हो गये। कौंसिलों के बहिष्कार में भी बड़ी सफलता प्राप्त हुई। लिबरल नेताओं को छोड़कर, जो असहयोग की नीति से सहमत न थे, अन्य कोई राष्ट्रीय नेता नई कौंसिलों में न गया। खद्दर राष्ट्रीय पोशाक हो गया और चर्खे का प्रचार फिर से प्रारम्भ हुआ। असहयोगी नेताओं ने देश भर में भ्रमण किया, गाँवों तक में कांग्रेस की शाखाएँ स्थापित हो गईं, हिन्दू और मुसलमान परस्पर के भेद को भूल गये और सारे देश में एक विचित्र जागृति हो गई।

लार्ड रीडिंग—अप्रैल सन् १९२१ में लार्ड रीडिंग वाइसराय होकर आया। यह इंग्लैंड का प्रधान न्यायाधीश रह चुका था, जिसके कारण लोगों को बड़ी आशा थी कि उसके समय में न्याय होगा। लार्ड रीडिंग भी आते ही जलियानवाला गया और मुख्य मुख्य नेताओं से मिला, जिससे अच्छा प्रभाव

उसके आने के पहले ही सरकार की दमन-नीति प्रारम्भ हो गई थी। संयुक्त प्रान्त में असहयोग आन्दोलन क्रान्तिकारी बतला दिया गया था, बिहार में स्वयंसेवकों पर बड़ा अत्याचार किया जा रहा था। जगह जगह सरकारी अफसरों द्वारा 'अमन सभाएँ' स्थापित की जा रही थीं और उनमें सब तरह से असहयोगियों को बदनाम करने का प्रयत्न किया जा रहा था। अब और भी कड़ाई से काम लिया जाने लगा। जहाँ कहीं उपद्रव हुआ उसके लिए असहयोगी ही अपराधी ठहराये गये। हजारों असहयोगी, बड़े बड़े नेताओं सहित, जिनसे कभी विद्रोह की आशंका नहीं की जा सकती थी, जेल में ठूँस दिये गये।

मोपला-विद्रोह—इतने ही में मद्रास के मलाबार प्रान्त में मोपला-विद्रोह उठ खड़ा हुआ। मलाबार में बसे हुए अरब लोग मोपला कहलाते हैं। ये कट्टर मुसलमान हैं और इनमें शिक्षा का भी प्रचार नहीं है। यहाँ के जमीन्दारों और काश्तकारों में बहुत दिनों से झगड़ा था। खिलाफत आन्दोलन भी चल पड़ा था, पर इनको इसके वास्तविक अर्थ का पता न था। कुछ उपद्रव होने पर कलेक्टर की आज्ञा से एक मसजिद घेर ली गई और नेताओं का मलाबार जाना रोक दिया गया। इस पर ये लोग जोश में आकर बिगड़ पड़े। कुछ अँगरेज अफसर मार डाले गये और 'खिलाफत राज्य' स्थापित किया गया। यहाँ हिन्दुओं के साथ बड़ा अत्याचार किया गया, बहुत से हिन्दू जबरदस्ती मुसलमान बना डाले गये और उनके मन्दिर तोड़ डाले गये। सरकार ने सेना भेज कर उपद्रव शान्त किया और जंगी कानून जारी कर दिया। बहुत से मोपला कैद करके निर्वासित कर दिये गये। सौ कैदी मालगाड़ी के एक डब्बे में भर दिये गये, जिनमें से ६६ दम घुटने के कारण मर गये। मोपलाओं को उत्तेजित करने का अपराध भी असहयोगियों के मत्थे मढ़ दिया गया।

चौरीचौरा—गान्धीजी के बहुत प्रयत्न करने पर भी आन्दोलन अहिंसात्मक न रह सका। इसके कई एक कारण थे। सबसे मुख्य बात

तो यह है कि सविनय अवज्ञा की सफलता के लिए बड़े आत्म-बल, आत्म-संयम, धैर्य्य और सहनशीलता की आवश्यकता है। सबमें इन गुणों का होना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त इस आन्दोलन को बदनाम करने के लिए सरकार की ओर से सभी तरह के उपायों से काम लिया जा रहा था। बदमाशों को भी अपना मतलब सिद्ध करने का अच्छा अवसर मिल गया था और उनकी वजह से जगह जगह उपद्रव हो रहे थे। खिलाफत का झगड़ा चल ही रहा था। अहिंसात्मक उपायों से सफलता की कोई आशा न देखकर कुछ मुसलमान नेता भी असन्तुष्ट हो रहे थे। सरकार की दमन-नीति के कारण जनता की उत्तेजना बहुत बढ़ गई थी और उसका क़ाबू में रखना नेताओं के लिए असम्भव हो रहा था। कई जगह उपद्रव हो चुके थे, पर फरवरी सन् १९२२ में गोरखपुर के जिले में एक बड़ी भारी दुर्घटना हो गई। चौरीचौरा के थाने में आग लगा दी गई और थानेदार तथा सिपाही सब मिलाकर २२ आदमी मार डाले गये।

बारडोली-निर्णय—इस दुर्घटना से गान्धीजी की आँखें खुल गईं और उन्हें विश्वास हो गया कि देश सविनय अवज्ञा के लिए तैयार नहीं है। बारडोली में, जहाँ सत्याग्रह के लिए बड़े जोरों से तैयारी हो रही थी, 'कांग्रेस वर्किंग कमेटी' की एक बैठक की गई, जिसमें सविनय अवज्ञा स्थगित करके, खद्दर के प्रचार, अछूतों के उद्धार, मादक वस्तुओं के निषेध, राष्ट्रीय विद्यालयों तथा पंचायतों को स्थापित करने और कांग्रेस के मेम्बरों की संख्या बढ़ाने पर अधिक जोर देना निश्चित किया गया। कई नेताओं की राय में ऐसा निर्णय करके बड़ी भूल की गई, देश की जागृति से पूरा लाभ न उठाया गया, पहले धमकी देकर फिर सविनय अवज्ञा छोड़ देने का प्रभाव जनता पर अच्छा न पड़ा और उसकी हिम्मत टूट गई। गान्धीजी का कहना था कि बिना सविनय अवज्ञा की योग्यता के उसका प्रारम्भ करना हानिकारक है। सबसे पहले 'सत्य और अहिंसा' के सिद्धान्तों को अपने जीवन में लाना चाहिए। अपनी आत्मा की अपेक्षा संसार के सामने झूठा बनना लाखों दर्जा अच्छा है।

महात्माजी की इस जटिल उक्ति को साधारण जनता समझ न सकी, जिसका फल यह हुआ कि धीरे धीरे इनका प्रभाव कम पड़ने लगा। सरकार बहुत दिनो से इन्हें दण्ड देने का विचार कर रही थी, परन्तु असहयोग आन्दोलन के जोर और गान्धीजी की लोकप्रियता के कारण उसकी हिम्मत न पड़ती थी।[1] अब उसको अच्छा अवसर मिल गया और उसने कुछ तीव्र लेखो के कारण मार्च सन् १९२२ मे गान्धीजी को गिरफ्तार करके मुकदमा चलाने की आज्ञा दे दी। इन पर सरकार के प्रति घृणा उत्पन्न करने और उसे नष्ट करने की चेष्टा करने का अपराध लगाया गया। उत्तर
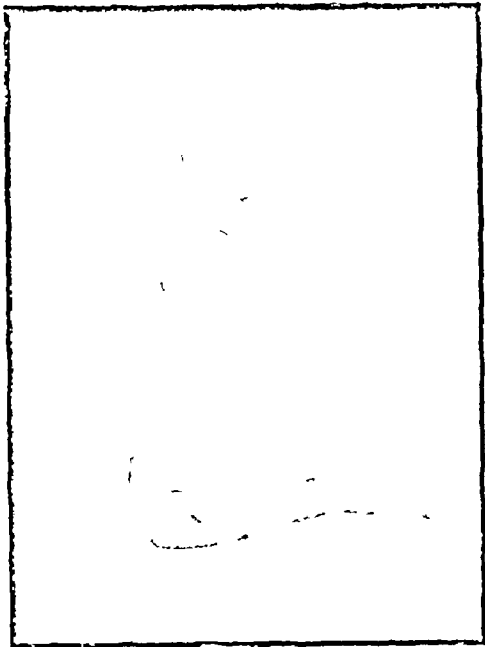
महात्मा गान्धी

मे गान्धीजी का कहना था कि जिस सरकार ने भारत को दरिद्र बना दिया है, जिसके कानूनो से उसकी लूट हो रही है और जिसके शासन ने उसको पुरुषार्थ-हीन बना दिया है, उस सरकार के प्रति किसी को भी स्नेह नहीं हो सकता। इस पर उन्हें ६ साल की सादी कैद का दंड दिया गया। जेल जाते समय महात्माजी देश के लिए केवल 'खद्दर' का सन्देश छोड़ गये। असहयोग आन्दोलन धीरे धीरे टूटा पड़ रहा था, ऐसे समय पर इन्हें जेल भेजकर जनता पर केवल आतंक जमाने का प्रयत्न किया गया।

---

१ इंडिया इन १९२१-२२, पृ० १०७।

असहयोग का प्रभाव—जिस उद्देश्य के लिए असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था, वह प्राप्त न हो सका, यह बात ठीक है, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस आन्दोलन से देश का बड़ा लाभ हुआ। जनता में निर्भीकता आ गई, जेलों का भय जाता रहा, सरकार की सच्ची नीति का सबको पता लग गया, गाँवों तक में स्वराज्य की चर्चा होने लगी, गरीबों की सहायता के लिए खद्दर का साधन मिल गया, अछूतों की दुर्दशा की ओर सबका ध्यान आकर्षित हो गया, कई एक राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हो गये और देश भर को स्वावलम्बन का पाठ मिल गया। महात्माजी के आध्यात्मिक जीवन का भी कुछ लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनके जीवन का काया-पलट ही हो गया।

मांटेग्यू का इस्तीफ़ा—भारतसचिव माटेग्यू की नीति तत्कालीन इँग्लॅंड-सरकार को पसन्द न थी। नये सुधारों से भारत के सिविलियन भी खूब चिढ़े हुए थे और उनका पक्ष पार्लामेंट में लिया जा रहा था। फरवरी सन् १९२२ में उसकी नीति की पार्लामेंट में बड़ी तीव्र आलोचना की गई। गान्धीजी को गिरफ्तार न करने का भी उस पर दोष लगाया गया। प्रधान सचिव लायड जार्ज ने अपने एक भाषण में यह कहते हुए कि भारत में कभी प्रजातंत्र शासन नहीं रहा, इंडियन सिविल सर्विस को भारतवर्ष का "फौलादी ढाँचा" बतलाया। इतने ही में माटेग्यू को भारतसचिव के पद से हटाने का एक अच्छा बहाना मिल गया। खिलाफत आन्दोलन का जोर बढ़ते देखकर भारत-सरकार ने तुर्की के साथ सिवर्स की जो सन्धि हुई थी, उसको बदलने के लिए माटेग्यू को एक तार भेजा था। मुसलमानों को शान्त करने के लिए माटेग्यू ने मन्त्रि-मंडल से बिना पूछे हुए इस तार को प्रकाशित करने की आज्ञा दे दी। मुसलमानों को असहयोग आन्दोलन से हटाकर अपने पक्ष में मिलाने की दृष्टि से ही इस तार के प्रकाशन में इतनी शीघ्रता की गई थी। मंत्रि-मंडल ने माटेग्यू के इस कार्य्य को अनुचित समझा, इस पर उसने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। इसके थोड़े ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई। जहाँ तक उससे बन पड़ा वह बराबर भारतवर्ष के हित के लिए प्रयत्न करता रहा।

तीसरा अफ़ग़ान-युद्ध—फरवरी सन् १९१९ में अमीर हबीबुल्ला मार डाला गया। इसके बड़े लड़के ने अपने चचा के पक्ष में गद्दी का अधिकार त्याग दिया। इस पर नसरुल्ला अमीर हो गया। परन्तु हबीबुल्ला का तीसरा लड़का अमानुल्ला इसको सहन न कर सका। उसे सन्देह था कि उसके पिता का वध नसरुल्ला ने ही कराया है। अमानुल्ला को सेना बहुत चाहती था। उसकी सहायता से वह अपने बड़े भाई और चचा को कैद करके अमीर बन गया। भारतवर्ष की अशान्ति में अमीर अमानुल्ला ने अफगानिस्तान को पूरी तरह स्वतन्त्र बनाने का अच्छा अवसर देखा। काबुल में बालशेविक रूस और तुर्की का प्रभाव बढ़ता हुआ देखकर अंगरेजों को भी बड़ी चिन्ता हो रही थी। अमीर की सेना भारत-

अमानुल्ला
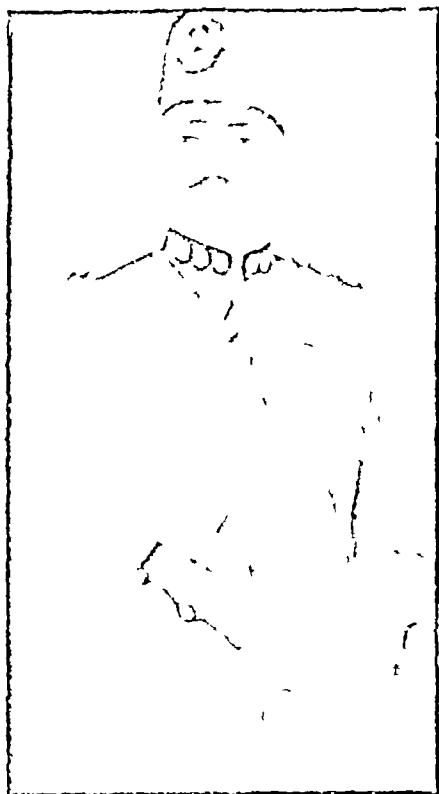
वर्ष की तरफ बढ़ते देखकर युद्ध छेड़ दिया गया। इसमें अफगान सेनापति नादिरखां ने बड़ी चतुरता से काम लिया। परन्तु अधिक दिनों तक अंगरेजों का सामना न किया जा सका। हवाई जहाज जलालाबाद और काबुल पहुँच गये। इस पर लड़ाई बन्द करके सन्धि की बात-चीत होने लगी। नवम्बर सन् १९२१ में दोनों राज्यों में सन्धि हो गई। इसके अनुसार अफगानिस्तान पूर्ण रूप से स्वतन्त्र मान लिया गया और उसे रुपया देना बन्द

कर दिया गया। वहाँ के शासक अब 'अमीर' के बजाय 'शाह' कहलाने लगे। इस सम्बन्ध मे हबीबुल्ला के समय मे ही झगडा चल रहा था।

सन् १९२७ मे अमानुल्ला भारतवर्ष होता हुआ युरोप गया। सब जगह उसका खूब स्वागत किया गया। वहाँ से लौटकर उसने बहुत से सुधार किये। शासन मे सहायता देने के लिए एक राष्ट्रीय सभा स्थापित की गई, पर्दा उठा दिया गया, बहु-स्त्री-विवाह की प्रथा रोक दी गई और मुल्लाओ का जोर दबा दिया गया। पाश्चात्य ढग की शिक्षा तथा सभ्यता का देश मे प्रचार करने का प्रबन्ध किया गया। इन उग्र सुधारो के लिए देश तैयार न था। खर्च अधिक बढ जाने से कई एक नये कर लगा दिये गये, जिससे प्रजा मे असन्तोष फैल गया। सेना का वेतन बाकी पडा हुआ था, इसलिए वह भी असन्तुष्ट थी। सन् १९२८ के अन्त मे शिनवारियो का भीषण विद्रोह उठ खडा हुआ। बच्चा सक्का हबीबुल्ला के नाम से बादशाह बन गया और अमानुल्ला कन्दहार भाग गया। साल भर तक देश मे अराजकता फैली रही। इतने ही मे फ्रास से नादिरखाँ आ गया। सफलता की कोई आशा न देखकर अमानुल्ला इटली चला गया। उसका हिन्दू प्रजा के साथ बडा अच्छा व्यवहार था। वह एशियाई राष्ट्रो का एक सघ स्थापित करना चाहता था। नादिरखाँ ने बडी चतुरता से देश को अपने पक्ष मे करके काबुल पर अधिकार कर लिया। सन् १९२९ के अन्त मे वह बादशाह बन गया और हबीबुल्ला मार डाला गया। नादिरशाह योग्य शासक जान पडता है। वह बडे सोच विचार के साथ चल रहा है।

अकाली आन्दोलन—सिखो के बहुत से गुरुद्वारे हिन्दू महन्तो के हाथ मे थे, जिनका प्रबन्ध ठीक ठीक न होता था। इनको सुधारने के लिए एक आन्दोलन चल पडा, जिसमें 'अकालियो' ने बहुत भाग लिया। इस सम्बन्ध मे सरकार का प्रस्ताव पसन्द न आने पर इन लोगो ने सत्याग्रह द्वारा अपना उद्देश्य प्राप्त करना निश्चित किया। सन् १९२० के अन्त में 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी' नियुक्त हुई, जिसके आदेशानुसार सिखो ने गुरुद्वारो पर कब्जा करना प्रारम्भ कर दिया। फरवरी सन् १९२१ मे ननकाना के महन्त ने १३० अकालियो को मरवा डाला, जिसकी वजह से सिखो मे बडा हलचल

मच गया। सिखों की शिकायतें ठीक थीं, अदालतों द्वारा इनका दूर होना एक तरह से असम्भव था, ऐसी दशा में सरकार का कर्तव्य था कि वह बीच में पड़कर झगड़ों को निपटवा देती, परन्तु ऐसा न करके इस आन्दोलन का भी दमन प्रारम्भ कर दिया गया। सन् १९२२ के अन्त में 'गुरु के बाग' में अपना अधिकार जताने के लिए, अकाली लकड़ी काटना चाहते थे। यहाँ का गुरुद्वारा इस समय भी महन्त के अधिकार में था। इसकी रक्षा के लिए पुलिस पहुँच गई इस पर अकालियों ने अपने जत्थे भेजना शुरू कर दिया। कड़ी धूप में पुलिस के डंडों की मार सहकर भी ये जत्थे शान्त रहे। अन्त में बाग का ठेका एक दूसरे सज्जन को देकर यह मामला शान्त किया गया।

इतने ही में सरकार के विरुद्ध अकालियों को एक और शिकायत का मौका मिल गया। नाभा और पटियाला के राज्यों में आपस का कुछ झगड़ा था, जिसमें सरकार ने महाराजा नाभा को दोषी पाया। इस पर सन् १९२३ में महाराजा ने गद्दी छोड़ दी, जिस पर उसका लड़का बिठला दिया गया और राज्य का शासन भारत-सरकार की निगरानी में होने लगा। अकालियों की राय में महाराजा के साथ यह अन्याय किया गया। इसलिए वे महाराजा को फिर से गद्दी पर बिठलाने के लिए आन्दोलन करने लगे। जुलाई सन् १९२३ में नाभा राज्य के जायतो गुरुद्वारा में उनकी एक सभा तोड़ दी गई। परन्तु इससे अकाली डरे नहीं, उनके जत्थे बराबर मोर्चे पर पहुँचते रहे। इस पर अक्तूबर में सरकार ने 'गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी' को गैरकानूनी ठहराकर सब मेम्बरों को गिरफ्तार कर लिया। कमेटी फिर से संगठित हो गई और पाँच महीने तक २५ आदमियों का एक जत्था रोजाना जाकर गिरफ्तार होता रहा। जनवरी सन् १९२४ में अमृतसर से ५०० आदमियों का एक 'शहीदी जत्था' पैदल रवाना हुआ, जिसमें कनाडा और शंघाई से भी बहुत से सिख आकर शामिल हुए। मार्ग में इसके साथ बहुत भीड़भाड़ हो गई। जायतो पहुँचने पर नाभा-सरकार की ओर से गोली चलाई गई, जिसमें बहुतों के प्राण गये। दूसरी प्रबन्धक कमेटी के मेम्बर भी गिरफ्तार किये गये और 'कृपाण' बाँधना कानून-विरुद्ध ठहरा दिया गया।

सरकार का बहुत कुछ सैनिक बल सिक्खों पर निर्भर है। अधिक दिनों तक उनको असन्तुष्ट रखना उचित न था। इसलिए सरकार ने कोई उपाय न देखकर अन्त में समझौता करना निश्चित किया। जुलाई सन् १९२५ में, पंजाब कौंसिल में 'गुरुद्वारा कानून' पास किया गया, जिसके अनुसार यथासम्भव गुरुद्वारों का प्रबन्ध सिक्खों के हाथ में दे दिया गया। सिक्ख कैदी भी धीरे धीरे छोड़ दिये गये। इस आन्दोलन में ३० हजार सिक्ख गिरफ्तार किये गये, ४०० के प्राण गये, दो हजार घायल हुए और १५ लाख रुपया जुरमाना में वसूल किया गया।[1] पर तब भी सिक्ख बराबर शान्त रहे और उन्होंने इस बात को दिखला दिया कि व्यवहार में भी गान्धीजी का सत्याग्रह असम्भव नहीं है।
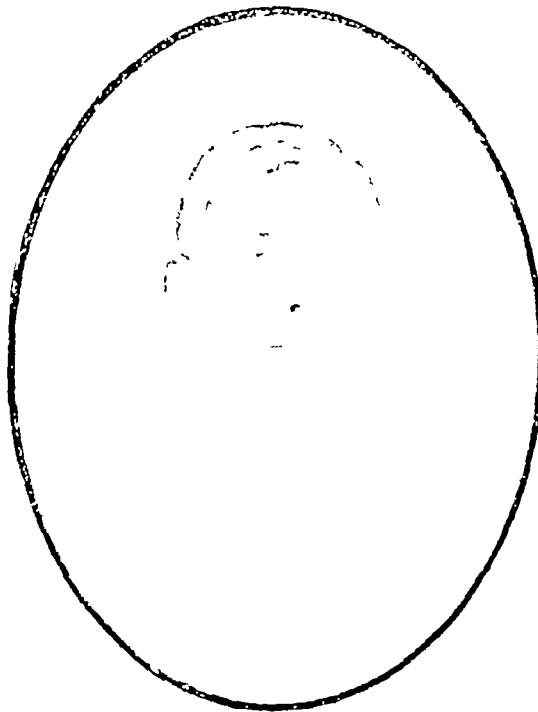
चित्तरंजन दास

स्वराज्य दल—गान्धीजी के जेल जाने से असहयोग आन्दोलन और भी शिथिल पड़ गया। उनके बतलाये हुए कार्यक्रम पर अधिकांश जनता की श्रद्धा न थी और उसके लिए कुछ भी काम न हो रहा था। विद्यार्थी धीरे-धीरे फिर सरकारी स्कूल और कालेजों में वापस जा रहे थे, राष्ट्रीय संस्थाएँ टूट रही थीं, खद्दर का प्रचार कम पड़ रहा था, हिन्दू और मुसलमानों में भी

१ इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, कलकत्ता, सन् १९२५, जि० १, पृ० ९०।

झगड़ा प्रारम्भ हो गया था। इस पर कांग्रेस की ओर से 'सविनय अवज्ञा कमेटी' नियुक्त की गई, जिसने देश भर में भ्रमण करके उस समय की स्थिति से सविनय अवज्ञा को सर्वथा असम्भव बतलाया और कौंसिलो में जाने की सलाह दी। इसके कुछ दिनों पहले से ही असहयोग के कई एक नेताओं की यह राय हो रही थी कि कौंसिलो में न जाकर भूल की गई। कहा जाता था कि लिबरलो के मिल जाने से सरकार और भी दृढ़ हो गई थी और अपनी मनमानी कर रही थी। इस भूल को सुधारने के लिए सन् १९२२ की गया कांग्रेस में 'स्वराज्य दल' स्थापित किया गया, जिसने कौंसिलो में जाकर सरकार के हर एक काम में बाधा डालना निश्चित किया। श्री चित्तरंजन दास, जिन्होंने असहयोग के समय पर बैरिस्ट्री छोड़ दी थी और जेल जा चुके थे, इस दल के नेता बनाये गये।

कांग्रेस में इस समय भी महात्माजी के नाम का बड़ा प्रभाव था। उसने इस दल को अपनाना स्वीकार नहीं किया। इस दल की नीति असहयोग के सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। कौंसिल-बहिष्कार ही असहयोग का एक अंग बाकी रह गया था, वह भी इस नीति से नष्ट हो रहा था। इस पर कांग्रेस में दो दल हो गये, एक तो कौंसिलवादियों का और दूसरा उन कट्टर असहयोगियों का, जो अपनी नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन न चाहते थे। इसी लिए यह दल 'अपरिवर्तनवादियों' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन दोनों दलों में बहुत दिनों तक झगड़ा चलता रहा। स्वराज्य दलवाले कम संख्या में होते हुए भी कांग्रेस को अपने मत में लाने के लिए बराबर प्रयत्न करते रहे। बीमार पड़ने के कारण फरवरी सन् १९२४ में सरकार ने गान्धीजी को छोड़ दिया। सन् १९२३ के निर्वाचन में सफलता होने से स्वराज्य दल का प्रभाव बहुत बढ़ गया। गान्धीजी ने भी देख लिया कि कौंसिलों का बहिष्कार अब सम्भव नहीं है। इस पर उन्होंने राजनीति से अपना हाथ ही खींच लिया और हिन्दू-मुसलमानों की एकता, अछूतों के उद्धार तथा सब से अधिक खद्दर के प्रचार पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। खद्दर पहनना और सूत कातना कांग्रेस के मेम्बरों के लिए अनिवार्य्य कर दिया गया। सफलता न होने पर सूत कातने

का नियम उठा दिया गया, खद्दर पहनना इस समय भी आवश्यक है। कताई का प्रचार करने के लिए गान्धीजी ने एक 'अखिल भारतीय चर्खा संघ' स्थापित किया। इसका व्यापारिक ढंग पर बड़ा अच्छा काम चल रहा है और यह कांग्रेस का एक अंग भी है। सन् १९२८ में कांग्रेस ने स्वराज्य दल की नीति को मान लिया।

सन् १९२३ के निर्वाचन में स्वराज्य दल को अच्छी सफलता हुई। यदि इस अवसर पर कांग्रेस ने इसका साथ दिया होता तो बहुत सम्भव था कि इस दल की पूरी विजय हुई होती, पर तब भी असेम्बली में इसकी प्रधानता रही और प्रान्तीय कौंसिलों में बंगाल तथा मध्यप्रान्त में स्वराज्य दल के लोग सबसे अधिक संख्या में चुने गये। इन दोनों कौंसिलों में मन्त्रियों का नियुक्त होना असम्भव कर दिया गया। बंगाल में दास की नीति-निपुणता के कारण सरकार को कई बार हार खानी पड़ी। मध्यप्रान्त में मन्त्रियों के विभाग अन्ततः एक्जीक्युटिव कौंसिल के मेम्बरों को ही सौंप दिये गये। असेम्बली में भी स्वराज्य दल ने अपनी धाक जमा दी। असहयोग के दमन में सरकार का साथ देने के कारण इस निर्वाचन में लिबरलों की पूरी हार हुई थी। अन्य दल भी सरकार की नीति से सन्तुष्ट न थे। देशी नरेशों की समाचार-पत्रों के आक्रमण से रक्षा करने के लिए एक कानून गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार से पास कर दिया गया था। इसी तरह पूरा विरोध करते रहने पर भी नमक-कर बढ़ा दिया गया था। इस असन्तोष से स्वराज्य दल ने खूब लाभ उठाया। उसने अन्य दलों से मिलकर सरकारी बजट नामंज़ूर कर दिया, जो गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार से पास किया गया।

परन्तु अन्य दलों के साथ यह मेल स्थायी न हुआ, जिसकी वजह से स्वराज्य दल को फिर अधिक सफलता न हुई। उसकी नीति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया, हर एक काम में बाधा डालना छोड़ दिया गया और प्रजाहित के कार्यों में सरकार का साथ भी दिया जाने लगा। सन् १९२४ में दास की मृत्यु हो जाने से और भी धक्का लगा और हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े का भी प्रभाव पड़ा। नीति में परिवर्तन होने के कारण लोकप्रियता घट गई, आपस

में ही मतभेद हो गया, कुछ महाराष्ट्र नेता सरकारी पदों को स्वीकार करने के पक्ष में भी हो गये। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि सन् १९२६ के निर्वाचन में कांग्रेस के प्रयत्न करने पर भी इस दल को अधिक सफलता नहीं हुई। असेम्बली में इस दल के मेम्बरों की संख्या लगभग उतनी ही रही और बंगाल तथा मदरास में कुछ अधिकता रही। इस बार मन्त्रियों को नियुक्त न करने देने का प्रयत्न कहीं भी सफल नहीं हुआ।

खिलाफ़त का अन्त—सन् १९२४ में, तुर्की में प्रजातन्त्र राज्य स्थापित हो गया। सुलतान गद्दी से उतार दिया गया और मुस्तफा कमाल पाशा राष्ट्रपति बनाया गया। इसके पहले ही लोसान की सन्धि हो गई थी, जिसमें यूरोपीय राष्ट्रों ने तुर्की की स्वाधीनता स्वीकार कर ली थी। तुर्की का यह कार्य्य भारतीय मुसलमानों को पसन्द न आया। खिलाफत की प्राचीन संस्था को बनाये रखने के लिए प्रयत्न भी किया गया, पर कोई सफलता न हुई। इस तरह खिलाफत का झगड़ा आप ही आप शान्त हो गया, पर तब भी मुसलमानों की कई एक शिकायतें बनी रहीं। उनके कुछ पवित्र स्थानों पर, नई सन्धियों के अनुसार, अन्य राष्ट्रों का अधिकार हो गया। अरब में वहाबी सुलतान इब्नसऊद की विजय के कारण यह समस्या और भी जटिल हो गई।

हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा—खिलाफत के अन्त के साथ साथ असहयोग के दिनों में हिन्दू-मुसलमानों में जो एकता स्थापित हुई थी, वह भी नष्ट हो गई। सन् १९२३ में दोनों का भेदभाव बहुत बढ़ गया और सन १९२४ में सहारनपुर के जिले में मुहर्रम के समय पर बड़ा भारी दंगा हो गया। उत्तरी भारत के अन्य कई स्थानों में भी बहुत से दंगे हुए। इसके पहले भी कहीं एक आध दंगे हो जाते थे, पर इधर इनके बढ़ जाने के कई एक कारण थे। असहयोग एक राजनैतिक आन्दोलन था, इसके साथ खिलाफत का सम्बन्ध जोड़ देने से धार्मिक भाव पैदा हो गया। नये सुधारों में परस्पर के भेदभाव को मिटाने की कोई चेष्टा नहीं की गई।

कौंसिलों में दोनों के प्रतिनिधि अलग अलग चुने ही जाते थे, अब म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में भी इसी नियम से काम लिया जाने लगा और सरकारी नौकरियाँ देने में भी हिन्दू-मुसलमानों का ख़याल होने लगा। जो हिन्दू पहले मुसलमान हो गये थे उन्हें शुद्ध करने के लिए आन्दोलन चल पड़ा और हिन्दू-समाज को सुसंगठित बनाने के लिए 'हिन्दूमहासभा' स्थापित हो गई। मुसलमानों में भी 'तजीम और तबलीग' के लिए आन्दोलन होने लगा। धार्मिकप्रचार तथा सामाजिक संगठन का दोनों को समान अधिकार है, पर इनमें राजनैतिक रंग ला दिया गया। इसी तरह केवल राजनैतिक प्रश्नों में भी धर्म और जाति के भावों का समावेश कर दिया गया। गोवध का झगड़ा पहले ही से था, हिन्दू सदा से इसका विरोध करते रहे, अब मुसलमानों ने मसजिदों के सामने बाजा बजाने पर आपत्ति करना प्रारम्भ कर दिया। इन भेद-भावों को उत्तेजित करने में कुछ लोगों को आनन्द आने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि देशभर में दोनों जातियों में परस्पर का अविश्वास उत्पन्न हो गया और लड़ाई-झगड़े तथा दंगा-फसाद होने लगे।

सितम्बर सन् १९२४ में सीमा प्रान्त के कोहाट नगर में बड़ा उपद्रव हो गया। एक साधारण झगड़े पर सरहद्दी मुसलमानों ने नगर के हिन्दू मुहल्लों में आग लगा दी, दूकानें लूट लीं और कुछ लोगों को मार डाला। बहुत से हिन्दू कोहाट छोड़कर रावलपिंडी भाग आये। गुलबर्गा और लखनऊ में भी उपद्रव हुए। कोहाट के पूरे समाचार मिलने पर गान्धीजी ने दिल्ली में २१ दिन का उपवास किया। इसी समय दिल्ली में 'एकता सम्मेलन' हुआ, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी और सिखों के प्रतिनिधि शामिल हुए। इस सम्मेलन ने धार्मिक सहिष्णुता पर जोर देते हुए यह निश्चित किया कि जहाँ जैसी रीति है उसी के अनुसार, बिना किसी का दिल दुखाये हुए, काम करना चाहिए। परन्तु इसके निर्णयों पर काम नहीं किया गया। कांग्रेस भी इन झगड़ों को निपटाने का कई बार प्रयत्न किया, पर तब भी कुछ हुआ। झगड़ा बराबर बढ़ता ही गया और दोनों ओर से ज्यादतियाँ होती रहीं। सरकार की कोई निश्चित नीति न रही और उसने दोनों के अधिका

जाता था। इस व्यापार के कारण थोड़े ही दिनो मे वेनिस मालामाल हो गया। सन १४५३ मे तुर्क लोगो की विजय के कारण इस मार्ग मे भी बाधाएँ पड़ने लगी, और यूरोप-निवासियो को भारतवर्ष आने-जाने के लिए एक नया मार्ग ढूँढ निकालने की चिन्ता होने लगी।

वास्कोडगामा

नया मार्ग—यूनानी लोगो के समय से ही यह अनुमान था कि अफ्रिका घूमकर भारतवर्ष जाने का एक समुद्री मार्ग है, परन्तु इसका किसी को ठीक ठीक पता न था। स्पेन के राजा की आज्ञा से 'सोने की चिड़िया' भारतवर्ष को ढूँढते ढूँढते, सन १४९२ मे जिनोआ निवासी कोलम्बस अमरीका जा पहुँचा। इसी धुन मे जान केबो न्यूफाउन्डलैंड पहुँच गया। अन्त मे इस मार्ग को ढूँढ निकालने का श्रेय पुर्तगालियो को ही प्राप्त हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य मे ही यहाँ के निवासी इसकी खोज मे लगे हुए थे। राजकुमार हेनरी का सारा जीवन इसी मे व्यतीत हुआ था। सन १ ... डियाज नाम का एक पुर्तगाली अफ्रिका के एक दक्षिणी

की रक्षा करने का पूरा प्रयत्न भी नहीं किया। सन् १९२६ में गुरुकुल कांगड़ी के स्थापक स्वामी श्रद्धानन्दजी का वध कर डाला गया। इलाहाबाद और कलकत्ता में भी बड़े उपद्रव हुए। सन् १९२८ के अन्त से ये झगड़े धीरे धीरे शान्त होने लगे। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। ये झगड़े प्रायः ब्रिटिश भारत में ही होते हैं, देशी राज्यों में ऐसे झगड़े बहुत कम होते हैं।

सुधारों की उपयोगिता—असहयोग के दिनों में नई कौंसिलों में प्रजा के प्रतिनिधियों का कुछ ध्यान रखा गया। उनके कहने पर न्याय तथा शस्त्रों के सम्बन्ध में गोरे-काले का भेद उठाने, कुछ दमनकारी कानूनों को रद्द करने और समाचारपत्रों को अधिक स्वतंत्रता देने का प्रयत्न किया गया। मदरास और संयुक्त प्रान्त में मंत्रियों के साथ मिलकर चलने की भी चेष्टा की गई। परन्तु असहयोग का जोर ढीला हो जाने तथा माटेग्यू के हटने पर सरकार की नीति फिर बदल गई। असेम्बली में 'देशी नरेश-रक्षक क़ानून' प्रतिनिधियों के विरोध करते रहने पर भी गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार से पास कर दिया गया और नमक-कर बढ़ा दिया गया। प्रान्तीय सरकारों में लिबरल दल के मंत्रियों को काम करना असम्भव कर दिया गया और उनको मजबूर होकर इस्तीफा देना पड़ा। इंग्लैंड की मजदूर सरकार के शासनकाल में भी, जिससे भारतवर्ष को बहुत कुछ आशा थी, बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए एक कठोर कानून (बंगाल आर्डिनेंस) पास कर दिया गया। इसके अनुसार किसी पर ऐसे षड्यन्त्रों में भाग लेने का सन्देह होने ही से बिना अभियोग चलाये हुए, उसको जेल में रखने या निर्वासित करने का अधिकार बंगाल-सरकार को मिल गया। सभी जगह विशेषाधिकारों से काम लिया जाने लगा। सरकार की इन कार्रवाइयों से, जो उसका साथ देना चाहते थे, उन्हें भी यह भासित हो गया कि सुधारों से सरकार के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त नहीं हुआ जैसा कि ड्यूक ऑफ कनाट के भाषण में कहा गया था।

पहली असेम्बली के कहने पर सरकार ने भारतसचिव को यह लिखना स्वीकार कर लिया था कि असेम्बली की राय में सन् १९३० के पहले ही सुधारों की फिर से जाँच करना आवश्यक है। परन्तु दूसरी असेम्बली

ने, जिसमें स्वराज्य दलवालों की अधिकता थी, यह प्रस्ताव पास किया कि भारत की शासन-व्यवस्था पर विचार करने के लिए सरकार और प्रजा के प्रतिनिधियों का एक मिश्रित सम्मेलन (राउँड टेबल कान्फ्रेंस) होना चाहिए। इसका स्वीकार करना तो दूर रहा, सन् १९१७ की विज्ञप्ति का भी इस अवसर पर मनमाना अर्थ लगाया गया। सरकार का कहना था कि विज्ञप्ति में 'उत्तरदायी शासन' का वचन दिया गया है, जिसका अर्थ 'औपनिवेशिक स्वराज्य' नहीं है। अन्तत सुधार-कानून के अन्तर्गत और क्या परिवर्तन हो सकते है, केवल इस पर विचार करने के लिए सन् १९२४ मे मुडीमैन की अध्यक्षता मे एक कमेटी नियुक्त की गई।

इस कमेटी के सामने जो गवाहियाँ हुईं, उनसे यह स्पष्ट हो गया कि दोहरी शासन-व्यवस्था केवल असफल ही नहीं हुई, बल्कि भविष्य मे भी उससे देश के हित की कोई आशा नहीं है। गवर्नर और उसकी एक्जीक्युटिव कौंसिल मंत्रियो के साथ मिलकर काम नहीं करते है। बहुत से प्रान्तों मे मन्त्रियो की मिश्रित जिम्मेदारी नहीं है, हर एक मंत्री अलग अलग जिम्मेदार माना जाता है। जिस ढंग से विषयो का विभाग किया गया है, वैसा होना असम्भव है। शासन के सभी विभागों का एक दूसरे से सम्बन्ध है, इसलिए कुल शासन की एक ही जिम्मेदारी हो सकती है। अर्थ-विभाग एक्जीक्युटिव कौंसिल के मेम्बर के हाथ मे रहने से मंत्रियो के काम मे बडी बाधा पडती है और भारतसचिव तथा गवर्नर का मन्त्रियो पर, जो जनता के प्रति जिम्मेदार समझे जाते है, पूरा अधिकार रहता है। इस कमेटी की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई, उसमे अधिकाश मेम्बरो ने यह राय दी कि राजनैतिक अशान्ति के कारण नई शासन-व्यवस्था से पूरा लाभ नहीं उठाया गया। सुधार-कानून के अन्तर्गत रहकर ही, कुछ फेर-फार करने से लाभ हो सकता है। इसके विरुद्ध कमेटी के तीन हिन्दुस्तानी मेम्बरो की राय थी कि दोहरी शासन-व्यवस्था से हित की सम्भावना नहीं है, इसलिए 'रायल कमीशन' द्वारा फिर से जाँच कराना चाहिए और इस व्यवस्था का अन्त ही कर देना चाहिए।

परिच्छेद १७

औपनिवेशिक स्वराज्य

लार्ड अरविन—सन् १९२६ में पार्लामेंट ने यह नियम बना दिया कि गवर्नर-जनरल प्रधान सेनापति, गवर्नर तथा एक्जीक्युटिव कौन्सिल के मेम्बर भी छुट्टी ले सकते हैं। इस पर लार्ड रीडिंग तीन महीने की छुट्टी लेकर भारतसचिव से परामर्श करने के लिए इंग्लैंड गया। उसके स्थान पर बंगाल का गवर्नर लार्ड लिटन काम करता रहा। वहाँ से उसके लौटने पर मालूम हुआ कि कृषि की उन्नति के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक रायल कमीशन नियुक्त होनेवाला है। लार्ड रीडिंग की अवधि समाप्त होने पर लार्ड अरविन वाइसराय बनाया गया। यह सर चार्ल्स वुड का पोता है, जो पहले भारतसचिव था और जिसने देशी राज्यों के प्रति लार्ड डलहौजी की नीति को बदला था। इसी के समय में

लार्ड अरविन

प्रारम्भिक शिक्षा की ओर भी अधिक ध्यान दिया गया था। लार्ड अरविन

को खेती में बड़ी दिलचस्पी है और आप अपनी शिष्टता तथा सादगी के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं।

भारत और साम्राज्य—गत यूरोपीय महायुद्ध के समय से साम्राज्य-सम्मेलनों में प्रतिनिधि बनकर कई एक भारतीय नेताओं के जाने का फल यह हुआ कि उन्हें उपनिवेशों के प्रतिनिधियों को अपनी बात समझाने का अवसर मिल गया, जिसके कारण बहुत से भ्रम दूर हो गये। कनाडा और आस्ट्रेलिया में हिन्दुस्तानियों के साथ कुछ अच्छा व्यवहार होने लगा, परन्तु दक्षिण अफ्रिका पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। गान्धीजी के साथ जो समझौता हुआ था, सन् १९१९ से उसके विरुद्ध फिर काम होने लगा। कई बार कुलियों को निकालने तथा प्रवासी हिन्दुस्तानियों के अधिकारों को छीनने का प्रयत्न किया गया। इस पर भारत में फिर असन्तोष बढ़ने लगा। परस्पर का भ्रम दूर करने के लिए सन् १९२६ में भारत-सरकार ने एक डेप्यूटेशन (प्रतिनिधि मंडल) दक्षिण अफ्रिका भेजा, वहां से भी एक डेप्यूटेशन भारत आया। इस तरह आपस में फिर समझौता हो गया। दक्षिण अफ्रिका में रहनेवाले हिन्दुस्तानियों की, जिनकी संख्या डेढ़ लाख से भी अधिक है, देख-भाल करने के लिए वहाँ भारत का एक 'एजेंट' (प्रतिनिधि) रखना निश्चित हुआ और इस पद पर श्रीनिवास शास्त्री नियुक्त किये गये। इस समय भी वहाँ के हिन्दुस्तानियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं हो रहा है। पूर्व अफ्रिका में भी, विशेष कर कीनिया में, हिन्दुस्तानियों के साथ बड़ा अन्याय हो रहा है। साम्राज्य के सभी भागों में अपनी अधीनता के कारण भारत को अपमान सहना पड़ता है।

राष्ट्रसंघ—जब साम्राज्य के भीतर ही उसकी यह दशा है, तब फिर संसार के स्वतंत्र राष्ट्रों में उसका मान ही क्या हो सकता है? आज कल सब से भारी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था 'राष्ट्रसंघ' (लीग आफ नेशंस) है, जो महायुद्ध के पश्चात्, संसार में शान्ति स्थापित रखने के लिए स्थापित किया गया था। भारत भी इस संघ का सदस्य है और उसका खर्च चलाने के लिए हर साल

एक बड़ी रकम देता है। परन्तु इसमें जाने के लिए प्रतिनिधि सरकार द्वारा चुने जाते हैं। सन् १९२८ तक इन प्रतिनिधियों का नेता कोई अँगरेज ही होता था, परन्तु सन् १९२९ में वाइसराय की कौंसिल का एक हिन्दुस्तानी मेम्बर पहली बार नेता बनाया गया।

सीमाओं का प्रश्न—सन् १९१९ में अफ़गान-युद्ध की चर्चा सुनकर सीमा पर के वजीरी और महसूदियों ने फिर उपद्रव करना प्रारम्भ कर दिया। इस पर सेना भेजकर उन्हें दबाने का प्रयत्न किया गया और यह निश्चित किया गया कि रुपया तथा हथियार देकर रक्षा का भार उन्हीं लोगों के हाथ में सौंपने की नीति से काम न चलेगा, वजीरिस्तान में सेना रखनी पड़ेगी और रेल तथा सड़कों को जमरूद के आगे भी बढ़ाना पड़ेगा। दो वर्ष तक यह उपद्रव जारी रहा, जिसको शान्त करने में बड़ा धन फूँका गया और बहुत सी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। सन् १९२१ के अन्त में सेना हटा ली गई और रक्षा का भार फिर 'खास्सादारों' को सौंप दिया गया। इस सीमा-प्रदेश के सम्बन्ध में इस समय भी दो मत चल रहे हैं, एक दल 'आगे बढ़ने की नीति' का पक्षपाती है। दूसरे दल का कहना है कि इसमें बड़ा खर्च पड़ता है, इसलिए यहाँ सड़कें बनाकर सेना की चौकियाँ स्थापित कर देनी चाहिएँ और जहाँ तक सम्भव हो यहाँ पर बसनेवाली जातियों को अपने पक्ष में मिलाये रखना चाहिए। भारत सरकार आवश्यकतानुसार दोनों नीतियों से काम ले रही है, जिससे खूब धन उड़ रहा है।

इस सीमा पर के निवासी पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के जिलों में बड़ा ऊधम मचाया करते हैं। सन् १९१९-२० में इनके ६११ धावे हुए, जिन में ३०० आदमियों के प्राण गये और ३० लाख की सम्पत्ति लुट गई। इन्हीं की वजह से इस प्रान्त की राजनैतिक उन्नति में बड़ी बाधा पड़ रही है। लार्ड कर्जन के समय से यह प्रान्त भारत-सरकार के अधीन है। एक दल का कहना है कि इस प्रान्त में भी सुधार-योजना के अनुसार शासन होना चाहिए, पर दूसरे दल की राय है कि सीमा-प्रदेश भारत-सरकार की निगरानी में रखना ही ठीक है, इस प्रान्त के कुछ जिलों को पंजाब में मिला देना चाहिए, जिससे

सुधारो से वहाँ के निवासी भी लाभ उठा सकें। इस सम्बन्ध में भी हिन्दू-मुसलमानो का प्रश्न आ गया। सीमा प्रान्त में मुसलमानो की संख्या अधिक है, इसी लिए उसकी स्वतंत्रता से कुछ हिन्दुओ को भय हो रहा है, परन्तु अधिकांश हिन्दू नेताओ को इसमें विशेष आपत्ति नहीं है। इस पर अभी विचार हो रहा है।

उत्तर की सीमा पर कोई ऐसा भय नहीं है। उस ओर हिमालय की दीवाल खड़ी है। उसके बाद तिब्बत है, जिसके साथ मित्रता का सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त उसकी ऐसी दशा भी नहीं है कि वह भारत की ओर निगाह उठा सके। नैपाल के साथ एक नई सन्धि हो गई है, जिसमें उसने सीमा पर निगरानी रखने का वचन दिया है। इसके बदले मे भारत-सरकार की ओर से उसे कई एक व्यापारिक सुविधाएँ दी गई हैं। पूर्व की ओर चीन की अनिश्चित राजनैतिक स्थिति के कारण बर्मा की सीमा पर सेना बढाई जा रही है। कुछ वर्षो से बर्मा में उसे भारत से अलग करने के प्रश्न पर आन्दोलन हो रहा है। कहा जाता है कि बर्मियो का धर्म, उनकी जाति, भाषा तथा संस्कृति हिन्दुस्तानियो से भिन्न है, इसलिए भारत के साथ रहने में उनका हित नहीं है। इसके अतिरिक्त बर्मा मे हिन्दुस्तानी उन्हें बहुत दबाये हुए हैं। इस आन्दोलन मे सरकार की ओर से बर्मियो को उत्साहित किया जा रहा है।

देशरक्षा—गत मेसोपोटामिया और अफगान-युद्ध मे भारतीय सेना का कुप्रबन्ध देखकर सन् १९१९ मे, लार्ड एशर की अध्यक्षता मे, सेना का संगठन ठीक करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई अक्तूबर सन् १९२० मे इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। कई एक सुधारो को बतलाते हुए इसने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि भारतीय सेना साम्राज्य की सेना का एक अंग है, इसलिए इसकी नीति का संचालन इँग्लैंड के युद्ध-विभाग के हाथ मे होना चाहिए। लेजिस्लेटिव असेम्बली ने इस सिद्धान्त को मानने से इनकार कर दिया। उसका कहना था कि भारतीय सेना का मुख्य कर्तव्य भारत की रक्षा है, उसका पूरा प्रबन्ध भारत-सरकार के हाथ मे रहना चाहिए और यथासम्भव स्वदेश-रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिए भारतवर्ष से बाहर उस सेना

से काम न लेना चाहिए। साथ ही साथ उसने यह प्रस्ताव भी पास किया कि जल, स्थल, और वायु तीनो प्रकार की सेनाओ से बिना किसी जातिभेद के हिन्दुस्तानियो को भरती करना चाहिए, हर साल बड़ बड़ ओहदो पर २५ फी सदी हिन्दुस्तानी 'शाही कमीशन' द्वारा नियुक्त करना चाहिए[1] और हिन्दुस्तानियो को सैनिक शिक्षा देने के लिए स्थानीय सेना (टेरिटोरियल फोर्स) का संगठन ऐसा होना चाहिए, जिससे हिन्दुस्तानी स्वदेश-रक्षा मे भाग ले सकें और अँगरेजी सेना की भी अधिक आवश्यकता न रहे, जिससे बड़ा धन खर्च होता है।

असेम्बली के बहुत जोर देने पर 'सहायक सेना' (आक्जिलियरी फोर्स), जिसमे केवल यूरोपियन होते है और 'स्थानीय सेना' (टेरिटोरियल फोर्स) के कुछ भेदो को मिटाने का प्रयत्न किया गया। विश्वविद्यालयो मे सैनिक शिक्षा के लिए छोटे छोटे दल बनाये गये और देहरादून मे एक सैनिक कालेज खोला गया। यहाँ की पढाई समाप्त करने पर इँग्लैड के 'सैंडहर्स्ट कालेज' मे भरती होने का प्रबन्ध किया जाता है। इसमे हिन्दुस्तानियो के लिए दस जगहे रखी जाती है। 'शाही कमीशना' के सम्बन्ध मे यह निश्चित किया गया कि हिन्दुस्तानी सिपाहियो के आठ दलो मे धीरे धीरे सब अफसर हिन्दुस्तानी कर दिये जायँ। इसी मे लगभग २५ वर्ष लग जायँगे। यदि इसी तरह सेना को राष्ट्रीय बनाने का प्रयत्न किया गया, तो इसमे सैकड़ो वर्ष लगेंगे। 'सैंडहर्स्ट कालेज' में शिक्षा पाने पर प्रायः 'शाही कमीशन' मिलता है। असेम्बली के बहुत कहने पर भारत मे एक ऐसे कालेज के स्थापित करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए जनरल स्कीन की अध्यक्षता मे एक कमेटी नियुक्त की गई। इसने सन् १९२३ मे कालेज खोलने

[1] भारतीय सेना मे दो प्रकार के अफसर होते है, एक तो 'वाइसराय के कमीशन' द्वारा नियुक्त किये जाते है और दूसरे जो 'किग्ज या शाही कमीशन' द्वारा नियुक्त किये जाते है। शाही कमीशन' के अफसरो का पद ऊँचा होता है और उनके अधिकार भी बहुत होते है। यूरोपीय महायुद्ध के पहले किसी हिन्दुस्तानी को 'शाही कमीशन' न मिलता था।

और तब तक सँडहर्स्ट में हिन्दुस्तानियों के लिए जगहें बढ़ाने की सलाह दी, परन्तु इस ओर विशेष ध्यान न देकर भारत-सरकार 'आठ दलवाली योजना' ही पर डटी है।

भारत के पास कोई जहाजी सेना नहीं है। सन् १८७६ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक ऐसी सेना बनाई थी, परन्तु सिपाही विद्रोह के बाद वह तोड़ दी गई। तब से भारत के सागर-तट की रक्षा इँग्लेंड की जहाजी सेना द्वारा होती है। इसके लिए हर साल इँग्लेंड को एक बड़ी रकम दी जाती है। सन् १८६२ से भारत के पास कुछ जहाजों का एक छोटा बेड़ा है, जो 'रायल इंडियन मैरीन' कहलाता है। सन् १६२६-२७ में इसी से भारत की जहाजी सेना (इंडियन नेवी) बनाने का प्रयत्न किया गया। इसमें कुछ हिन्दुस्तानियों के भरती करने का वचन दिया गया, परन्तु साथ ही साथ यह शर्त लगाई गई कि आवश्यकता पड़ने पर इससे साम्राज्य की रक्षा का काम लिया जायगा। असेम्बली ने इसको स्वीकार न किया, इस पर यह विचार छोड़ दिया गया। इंडियन मैरीन के तीन जहाज जंगी बना दिये गये और कुछ हिन्दुस्तानियों को जहाजी शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया। सरकार के पास 'रायल एअर फोर्स' के कुछ हवाई जहाज भी हैं।

स्वदेशरक्षा का भार अपने हाथ में न होने से हिन्दुस्तानी पूर्ण रूप से अँगरेजों के अधीन हैं। एक ओर तो उनकी सैनिक शिक्षा का कोई यथेष्ट प्रबन्ध नहीं किया जा रहा है और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि स्वदेश-रक्षा के लिए अयोग्य होने के कारण, वे स्वराज्य के योग्य नहीं हैं। भारत में सेना का बड़ा खर्च है। सन् १९२१-२२ में यह ६५ करोड़ रुपया तक पहुँच गया था। इंचकेप कमेटी के कहने पर इसमें कुछ कमी की गई, परन्तु तब भी यह ५५ करोड़ रुपया है। इस तरह भारत का सैनिक खर्च आमदनी का ४२ सैकड़ा है, जितना किसी देश में नहीं है।

व्यापार—यूरोपीय महायुद्ध के समय में व्यापार की बड़ी अनिश्चित अवस्था रही। इन दिनों जापान ने खूब लाभ उठाया। बाहर से आने-वाली चीजों का भाव बहुत बढ़ गया, यह दशा युद्ध के बाद भी कई साल

तक बनी रही। भारत को बहुत सा बना हुआ माल बाहर से मँगाना पड़ता है। ६६ करोड़ रुपये माल का तो केवल कपड़ा ही आता है। पिछले दस वर्षों में लगभग ७ अरब रुपये का माल बाहर से आया। महायुद्ध के बाद विलायती कपड़े पर चुंगी बढ़ा दी गई। भारत के सम्बन्ध में स्वतंत्र व्यापार के प्रश्न की जाँच करने के लिए सन् १९२१ में एक कमीशन नियुक्त हुआ, जिसकी सिफारिशों के अनुसार सन् १९२२ में 'टैरिफ बोर्ड' स्थापित किया गया। देश की किस औद्योगिक कला को सरकारी रक्षा और सहायता की आवश्यकता है, यह निश्चित करना इस बोर्ड का मुख्य काम है। सन् १९२४ में इस बोर्ड के कहने पर बाहर से आनेवाली लोहे की कुछ चीजों पर चुंगी बढ़ा दी गई और रेलों का सामान बनाने के लिए जमशेदपुर में टाटा के लोहे के कारखाने को आर्थिक सहायता दी गई। सन् १८९६ से भारतवर्ष में बने हुए कपड़े पर जो चुंगी ली जाती थी, वह सन् १९२६ में उठा दी गई।

देश की औद्योगिक कलाओं की उन्नति की ओर भी कुछ ध्यान दिया गया। सन् १९२१ में इसके लिए भारत-सरकार का एक अलग विभाग खोला गया। प्रान्तों में यह विभाग मंत्रियों के हाथ में है। लोकमत के ज़ोर से सरकार थोड़ा-बहुत प्रयत्न इस ओर अवश्य कर रही है, पर उसमें सब से अधिक ध्यान इँग्लैंड के लाभ का ही रहता है। साम्राज्य में बनी हुई चीजों का ही साम्राज्य के सब देशों में व्यवहार किया जाय इस पर बड़ा ज़ोर दिया जा रहा है। इस तरह इँग्लैंड का माल भारत के मत्थे मढ़ा जा रहा है, जिसका फल यह होता है कि भारतवर्ष को कभी कभी मँहगी चीजें खरीदनी पड़ती है, पर इँग्लैंड का व्यापार बढ़ता है और वहाँ की बेकारी कम होती है। महायुद्ध के बाद से इस समय तक भारत की व्यापारिक दशा सुधर नहीं पाई है। प्रधान नेताओं का मत है कि इसका मुख्य कारण सरकार की आर्थिक नीति है, पर सरकार का कहना है कि इसका सम्बन्ध अन्य देशों की स्थिति से है।

खेती—लार्ड अरविन के आने पर 'कृषि कमीशन' नियुक्त हुआ। सन् १९२८ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जिसमें इसने पूसा के कृषि-

कालेज को विस्तृत बनाकर कृषि-सम्बन्धी खोज के लिए अधिक सुविधाएँ देने की सलाह दी। इसने यह भी बतलाया कि कृषि-विभाग मे केवल भारत वासियो को रखने से काम न चलेगा, विशेषज्ञों को बाहर से लाना चाहिए और किसानो को खेती की उचित शिक्षा देने का प्रबन्ध करना चाहिए। लगान की अधिकता के कारण बेचारे किसान पिसे जाते हैं, इसकी ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया और न मालगुजारी के प्रश्न पर ही विचार किया गया। इस कमीशन की सिफारिशो से किसानों की दशा कुछ भी नहीं सुधरी। अब बाहर से अन्न भी आना प्रारम्भ हो गया है, इसी से खेती की दशा का पता चलता है।

आर्थिक प्रबन्ध—खर्च बहुत बढ जाने के कारण महायुद्ध के बाद कई एक टैक्स बढा दिये गये। कई साल तक सरकार को बडा घाटा होता रहा और कर्ज बढता गया। सन् १९२४ मे आमदनी और खर्च का हिसाब बराबर हो गया। सुधारों के समय से प्रान्तों को हर साल एक रक़म भारत-सरकार को देनी पडती थी, जिसमे उनके काम में बडी बाधा पड़ती थी। भारत-सरकार के बजट में बचत होने पर सन् १९२८-२९ मे यह प्रबन्ध तोड दिया गया। चाँदी की कमी होने के कारण युद्ध के समय मे एक एक रुपये के नोट चला दिये गये थे। इनसे जनता को बड़ी असुविधा होती थी। बाद मे इनका छापना बन्द कर दिया गया। जनता के विरोध करते रहने पर भी सन् १९२२ मे नमक-कर फिर बढा दिया गया। खर्चे मे कमी करने के लिए सन् १९२२ मे लार्ड इचकेप की अध्यक्षता मे एक कमेटी नियुक्त की गई, जिसकी सिफारिशों के अनुसार सेना तथा अन्य विभागों में खर्च कुछ घटाया गया। परन्तु भारतीय नौकरियो मे अगरेज युवकों की अधिक रुचि पैदा करने की दृष्टि से सन् १९२४ मे 'ली कमीशन' ने तनख्वाहें तथा भत्ता बढा देने की सलाह दी, जिसका फल यह हुआ कि भारत पर एक करोड रुपया साल का बोझ और लद गया।

ईस्ट इण्डियन और ग्रेट इण्डियन पेनिशुला रेलवे कम्पनियो के ठेकों की अवधि समाप्त होने पर सरकार ने उनका प्रबन्ध अपने हाथ मे ले लिया। सन् १९२४ मे रेलों का बजट भी अलग कर दिया गया और उनका प्रबन्ध एक 'रेल

बोर्ड' को सौंप दिया गया। तार और डाक के विभागों को भी व्यापारिक ढंग पर चलाने का प्रबन्ध किया गया। भारतवर्ष को हर साल एक बड़ी भारी रकम विलायत भेजनी पड़ती है, इससे बहुत सा सरकारी सामान खरीदा जाता है और अफसरों की तनख्वाहें तथा पेंशनें दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त व्यापार का लेन देन भी रहता है। इसी लिए पौंड और रुपये की ठीक दर का बड़ा ध्यान रखना पड़ता है। सन् १६२६-२७ में सरकार ने १ शिलिंग ६ पेंस रुपये की दर निश्चित कर दी। इस निर्णय से सरकार को अवश्य कुछ बचत हुई, पर बाहर माल भेजने में देश का बड़ा नुकसान होने लगा। 'एक्सचेंज' (विनिमय) और 'करेंसी' (सिक्का) के सम्बन्ध में सरकार की मनमानी नीति के कारण भारत को करोड़ों रुपये का घाटा उठाना पड़ता है।

इन दिनों भारत की आर्थिक दशा बड़ी सोचनीय हो रही है। सन् १६२६ तक इस पर विलायती कर्ज ४ अरब से भी अधिक हो गया, जो आदमी पीछे १२ रुपया पड़ता है। इसके सूद तथा 'होम चार्जेज' के नाम से अन्य खर्चे के लिए इसे प्रति वर्ष ४० करोड़ रुपया इँग्लैंड भेजना पड़ता है। विलायती पूँजी तो भारत में इतनी खपी हुई है कि उसका अनुमान करना कठिन है। इन सब रकमों के कारण देश इँग्लैंड के पास बन्धक सा हो रहा है। जनता पर टैक्सों का इतना बोझ लद गया है कि उसको पेट भर खाने तक का ठिकाना नहीं है। भारत में आदमी पीछे प्रति दिन दो आने से अधिक की आमदनी का औसत नहीं है।

शिक्षा—सन् १६१७ में 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन' नियुक्त हुआ। दो वर्ष तक देश में भ्रमण करने के बाद सन् १६१६ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसने भारतीय शिक्षा के सभी प्रश्नों पर विचार किया। इसकी राय थी कि स्कूलों से निकलनेवाले हर एक विद्यार्थी के लिए विश्वविद्यालयों में रहना सम्भव नहीं है। ऐसी दशा में कालेजों से 'इंटरमीडियेट' के दर्जे निकालकर स्कूलों में मिला देने चाहिएँ और उनमें शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए, जिससे उनसे निकलने पर विद्यार्थियों को जीवन-निर्वाह में सहायता मिल सके। इन 'इंटरमीडियेट कालेजों' का निरीक्षण एक बोर्ड के

हाथ मे रखना चाहिए। विश्वविद्यालयो के सम्बन्ध मे कमीशन का कहना था कि उनका मुख्य कर्तव्य "जीवन को हर तरह मे उच्च बनाना" है। दूर दूर के कालेजो को एक विश्वविद्यालय मे रखने का फल यह होता है कि उसका काम केवल परीक्षा लेना रह जाता ह। इसलिए उसने सलाह दी कि ऐसे छोटे छोटे विश्वविद्यालय बनाने चाहिएँ, जिनमे विद्यार्थी निवास कर सके और अध्यापको के साथ रहकर पूरा लाभ उठा सके।

इसी ढग पर सन् १९२०-२१ मे ढाका तथा लखनऊ मे नये विश्व-विद्यालय स्थापित किये गये। 'अलीगढ कालेज' भी 'मुसलिम विश्वविद्यालय' बन गया, इसमे मुसलमानो की धार्मिक शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। आगे चलकर इलाहाबाद के विश्वविद्यालय का भी नये ढग पर सगठन किया गया और दिल्ली, पटना, नागपुर, रगून, आन्ध्रप्रान्त तथा आगरा मे, कहीं नये और कहीं पुराने ढंग के, विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। राजा अन्नामलै चेट्टि ने ३५ लाख रुपया शिक्षा के लिए दान किया, इसलिए उनके नाम से चिदम्बरम (मदरास) मे एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया।

सुधारो के समय से प्रान्तो में शिक्षा-विभाग मन्त्रियो के हाथ मे आ गया। तब से प्रारम्भिक शिक्षा की ओर कुछ विशेष ध्यान दिया गया। कई एक शहरो की म्युनीसिपल्टियो ने इसको मुफ्त तथा अनिवार्य बना दिया, परन्तु धनाभाव के कारण विशेष उन्नति न हो सकी। अनुभव से यह भी पता लगा कि केवल साहित्य की शिक्षा से अधिक लाभ नहीं है। इसलिए सभी श्रेणियो में वैज्ञानिक, औद्योगिक, व्यापारिक तथा खेती की शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा। देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए कुछ प्रयत्न किया गया। अभी भारत में शिक्षा का बडा अभाव है। सन् १९२१ की मनुष्यगणना से पता लगता है कि ब्रिटिश भारत मे हजार मर्द पीछे केवल १२२ और हजार औरतों पीछे केवल १८ औरतें पढी-लिखी है। अँगरेजी पढे हुए लोगो की सख्या तो नाममात्र के लिए है। देश की अशिक्षता दूर करने के लिए सरकार से २० करोड़ रुपया साल भी खर्च नहीं किया जाता, पर बेकार सेना रखने मे ५५ करोड़ फूँका जाता है।

समाज-सुधार—शिक्षा के साथ साथ जनता का ध्यान धीरे धीरे समाज-सुधार की ओर आकर्षित होने लगा। ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज पहले ही से इस ओर काम कर रहे थे। कुछ वर्षों से कांग्रेस के साथ 'समाज-सुधार सम्मेलन' भी होने लगे। असहयोग के समय से अछूतोद्धार और मादक वस्तुओं के बहिष्कार पर अधिक जोर दिया जाने लगा। 'हिन्दू महा-सभा' ने भी समाज-सुधार को अपनाया। सती-प्रथा बन्द करने के बाद से धार्मिक उदासीनता की नीति का सहारा लेकर सरकार इन मामलों में चुप रही। परन्तु सुधारों के समय से जनता के प्रतिनिधियों ने उसकी इस मानता का थोड़ा-बहुत भंग किया। सन् १९२४ में 'सहवासवय' १२ वर्ष से बढ़ा कर १३ वर्ष कर दिया गया। इसे और बढ़ाने के लिए प्रयत्न हो रहा है। सन् १९२९ में 'बालविवाह-निषेध कानून' पास किया गया। इसके अनुसार अप्रैल सन् १९३० के बाद से १४ वर्ष से कम की लड़की और १८ वर्ष से कम के लड़के का विवाह अपराध बना दिया गया। सभी धर्मों में मादक वस्तुओं का निषेध है, पर तब भी सरकार का ध्यान इस ओर नहीं जा रहा है। इनके व्यवसाय से सरकार की बड़ी आमदनी होती है, जिसको छोड़ने के लिए वह तैयार नहीं है। पिछले ७० वर्षों में केवल शराब से सरकारी आमदनी १ करोड़ से २५ करोड़ रुपये पहुँच गई। शराब पीने का व्यसन कितना बढ़ गया, इसी से जान पड़ रहा है।

साइमन कमीशन—सुधार-कानून में प्रति दसवें वर्ष शासन-व्यवस्था की जांच करने का नियम रखा गया था। सन् १९२१ ही में असेम्बली ने अवधि समाप्त होने के पहले ही जाँच कराने का प्रस्ताव पास किया था। मुडीमेन कमेटी के तीन मेम्बरों ने भी यही सलाह दी थी। 'लिबरल फेडरेशन' भी बराबर यही कह रहा था। परन्तु इस बात की कुछ भी सुनवाई नहीं की गई। सन् १९२७ में आप ही आप कमीशन नियुक्त करने की घोषणा कर दी गई। सन् १९३० के पहले ही जाँच कराने का कारण यह बतलाया गया कि जिसमें सबको सरकार के भावों का पता लग जाय और सन्देह दूर होकर शान्ति स्थापित हो जाय। इसमें पार्लामेंट

के लिबरल (उदार) दल से एक, लेबर (मजदूर) से दो और कजर्वेटिव (अनुदार) दल से चार मेम्बर लिये गये। लिबरल दल के प्रसिद्ध बैरिस्टर सर जान साइमन इसके अध्यक्ष बनाये गये।

इस कमीशन में एक भी भारतवासी न रखा गया। इसके कई एक कारण बतलाये गये। कहा गया कि भारतवर्ष के शासन का अधिकार पार्लामेंट को है, इसलिए पार्लामेंट के मेम्बर ही उसके शासनसम्बन्धी प्रश्नों का ठीक ठीक विचार कर सकते हैं और उन्हीं की राय पार्लामेंट को भी अधिक मान्य होगी। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में जातिगत झगड़े चल रहे हैं, किस किस जाति के नेता कमीशन के मेम्बर बनाये जायँ, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। कमीशन के मेम्बरों की संख्या अधिक बढ़ाना ठीक नहीं है। इस सम्बन्ध में निष्पक्ष विचार की भी बड़ी आवश्यकता है, जिसकी भारतीय नेताओं से, जो राजनैतिक आन्दोलन में भाग ले रहे हैं, आशा करना व्यर्थ है। हिन्दुस्तानियों के सन्तोष के लिए यह निश्चित किया गया कि भारतीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों की कमेटियाँ बना दी जायँ, जो जाँच करने में कमीशन की सहायता करें।

सारे देश ने इसको अपना घोर अपमान समझा। कांग्रेस तो पहले ही से पार्लामेंट के अधिकार को स्वीकार न करती थी। उसका मत है कि 'आत्म-निर्णय' के सिद्धान्त के अनुसार भारतवर्ष के भाग्य का निर्णय भारतवासियों के हाथ में ही होना चाहिए। लिबरल दलवाले भी कमीशन में एक भी हिन्दुस्तानी न रखना सहन न कर सके और सबने मिलकर इस कमीशन का बहिष्कार करना निश्चित किया। ता० ३ फरवरी सन् १९२८ को, जिस दिन इस कमीशन ने भारत-भूमि पर पैर रखा, देशभर में हड़ताल मनाई गई। लेजिस्लेटिव असेम्बली और मदरास, मध्यप्रान्त तथा युक्तप्रान्त की कौंसिलों ने कमीशन पर अपना अविश्वास प्रकट किया। उसकी सहायता करने के लिए जो भारतीय तथा प्रान्तीय कमेटियाँ बनाई गई, उनके चुनाव में जनता के अधिकांश प्रतिनिधियों ने कोई भाग नहीं लिया। पहली जाँच के बाद नवम्बर में यह कमीशन फिर भारतवर्ष आया। इस बार भी जहाँ जहाँ यह गया हड़-

ताल मनाई गई और इसका बहिष्कार किया गया। काले झंडों के जलूस और "लौट जाओ" की ध्वनि से सर्वत्र इसका स्वागत किया गया। कई जगह ऐसे जलूसों पर पुलिस के डंडे चले। लाहौर में लाला लाजपतराय को चोट आई। इसके एक ही महीने बाद, सम्भवत इसी चोट के कारण, इनका देहान्त हो गया। इनका सारा जीवन देश की सेवा में व्यतीत हुआ था। इनकी स्थापित की हुई 'सर्वेंट्स ऑफ दि पीपुल सोसायटी' (लोक-सेवक समिति) है, जो अछूतोद्धार के लिए बड़ा काम कर रही है।

लाला लाजपतराय

सर्वदल सम्मेलन—सन् १९२० से कांग्रेस का ध्येय 'स्वराज्य' था। इसमें "यदि सम्भव हो तो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं तो उसके बाहर" दोनों भाव आ जाते थे। परन्तु असहयोग के समय से ही एक दल को यह भासित हो रहा था कि साम्राज्य से रहकर भारत का हित नहीं है इसी लिए वह पूर्ण स्वतंत्रता पर जोर दे रहा था। साइमन कमीशन की नियुक्ति से रुष्ट होकर सन् १९२७ में कांग्रेस ने ध्येय में बिना कुछ परिवर्तन किये हुए 'पूर्ण स्वतन्त्रता' को अपना अन्तिम उद्देश्य मान लिया, पर साथ ही साथ स्वराज्य की परिभाषा पर विचार करने के लिए देश के प्रधान राजनैतिक दलों की एक कमेटी बनाना निश्चित किया। श्री पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में इस
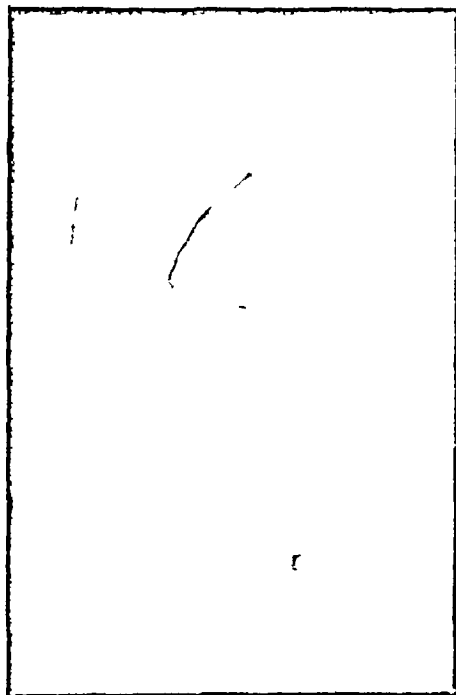
योजना पर विचार करने के लिए देश की राजनैतिक, साम्प्रदायिक, सामाजिक, औद्योगिक तथा अन्य मुख्य मुख्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों का 'सर्वदल-सम्मेलन' किया गया। परन्तु इसमें भी मुसलमानों के साथ समझौता न हो सका। गान्धीजी के बहुत जोर देने पर काग्रेस ने यह निश्चित किया कि यदि साल भर में 'नेहरू योजना' के अनुसार औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाय तब तो वह स्वीकार किया जाय पर यदि ऐसा न हो तो फिर से असहयोग प्रारम्भ किया जाय।

देशी राज्य—भारत की ७ लाख वर्गमील भूमि इस समय भी देशी नरेशों के अधीन है। इसमें १०० बड़े और ४५० छोटे छोटे राज्य हैं, जिनकी आबादी ७ करोड़ है। कई एक राज्यों में इधर बहुत कुछ उन्नति हुई है। इनमें मैसूर, त्रावणकोर और बड़ोदा मुख्य हैं। इनमें शिक्षा के प्रचार तथा कलाओं की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है और शासन में प्रजा के प्रतिनिधियों को भी कुछ भाग दिया गया है। बड़ोदा में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य और मुफ्त है। राजपूताने में बीकानेर भी अच्छी उन्नति कर रहा है। परन्तु अधिकांश राज्यों में इस समय भी मनमानी शासन-व्यवस्था चल रही है। प्रजा के प्रति राजाओं का जिम्मेदार न होना इसका मुख्य कारण है। बाहरी आक्रमण तथा भीतरी विद्रोह के भय से पहले राजाओं को प्रजा का बराबर ध्यान रखना पड़ता था, परन्तु अब दोनों से रक्षा करने के लिए ब्रिटिश सत्ता मौजूद है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुतों को अपनी जिम्मेदारी का कुछ भी ध्यान नहीं रहता है।

बटलर कमेटी—पिछले १० वर्षों में कई कारणों से भारत-सरकार को १८ राज्यों में हस्तक्षेप करना पड़ा। इनमें नाभा, इन्दौर तथा भरतपुर के राजाओं से शासनाधिकार ले लिये गये। निजाम से भी बड़ी लिखा-पढ़ी हुई, जिसमें लार्ड रीडिंग ने स्पष्ट कह दिया कि भारत में ब्रिटिश आधिपत्य पूर्ण रूप से है। उसके साथ किसी राज्य की बराबरी नहीं हो सकती। इस पर देशी राज्यों के साथ भारत-सरकार का क्या सम्बन्ध है और सन्धियों तथा

असन्तोष प्रकट किया और 'पूर्ण आधिपत्य' के सिद्धान्त का साफ शब्दों में विरोध किया। "उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत में पूर्ण ब्रिटिश आधिपत्य रहा है", कमेटी के इस मत को मंडल के अध्यक्ष महाराजा पटियाला ने ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं माना।

मज़दूर-संघ—गत महायुद्ध के समय से भारत के कल-कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों में भी अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हो गया और बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर तथा अन्य व्यापारिक केन्द्रों में उनके संघ स्थापित हो गये। सन् १९२६ में 'ट्रेड यूनियन बिल' (मजदूर-संघ कानून) पास किया गया, जिसके द्वारा ऐसे संघों के स्थापित करने का अधिकार मान लिया गया और उनके संगठन तथा रजिस्ट्री कराने के नियम बनाये गये। मजदूर लोग हड़तालों द्वारा अपनी शिकायतों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने लगे। एक दूसरे के प्रति सहानुभूति दिखलाने के लिए सभी कारखानों में हड़तालें होने लगीं और उनमें रेलों के कर्मचारी भी शामिल होने लगे। हड़तालों को बढ़ते देखकर सन् १९२९ में सरकार ने 'ट्रेड्स डिस्प्यूट बिल' (व्यवसायी झगड़ा कानून) पास किया। इससे मजदूर-संघों की बहुत कुछ स्वतन्त्रता नष्ट हो गई और हड़तालों के सम्बन्ध में बड़े कठिन नियम बना दिये गये। झगड़ा निपटाने के लिए पंचायतों को नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। मजदूरों की स्थिति पर विचार करने के लिए ह्वीटली की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त हुआ है।

किसानों का एका—असहयोग के समय से किसानों में भी जागृति हो गई। जमीन्दारों के अत्याचारों से बचने के लिए उत्तरी भारत में 'एका आन्दोलन' चल पड़ा। दक्षिण में भी धीरे धीरे उनका संगठन होने लगा। बारडोली में बिना पूरी जाँच किये हुए लगान बढ़ा दिया गया। इस पर सन् १९२८ में वहाँ के किसानों ने सत्याग्रह किया। सरकार की ओर से बड़े अत्याचार किये गये, तब भी वे शान्त रहे। अन्त में उनकी बात मानकर जाँच करने के लिए सरकार को एक कमेटी नियुक्त करनी पड़ी, जिसने सरकारी तख-

की ओर यह प्रकट किया कि शीघ्र ही ऐसे नियम बनाये जायेंगे, जिनसे अध्यक्ष को ऐसे कार्यों में बाधा डालने का अधिकार न रहे। जिस दिन श्री पटेल अपनी व्यवस्था देनेवाले थे, उसी दिन असेम्बली में एक बम फेंका गया, जिससे बड़ी सनसनी मच गई। उधर लाहौर में कई लोगों पर सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने का मुकदमा चल रहा था। जेल में व्यवहार ठीक न होने के कारण अभियुक्तों ने अनशन प्रारम्भ कर दिया। इसमें ६३ दिन बाद यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु हो गई। इसी तरह बर्मा में भी पुंगी विजय की मृत्यु हो गई। इसका फल यह हुआ कि जेलों में अभियुक्तों के प्रति व्यवहार की ओर जनता तथा सरकार का ध्यान आकर्षित हो गया और उसमें कुछ सुधार किया गया।

औपनिवेशिक स्वराज्य—सन १९२९ में इँग्लैंड का शासन फिर मजदूर दल के हाथ में आ गया और श्री वेजउड बेन भारतसचिव के पद पर नियुक्त किये गये। पहली मजदूर सरकार का भारत के साथ अनुदार व्यवहार और साइमन कमीशन की नियुक्ति में मजदूर दल के सहयोग के कारण भारतवासियों को नई मजदूर सरकार से कोई आशा न थी। साइमन कमीशन के पूर्ण बहिष्कार, नेहरू योजना के सम्बन्ध में देश के मुख्य राजनैतिक दलों की एकता और स्वतन्त्रता के आन्दोलन को बढ़ता हुआ देखकर वाइसराय लार्ड अरविन की आँखें खुल गईं। मजदूर सरकार से परामर्श करने के लिए वे इँग्लैंड गये। वहाँ से लौटकर ता० ३१ अक्तूबर सन १९२९ को उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। इसमें कहा गया कि

वेजउड बेन

मीने को गलत बतलाया। अकालियो की तरह बारडोली के किसानो ने भी यह दिखला दिया कि यदि पूर्ण रूप से सगठन किया जाय तो व्यावहारिक दृष्टि से भी सत्याग्रह से सफलता प्राप्त करना असम्भव नही है।

पब्लिक सेफ्टी बिल—बोलशेविक शासन मे रूस का कायापलट ही हो गया। इसका प्रभाव अन्य देशो पर भी पडने लगा। साम्प्रदायिक झगडे और सामाजिक तथा आर्थिक असमानता देश के युवको को खटकने लगी और उसे नष्ट करने के लिए 'युवक-सघ' स्थापित होने लगे। इन सब आन्दोलनो मे सरकार को रूस के कम्युनिस्ट (वर्गवादी) लोगो का हाथ दिखलाई देने लगा। इस पर दमन-चक्र फिर चल पडा। अहिंसात्मक असहयोग की असफलता से कुछ युवको की प्रवृत्ति भी बदल रही थी, सरकार की दमन-नीति से वे और भी उत्तेजित हो गये। लाहोर मे दिनधाडे पुलिस कमिश्नर साण्डर्स की हत्या की गई। अन्य कई स्थानो मे भी पुलिस को षड्यत्रो का पता चला। सन् १९२८ मे सरकार ने 'पब्लिक सेफ्टी बिल' (जनता-रक्षक कानून) पेश किया। इसका आशय यह था कि यदि किसी विदेशी पर भारत-सरकार को यह सन्देह हो कि वह वर्गवादी सिद्धान्त फैला रहा है, तो वह बिना किसी मुकदमा के निर्वासित कर दिया जाय। असेम्बली ने इसको राष्ट्रीय आन्दोलन पर आक्रमण समझकर नामंजूर कर दिया।

इतने ही मे सरकार ने मजदूर तथा किसान आन्दोलन के कुछ नेताओ और तीन अँगरेजों पर मेरठ मे एक मुकद्मा चला दिया कि वे लोग रूस के 'कम्युनिस्ट' दल की सहायता से भारत मे सम्राट् के विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे है। इसी के बाद सन् १९२९ मे 'पब्लिक सेफ्टी बिल' फिर पेश किया गया। इस पर असेम्बली के अध्यक्ष श्री पटेल ने कहा कि इस बिल का बहुत कुछ सम्बन्ध मेरठ के मामले से है, जो अदालत के विचाराधीन है। ऐसी दशा मे इस बिल पर पूरी बहस नहीं हो सकती, इसलिए इसका पेश करना ठीक नहीं है। अध्यक्ष पटेल की इस व्यवस्था से सरकार बडे चक्कर मे पड गई। इस पर वाइसराय ने अपनी विशेष आज्ञा द्वारा उस कानून को ६ महीने के लिए जारी कर दिया। अपने भाषण मे उन्होंने अध्यक्ष की व्यवस्था की आलोचना

की ओर यह प्रकट किया कि शीघ्र ही ऐसे नियम बनाये जायँगे, जिनसे अध्यक्ष को ऐसे कार्यों में बाधा डालने का अधिकार न रहे। जिस दिन श्री पटेल अपनी व्यवस्था देनेवाले थे, उसी दिन असेम्बली में एक बम फेंका गया, जिससे बड़ी सनसनी मच गई। उधर लाहोर में कई लोगों पर सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने का मुकदमा चल रहा था। जेल में व्यवहार ठीक न होने के कारण अभियुक्तों ने अनशन प्रारम्भ कर दिया। इनमें ६३ दिन बाद यतीन्द्र-नाथ दास की मृत्यु हो गई। इसी तरह बर्मा में भी पुंगी विजय की मृत्यु हो गई। इसका फल यह हुआ कि जेलों में अभियुक्तों के प्रति व्यवहार की ओर जनता तथा सरकार का ध्यान आकर्षित हो गया और उसमें कुछ सुधार किया गया।

औपनिवेशिक स्वराज्य—सन् १९२९ में इँग्लेंड का शासन फिर मजदूर दल के हाथ में आ गया और श्री वेजउड वेन भारतसचिव के पद पर नियुक्त किये गये। पहली मजदूर सरकार का भारत के साथ अनुदार व्यवहार और साइमन कमीशन की नियुक्ति में मजदूर दल के सहयोग के कारण भारतवासियों को नई मजदूर सरकार से कोई आशा न थी। साइ-मन कमीशन के पूर्ण बहिष्कार, नेहरू योजना के सम्बन्ध में देश के मुख्य राज-नैतिक दलों की एकता और स्वतन्त्रता के आन्दोलन को बढ़ता हुआ देखकर वाइसराय लार्ड अरविन की आँखें खुल गईं। मजदूर सरकार से परामर्श करने के लिए वे इँग्लेंड गये। वहाँ से लौटकर ता० ३१ अक्तूबर

वेजउड वेन

सन् १९२९ को उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। इसमें कहा गया कि

सन् १९१७ की विज्ञप्ति में 'उत्तरदायी शासन' देने के लिए वचन दिया गया था, उसका अर्थ 'औपनिवेशिक स्वराज्य' है। देशी राज्यों का प्रश्न भारतीय शासन-व्यवस्था से बिलकुल अलग नहीं है। इसलिए सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था पर विचार करने के लिए सरकार, ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन शीघ्र ही लन्दन में किया जायगा।

इस पर देश के मुख्य मुख्य नेताओं ने दिल्ली में एक वक्तव्य प्रकाशित किया। इसमें कहा गया कि सम्मेलन (राउंड टेबल कान्फरेंस) की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि शासन में उदार नीति से काम लिया जाय और राजनैतिक कैदी छोड़ दिये जायँ। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि औपनिवेशिक स्वराज्य को आधार मानकर ही सम्मेलन में शासन-व्यवस्था पर विचार किया जाय। परन्तु इसके बाद पार्लामेंट में वाइसराय की विज्ञप्ति के सम्बन्ध में जो बहस हुई, उससे कांग्रेस के नेताओं को ब्रिटिश सरकार की नीति पर सन्देह होने लगा।

पूर्ण स्वराज्य—दिसम्बर सन् १९२९ में लाहौर में कांग्रेस का बड़ा महत्त्वपूर्ण अधिवेशन हुआ। इसके कुछ दिन पहले ही दिल्ली के निकट वाइसराय की ट्रेन के नीचे बम रखकर उनके प्राण लेने का प्रयत्न किया गया। परन्तु सौभाग्यवश किसी को चोट नहीं आई। इस तरह अहिंसा-वादी भारत की लाज रह गई। कांग्रेस ने इस पर खेद प्रकट किया और वाइस-राय के प्रति सहानुभूति दिखलाई। गत कलकत्ता कांग्रेस के निर्णय के अनु-सार इसने निश्चित किया कि 'पूर्ण स्वराज्य' कांग्रेस का ध्येय है, जिसको प्राप्त करने के लिए सत्याग्रह प्रारम्भ करना चाहिए। कब और किस रूप में सत्याग्रह किया जाय इसके निर्णय का अधिकार अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (आल इंडिया कांग्रेस कमेटी) को दिया गया। साथ ही साथ यह भी निश्चित किया गया कि कौंसिलों के बहिष्कार से असहयोग फिर से प्रारम्भ किया जाय। अन्य दलों के साथ कांग्रेस की जो एकता हो रही थी वह इस निर्णय से नष्ट हो गई। लिबरलों ने कान्फरेंस के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और इसकी तैयारी के लिए फिर से एक सर्वदल सम्मेलन करना निश्चित

किया। उनका कहना है कि वाइसराय, भारतसचिव तथा मजदूर सरकार की कठिनाइयों का ध्यान रखते हुए उन पर विश्वास करके कान्फरेंस में शरीक होना चाहिए। पहले से शर्तें रखना ठीक नहीं है।

लाहोर कांग्रेस के आदेशानुसार ता० २६ जनवरी सन् १९३० को देश भर में 'पूर्ण स्वराज्य-दिवस' मनाया गया। इस दिन प्रायः सभी नगरों में सभाएँ की गईं, जिनमें एक प्रस्ताव पास किया गया। इसमें कहा गया कि "भारत की अँगरेज सरकार ने हिन्दुस्तानियों को न केवल उनकी स्वाधीनता से वंचित कर दिया है बल्कि वह जनता के शोषण के आधार पर ही बनी है और उसने हिन्दुस्तान को आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। इसलिए हिन्दुस्तान को अवश्य ब्रिटिश सम्बन्ध त्यागकर पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना चाहिए।" इसके अन्त में विश्वास दिलाया गया कि "यदि हम ब्रिटिश सरकार से सहयोग करना छोड़ दें और उत्तेजना का कारण उपस्थित होने पर भी उपद्रव न करें तो इस अमानुषिक शासन का अन्त निश्चित है।"

परिच्छेद १८

कला और साहित्य

ललित कलाएँ—भारत की मुख्य उपयोगी कलाओं का जिस तरह नाश हुआ, दिखलाया जा चुका है। ब्रिटिश सरकार की उदासीनता के कारण इस काल में ललित कलाओं की भी अवनति हो गई। मुगल बादशाहों की संरक्षकता में इन कलाओं की बड़ी उन्नति हुई थी। उनके पतन होने के थोड़े ही वर्षों बाद देश में ब्रिटिश सरकार का आधिपत्य हुआ, जिसने इनकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। ऐसी दशा में इन कलाओं ने देशी राज्यों में आश्रय लिया, परन्तु राजाओं का यूरोप जाना-आना प्रारम्भ हो जाने पर इनको प्राय वहाँ से भी हटना पड़ा। सस्ती और तड़क-भड़कवाली विलायती चीजों के भुलावे में जनता भी पड़ गई। इस तरह भारतीय ललित कलाओं के नष्ट होने की नौबत आ गई। परन्तु इतने ही में राष्ट्रीयता की जागृति आरम्भ हुई, जिसने इन कलाओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। भारत का शासन जब से ब्रिटिश राजाओं के अधीन हुआ, तब से सरकार ने भी इस ओर कुछ ध्यान दिया। कलकत्ता, बम्बई, मदरास तथा लाहौर में 'आर्ट्स स्कूल' (कलाविद्यालय) स्थापित किये गये। परन्तु इनमें बहुत दिनों तक भारतीय कलाओं के पुनरुद्धार का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। सरकारी प्रदर्शिनियों में विलायती चीजों की ही भरमार होती रही। अभी हाल तक विश्वविद्यालयों की पढ़ाई में कलाओं को कोई स्थान न था। जनता की इस ओर प्रवृत्ति देखकर सरकार को भी कुछ न कुछ करना पड़ता है, परन्तु अधिकांश विदेशी अफसर न भारतीय ललित कलाओं के सच्चे भावों को समझते हैं और न उनकी उन्नति के लिए कोई प्रयत्न ही करते हैं। इस तरह ये कलाएँ सरकारी संरक्षकता से, जो उनकी उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक है, वास्तव में वंचित ही हैं।

स्थापत्य—सुन्दर इमारतें बनाने की कला बड़े महत्त्व की है। इसमें कई एक मुख्य उपयोगी तथा ललित कलाओं का समावेश हो जाता है। भारत की यह कला किसी समय बड़ी उन्नत अवस्था में थी। प्राचीन तथा मुगल काल की सुन्दर इमारतों को देखकर अब भी लोग दंग रह जाते हैं। परन्तु ब्रिटिश काल में इसका भी ह्रास हो गया। पहले-पहल जो अँगरेज आये थे वे हिन्दुस्तानी ढंग की इमारतों में ही रहते थे। सूरत में उस समय के बने हुए अँगरेजों के मकबरे बिलकुल मुसलमानी ढंग के हैं। परन्तु जब अँगरेजों ने मदरास, कलकत्ता तथा बम्बई को बसाया, तब इनमें इंग्लैंड के तत्कालीन प्रचलित भद्दे ढंग की इमारतों का अनुकरण किया गया। कम्पनी के व्यापारियों को तब इसका कुछ भी ध्यान न था कि आगे चलकर देश पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। ब्रिटिश आधिपत्य के साथ साथ जब इन नगरों का राजनैतिक महत्त्व बढ़ गया, तब जनता तथा राजा-महाराजाओं की दृष्टि में यहाँ की इमारतें आदर्श बन गईं और इन्हीं की नकल होने लगी। सबसे पहले मुर्शिदाबाद तथा लखनऊ के नवाबों ने इस ढंग की इमारतें बनवाना प्रारम्भ किया। ऐसी इमारतों में रहना आधुनिक सभ्यता का चिह्न समझा जाने लगा और जगह जगह इनका प्रचार हो गया। 'मुहकमा तामीरात' (पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट) खोलकर सरकार ने सार्वजनिक इमारतों का ठेका अपने हाथ में ले लिया। यह विभाग अँगरेज इंजीनियरों को सौंपा गया, जिन्हें भारतीय स्थापत्य का कुछ भी ज्ञान न था। इंजीनियरिंग के कालेजों में भी इस भारतीय कला की पढ़ाई के लिए कोई प्रबन्ध न किया गया। उस समय के इंजीनियर भारत में भी कोई ऐसी कला है इसको मानने के लिए तैयार न थे। इस विभाग ने देशी स्थापत्य की परम्परा का बिना कुछ ध्यान किये हुए इमारतें बना डालीं। कलकत्ता आर्ट्स स्कूल के भूतपूर्व अध्यक्ष हैवेल के शब्दों में इसके बनाये हुए कालेज सिपाहियों की बैरक से जान पड़ते हैं।[1]

---

[1] हैवेल, एसेज आन इंडियन आर्ट, इंडस्ट्री ऐंड एजूकेशन।

इधर बहुत धन फूँककर कलकत्ता मे 'विक्टोरिया मेमोरियल हाल' (विक्टोरिया स्मारक भवन) बनाया गया है। लार्ड कर्ज़न इसको सुन्दरता
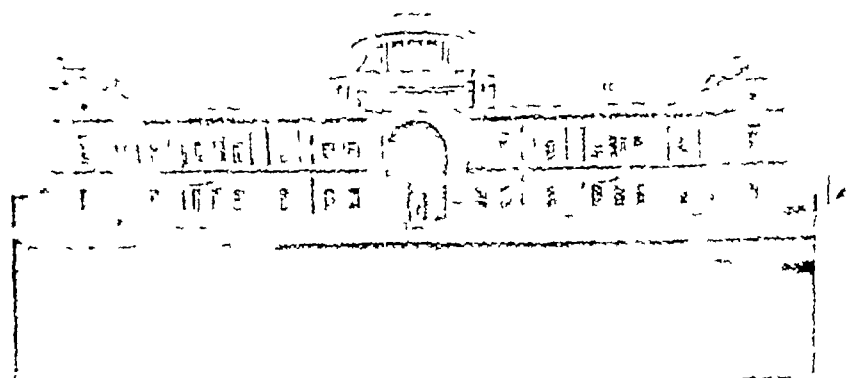
विक्टोरिया मेमोरियल हाल

मे 'ताज' के सदृश बनवाना चाहता था, परन्तु उसके साथ तुलना मे यह तुच्छ ज्ञात पडता है। जिस समय दिल्ली को फिर से राजधानी बनाने की घोषणा की गई, तब सबको यह आशा हुई कि इसकी नई इमारतो के बनाने मे हिन्दुस्तानी मिस्त्रियो को अपनी कारीगरी दिखलाने का अवसर दिया जायगा। परन्तु उनका निर्माण भी अँगरेज इजीनियरो को सौपा गया। इनके बनाने मे १८ करोड से अधिक रुपया फूँका गया, पर तब भी मुगल काल की इमारतो के सामने ये भद्दी जान पड़ती है। डाक्टर जेम्स कजिन्स की राय मे इनके बनाने मे मौलिकता तथा कल्पना से तो काम ही नहीं लिया गया है। सेक्रे-टेरियट के दफ्तर और कौंसिलभवन "कैदखाने" से जान पडते है। ये इमारतें अधिकतर 'इटालियन ढग' की बनाई गई है। कहीं कहीं जाली

छज्जा तथा छतरी देकर इनमें हिन्दुस्तानीपन लाने का प्रयत्न किया गया है। वाइसराय के भवन में, जो अभी बनकर तैयार हुआ है, इस ओर कुछ विशेष ध्यान दिया गया है।

फर्ग्युसन के शब्दों में भारत में यह कला अब भी जीवित है। उसका कहना है कि मैंने स्थापत्य के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जो कुछ हिन्दुस्तानी मिस्त्रियों से सीखा, उसका मुझे उस विषय की सब किताबें पढ़ जाने पर भी पता न चला था। बनारस के घाट, मथुरा के मन्दिर, जयपुर नगर तथा बहुत से रजवाड़ों की कई एक इमारतें ब्रिटिशकाल ही की बनी हुई है, जिनमें हिन्दुस्तानी मिस्त्रियों की कारीगरी का नमूना दिखलाई देता है। इस समय भी कहीं कहीं एक आध इमारत इस ढंग की बन जाती हैं। मजबूती में इनका मुकाबला करना सहज नहीं है। परन्तु सरकार, राजा, रईसों तथा अधिकांश जनता की उदासीनता के कारण यह कला धीरे धीरे नष्ट हो रही है। प्राय कहा जाता है कि यह आधुनिक आवश्यकताओं के उपयुक्त नहीं है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विदेशी कला के सिद्धान्तों को अपने ढंग पर ले आने का हिन्दुस्तानियों में सदा से एक बड़ा गुण रहा है। आजकल इमारत का खाका खींचनेवाले और उसके बनानेवाले भिन्न भिन्न होते हैं। परन्तु मध्यकालीन यूरोप की तरह भारत में ये दोनों काम मिस्त्री के ही हाथ में रहते थे। इस तरह हैवेल की राय में उसको इमारतों के बनाने में अपने भावों को प्रकट करने का अवसर मिलता था। परन्तु अब वह सुन्दर इमारतों की कल्पना करने के अयोग्य समझा जाता है और उसे केवल दूसरों के खींचे हुए नकशों के ढंग की इमारतें बनाने का काम दिया जाता है, जिनमें उसे अपनी कल्पना-शक्ति के दिखलाने का कोई अवसर प्राप्त नहीं होता।

चित्रकारी—सत्रहवीं शताब्दी में चित्रकारी के दो मुख्य ढंग थे, जो 'मुगल क़लम' और 'राजपूत या हिन्दू कलम' के नाम से प्रसिद्ध है। 'मुग़ल कलम' की उत्पत्ति अकबर के समय में हुई थी। इसमें प्रसिद्ध व्यक्तियों के छोटे छोटे चित्र, दरबार तथा शिकार के दृश्य और फूल-पत्ते तथा

पशु-पक्षियो की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। जहाँ तक सम्भव हो इनकी पूरी नक़ल करने का प्रयत्न किया जाता था। इस तरह इस कलम का मुख्य लक्षण 'स्वाभाविकता' था। मुग़ल साम्राज्य का पतन होने पर दिल्ली के बहुत से चित्रकार लखनऊ चले गये। कुछ लोग बिहार तथा बंगाल में भी आबाद हो गये। बहुत से अँगरेज इन चित्रकारों से अपने ढंग की तसवीरें बनवाने लगे, जिसका फल यह हुआ कि इन पर पाश्चात्य चित्रकारी का प्रभाव पड़ने लगा। इस समय के बने हुए लखनऊ के प्रायः सभी चित्र इसी मिश्रित ढंग के हैं। बंगाल और अवध की नवाबियों के अन्त के साथ इस कला का भी लोप हो गया।

मुग़ल कलम के साथ साथ उत्तरी भारत के हिन्दू राज्यों में एक दूसरी ही चित्रकला की उन्नति हो रही थी। इसका बहुत कुछ सम्बन्ध भारत की
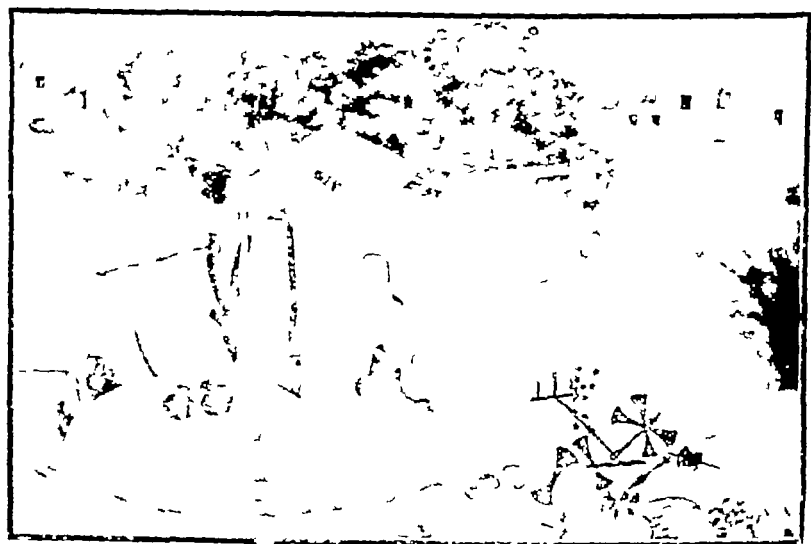
सुदामा की कुटी (राजपूत कलम)

प्राचीन चित्रकला से था। इसमें पौराणिक तथा जनसाधारण के जीवन के दृश्य दिखलाने का बड़ा प्रयत्न किया जाता था। इसका मुख्य केन्द्र जयपुर

था। यह 'राजस्थानी' या 'राजपूत क़लम' के नाम से प्रसिद्ध है।[1] मुगल दरबारों में भी इन चित्रों की माँग थी, इसलिए बहुत से चित्रकार दिल्ली, आगरा तथा लाहौर में आबाद हो गये थे। मुगलों का पतन होने पर इनको पंजाब की छोटी छोटी पहाड़ी राज्यों में आश्रय मिला। इनमें काँगड़ा इस चित्रकला का मुख्य केन्द्र हुआ। इस तरह 'काँगड़ा' या 'पहाड़ी कलम' का प्रचार हुआ। राजा संसारचन्द्र के समय में इसकी बड़ी उन्नति हुई। टिहरी (गढ़वाल) तथा बुँदेलखंड के राज्यों में भी इसका प्रचार हुआ। गढ़वाली चित्रकारों में मोलाराम, माणकू और चैतू का बड़ा नाम है। पहाड़ी चित्रकार राजाओं के छोटे छोटे चित्र भी बड़े सुन्दर बनाने लगे और उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के कई शहरों में उनकी माँग होने लगी। महाराजा रणजीतसिंह के दरबार में भी कई एक पहाड़ी चित्रकार रहते थे। इनमें कपूरसिंह बड़ा प्रसिद्ध था। पंजाब पर अँगरेजों का अधिकार हो जाने से इन लोगों का भी आश्रय जाता रहा। सन् १९०५ के भीषण भूकम्प ने तो काँगड़ा नगर और वहाँ के बचे-खुचे चित्रकारों का अन्त ही कर दिया।

दक्षिण में हैदराबाद मुसलमान चित्रकारों का केन्द्र था। तंजोर और मैसूर में हिन्दू चित्रकारों को आश्रय मिलता था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में उत्तरी भारत के कई एक चित्रकार तंजोर के राजा सरफोजी के दरबार में पहुँच गये थे। तंजोर के अन्तिम राजा शिवाजी के समय (१८३३-५६) में इन चित्रकारों के १८ घराने थे। ये लोग हाथीदाँत और लकड़ी पर भी काम करते थे। इनके बनाये हुए राजाओं के पूरे कद के तैलचित्र तंजोर के दरबार-भवन में इस समय भी देखने को मिलते हैं। मैसूर में राजा कृष्णराज वाडयार के समय में इस कला की अच्छी उन्नति

---

[1] डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने इसको 'राजपूत क़लम' का नाम दिया है, परन्तु श्री नानालाल चमनलाल मेहता की राय में इसको 'हिन्दू क़लम' कहना ठीक है। स्टडीज इन इंडियन पेंटिंग, पृ० ५।

हुई। सन् १८३८ के बाद से वहाँ भी इसका लोप हो गया।[1] लन्दन के 'ब्रिटिश म्युजियम' और बोस्टन में भारत के प्राचीन चित्रों के सबसे बड़े संग्रह है। भारत में भी इनके संग्रह करने की ओर कुछ ध्यान दिया जा रहा है।

बंगाल में श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा उनके कुछ साथियों की अध्यक्षता में इस कला के प्राचीन सिद्धान्तों को फिर से काम में लाने का प्रयत्न हो रहा है। इनकी राय में भारत की इस कला पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ना ठीक नहीं है। इसके प्रतिकूल कुछ लोगों का मत है कि विदेशी चित्रकारी के सिद्धान्तों को भी अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी दृष्टि से कई एक चित्रकार विलायती तैल तथा जलचित्रों की ओर विशेष ध्यान दे रहे हैं।

संगीत—मुहम्मदशाह (१७१६) अन्तिम मुगल बादशाह था, जिसके दरबार में गवैयों का मान होता था। अादरंग और सादरंग की वीणा प्रसिद्ध थी। इन्हीं दिनों शोरी ने हिन्दुस्तानी गाने में 'टप्पे' का बड़ा प्रचार किया। मुगल साम्राज्य का पतन होने पर यह कला भी देशी नरेशों के दरबारों में रह गई। अँगरेज तो बहुत दिनों तक हिन्दुस्तानी गाने को बिलकुल जंगली गाना ही समझते रहे। उनमें पहले-पहल सर विलियम जोन्स, विलियम आसले, कप्तान डे और विलर्ड ने इसकी खूबियों को समझा। सन् १८१३ में पटना के रईस मुहम्मदरिजा ने 'नगमाते आसफी' लिखा, जिसका उत्तरी भारत के संगीत पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसके रागलक्षणों का हिन्दुस्तानी गाने में बहुत प्रचार है। इन्हीं दिनों जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह ने एक 'संगीत सम्मेलन' किया, जिसके प्रयत्न से 'संगीतसार' की रचना हुई। सन् १८४२ में कृष्णानन्द व्यास ने कलकत्ते से 'संगीतरागकल्पद्रुम' नामक हिन्दी गीतों का एक अच्छा संग्रह प्रकाशित करवाया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में सर सुरीन्द्रमोहन ठाकुर ने संगीत का बृहत् इतिहास तथा अन्य कई एक उपयोगी पुस्तकें निकालीं।

---

[1] ब्राउन, इण्डियन पेंटिंग (हेरिटेज ऑफ इण्डिया सिरीज)।

दक्षिण में तंजोर के राजा तुलजाजी (१७६३-१७८७) का दरबार गवैयों का केन्द्र था। स्वयं तुलजाजी को संगीत में बड़ी योग्यता थी। उसका 'संगीत-सारामृतम्' नामक ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध है। त्यागराज (१८००-१८५०) तंजोर ही का रहनेवाला था, जिसके कीर्तनों का दक्षिण में बहुत प्रचार है। पट्नाल गोविन्द का भी दक्षिण में बड़ा नाम है। कोचिन और त्रावणकोर के राजाओं की संगीत में बड़ी रुचि थी। पेरुमाल महाराज की रचनाएँ संस्कृत, तामिल, तेलुगू, मलयालम, मराठी और हिन्दुस्तानी में भी मिलती हैं।[1]

पिछले बीस-पचीस वर्षों में संगीत की ओर विशेष ध्यान दिया गया। मुख्य मुख्य नगरों में 'संगीत-समाज' स्थापित हो गये। सन् १९१६ में महाराजा बड़ोदा की अध्यक्षता में 'अखिल भारतीय संगीत-सम्मेलन' हुआ। सन् १९१९ में 'अखिल भारतीय संगीत-परिषद' (आल इंडिया म्युजिक एकेडेमी) की स्थापना हुई। सन् १९२७ में प्रान्तीय सरकार की ओर से लखनऊ में 'मैरिस संगीत-विद्यालय' खोला गया। अब बहुत से स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में संगीत की शिक्षा का प्रबन्ध हो गया है। नाट्यकला में 'यात्राओं' तथा 'रास-मंडलियों' का स्थान थियटरों ने लिया। पारसी कम्पनियों में बहुत दिनों तक पाश्चात्य थियटरों की भद्दी नकल की गई। पर शिक्षा के साथ साथ जनता की रुचि में परिवर्तन हुआ और इस कला के सुधार का भी प्रयत्न होने लगा। बंगाल तथा महाराष्ट्र ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। थोड़े दिनों से व्यवसायी नाटक कम्पनियों के खेलों में भी कुछ सुधार हो रहा है, पर वास्तव में इस समय तक भारत में राष्ट्रीय रंगमंच का अभाव ही है।

साहित्य—देश के साहित्य की उन्नति की ओर ब्रिटिश सरकार केवल उदासीन ही नहीं रही, बल्कि अँगरेजी भाषा का प्रचार करके उसने उसके मार्ग में रुकावटें डालीं। परन्तु जनता उसको भूल न सकी। इस काल में संस्कृत साहित्य की कोई वृद्धि नहीं हुई पर उसका पुनरुद्धार अवश्य हुआ।

---

१ पॉपले, म्युजिक ऑफ इंडिया, पृ० २०-२३।

बौद्धकाल के बाद से भारतीय विचारो का अन्य देशो मे प्रचार बन्द ही सा हो गया था, पर यूरोप के साथ सम्बन्ध हो जाने से यह सिलसिला फिर जारी हो गया। यूरोप के, खासकर जर्मनी के, कई एक विद्वानो ने संस्कृत के सभी विषयो का अध्ययन प्रारम्भ किया। बडे बडे शहरों मे इसके लिए समितियां स्थापित हो गई और विश्वविद्यालयों की पढाई मे सस्कृत को स्थान दिया गया। सभी विषयों के संस्कृत ग्रन्थो के अनुवाद और उनकी विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। मैक्समूलर ऐसे विद्वानो का भारत सदा कृतज्ञ रहेगा। भारत मे भी नये ढंग पर सस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ हो गया। मसूर, त्रावणकोर, बडौदा तथा काश्मीर दरबारों की ओर से वहाँ के पुस्तकालयों के हस्तलिखित ग्रन्थ विद्वानो द्वारा सम्पादित करवाकर प्रकाशित किये जाने लगे। काशी, कलकत्ता, पूना तथा अन्य स्थानो मे भी इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ काम हो रहा है और प्रति वर्ष बहुत से अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हो जाते है।

ब्रिटिश काल सबसे अधिक देश की आधुनिक भाषाओं की उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। प्राय इन सभी भाषाओ मे गद्य की रचना इसी काल मे प्रारम्भ हुई। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का भी बहुत कुछ प्रभाव पडा और इन भाषाओं के साहित्य को देश-काल के अनुसार बनाने का प्रयत्न किया गया। छापेखाने का साधन मिल जाने से इनकी उन्नति मे बडी सुगमता हो गई। पत्र-पत्रिकाओं का एक नया मार्ग खुल गया। प्राय सभी विषयो पर अब इन भाषाओं मे पुस्तकें प्रकाशित हो रही है।

हिन्दी—भारत में अँगरेजी राज्य के आरम्भकाल मे हिन्दी साहित्य के आधुनिक अभ्युदय का आरम्भ होता है। यो तो हिन्दी गद्य के कुछ नमूने व्रज भाषा के एक आध प्राचीन ग्रन्थो मे भी मिलते हैं, पर सबसे पुराना आधुनिक हिन्दी गद्य का जो मुख्य ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, वह मुशी सदासुखलाल का किया हुआ भागवत का स्वच्छन्द अनुवाद 'सुखसागर' है। इसमें पडितो तथा साधु-सन्तो मे प्रचलित भाषा के शब्दो का ही अधिक प्रयोग किया गया है। इसके अनन्तर मुशी इशाउल्लाखा ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इसमे "हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले" इसका उन्होंने बडा

प्रयत्न किया। इसकी भाषा सरल और सुन्दर है, पर पद्यो की रचना उर्दू ढग की है। इसी लिए कुछ लोग इसे हिन्दी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते है। सन् १८०० के लगभग कलकत्ते में हिन्दी गद्य के कुछ ग्रन्थो का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जिसमे श्रीरामपुर के मिश्नरियो ने भी योग दिया। डाक्टर गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में 'फोर्ट विलियम कालेज' मे भी इस सम्बन्ध में कुछ काम हुआ। यहाँ के लल्लूलालजी ने 'प्रेमसागर' की रचना की और सदल मिश्र ने 'नसिकेतोपाख्यान' लिखा। इनमे लल्लूलालजी की अपेक्षा सदल मिश्र की भाषा अधिक पुष्ट और सुन्दर है, पर एक में ब्रजभाषा का और दूसरे में पूर्वी भाषा का पुट स्पष्ट देख पडता है।

उत्तर भारत में अँगरेजी राज्य के स्थापित होने पर यहाँ की दरबारी भाषा के स्थान पर राज-काज की भाषा उर्दू मानी गई। मुसलमान हिन्दी को कोई भाषा मानने के लिए तैयार न थे। उनका कहना था कि जब राज-काज की भाषा उर्दू है, तब उसी में सब प्रकार की शिक्षा होनी चाहिए। राजा शिवप्रसाद ने इस मत का विरोध किया और उद्योग करके हिन्दी की पढाई को भी शिक्षाक्रम में स्वीकार कराया। पर साथ ही साथ समय की प्रगति के अनुकूल ऐसी भाषा का स्वरूप खडा किया जो देवनागरी और फारसी अक्षरों में सुगमता से लिखी जा सके। इस भाषा में प्राय फारसी शब्दो की अधिकता होती थी। राजा लक्ष्मणसिह तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस मत के विरोधी थे और भारतीय संस्कृति की परम्परा से अपने को अलग करने के लिए तयार न थे। उन्होंने हिन्दी को ऐसा रूप दिया जिसमें स्वदेशी शब्दो की अधिकता थी। शब्दो की इस विभिन्नता को छोड़कर हिन्दी और उर्दू के ढाँचे मे उस समय कोई अन्तर न था। पीछे चलकर उर्दू फारसी की ओर अधिक झुकी और हिन्दी ने संस्कृत का आश्रय लिया।[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव हिन्दी भाषा और साहित्य दोनो पर बडा गहरा पड़ा। उन्होंने भाषा को "चलता, मधुर और स्वच्छ" बना दिया। वास्तव में वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक है। साथ ही साथ उन्होंने

१ श्यामसुन्दरदास, हिन्दी भाषा और साहित्य।

साहित्य को भी नवीन मार्ग दिखलाया। नई शिक्षा के प्रभाव से देश की विचारधारा में बड़ा परिवर्तन हो रहा था। समाज-सुधार तथा देशभक्ति की नई उमगें उठ रही थीं। उन्होंने साहित्य को देश-काल के अनुकूल बना दिया। बगाल की नवीन साहित्यिक प्रगति का भी उन पर प्रभाव पड़ा और उन्होंने हिन्दी साहित्य की भी उसी ढंग पर उन्नति करने का प्रयत्न किया। उनके जीवनकाल में ही पंडित बद्रीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, बाल-कृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास और लाला श्रीनिवासदास ऐसे लेखकों और कवियों का एक मंडल तैयार हो गया, जो उनके अस्त हो जाने पर भी हिन्दी साहित्य के इस नये विकास में, बहुत कुछ काम करता रहा। अनेक प्रकार के गद्य, प्रबन्ध, नाटक, उपन्यास आदि इन लेखकों की लेखनी से निकलते रहे।[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

ब्रिटिश काल के प्रारम्भ में प्राचीन शैली के भी कई एक प्रसिद्ध कवि हुए। इनमें पद्माकर भट्ट का नाम मुख्य है। मराठा तथा राजपूत दरबारों में इनका बड़ा मान था। 'रीतिकाल' के कवियों में इनका स्थान 'सर्वश्रेष्ठ' माना गया है। अलीमुहिब खाँ (प्रीतम) और सैयद गुलामनबी (रसलीन) ऐसे मुसलमान भी इन दिनों हिन्दी में कविता करते थे। गद्य के विकासकाल में भी कविता की प्राचीन परम्परा बहुत दिनों तक चलती रही, परन्तु भारतेन्दु के समय

१ रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास।

से इसकी धारा ने भी एक नया रंग धारण किया। केवल भक्ति और शृंगार रस से हटकर इसका सम्बन्ध प्रतिदिन के जीवन से हो गया। भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों ने देशकाल के अनुकूल नये नये विषयों की ओर ध्यान दिया, पर उन्होंने व्रजभाषा की परम्परा को नहीं छोड़ा। उनकी कविताएँ व्रजभाषा में प्रचलित छन्दों में ही हुआ करती थीं। भारतेन्दुजी के न रहने के कुछ ही दिनों बाद इस सम्बन्ध में भी नये विचार उत्पन्न हुए। गद्य एक भाषा में लिखा जाय और पद्य दूसरी भाषा में यह बात खटकने लगी। इसका फल यह हुआ कि खड़ी बोली में भी कविता होने लगी। यह प्रवृत्ति दिनों दिन बढ़ रही है। कुछ दिनों से अन्त्यानुप्रास-रहित अथवा अतुकान्त कविता की भी चाल चल पड़ी।

सन् १८०२ में 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई, तब से हिन्दी की उन्नति के लिए संगठित रूप से काम होने लगा। नाटक, उपन्यास, इतिहास, निबन्ध, समालोचना तथा वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें और सुन्दर पत्र-पत्रिकाएँ बड़ी संख्या में प्रकाशित होने लगीं। कुछ दिनों तक तो अनुवादों की भरमार रही पर अब उच्च कोटि के मौलिक ग्रन्थ भी निकलने लगे हैं। विश्वविद्यालयों की ऊँची से ऊँची परीक्षाओं में भी हिन्दी को स्थान मिल गया है। जब से महात्मा गान्धी ने इन्दौर में 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' के सभापति का आसन ग्रहण किया, तब से उस संस्था द्वारा आसाम और मदरास ऐसे प्रान्तों में भी हिन्दी के प्रचार का प्रबन्ध हो रहा है, जिसकी सफलता से आशा होती है कि किसी दिन हिन्दी भिन्न प्रान्तों के परस्पर व्यवहार की भाषा होकर राष्ट्रभाषा के पद पर सुशोभित होगी।

उर्दू—जो बात संस्कृत के सम्बन्ध में कही गई है वही अरबी तथा फारसी के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इन भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों के अच्छे अच्छे संस्करण भारत में प्रकाशित होने लगे, जिनका प्रचार अफगानिस्तान, ईरान तथा अन्य मुसलमानी राज्यों में हो रहा है। 'मदरसतुल आलिया' कलकत्ता, 'दारुलउलूम' देवबन्द (सहारनपुर) और 'नदवतुल उलमा' लखनऊ ऐसे विद्यालयों में अरबी तथा फारसी के अध्ययन का अच्छा

प्रबन्ध है। इनमें भारत से बाहर के भी छात्र शिक्षा पाते हैं। परन्तु ब्रिटिशकाल उर्दू की उन्नति के लिए ही प्रसिद्ध है। इसके कवियो का मुख्य केन्द्र दिल्ली था। मुगल बादशाहो की अवनत अवस्था मे भी दर्द, सोज और सौदा ऐसे कवियो ने कुछ काल तक उनके दरबार मे अपनी सुन्दर रचनाओ द्वारा बड़ी कीर्ति प्राप्त की। दर्द ने उर्दू कविता को 'भाषा दोहरों' के प्रभाव से मुक्त किया और अपने उच्च सूफ़ी विचारो से इसको गम्भीर बना दिया। सोज ने गजलो में अच्छा नाम पैदा किया। सौदा ने भी हिन्दी शब्दो की बड़ी काट-छाँट की, पर उसने हिन्दी साहित्य से उर्दू का नाता एकदम तोड़ नही दिया। उसकी रचनाओं मे कहीं कहीं अर्जुन की वीरता और कृष्ण की लीलाओं का भी उल्लेख मिलता है। उर्दू काव्य मे उसने 'कसीदा' और हास्यरस की रचनाओं का प्रचार किया। मीरतकी की भी प्रसिद्धि पहले-पहल दिल्ली ही में हुई। उर्दू गजलो का यह 'शेख सादी' माना जाता है। इंशा को उर्दू तथा हिन्दी दोनो में कविता का अभ्यास था। अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह (जफर) स्वय एक अच्छा कवि था। उसके समय मे गालिब और जौक़ ऐसे कवियो से दिल्ली दरबार साहित्य की दृष्टि से अन्तिम बार जगमगा उठा। जोक ने उर्दू भाषा को स्वच्छ बनाया और कसीदा तथा गजल मे अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की। गालिब बडे उच्च कोटि का विद्वान् और कवि था। वह फारसी तथा उर्दू दोनो मे कविता करता था। उसकी रचनाएँ उच्च विचारो से पूर्ण तथा मौलिक है। कहीं कहीं उनमे हास्यरस का भी आनन्द आ जाता है। उर्दू के गद्य और पद्य दोनो मे उसको उच्च स्थान प्राप्त है।

मुगल बादशाहों की दशा बिगडने पर दिल्ली के बहुत से कवियो ने लखनऊ के नवाबो के यहां आश्रय लिया। आगे चलकर यहाँ नासिख और आतिश ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। लखनऊ मे 'मर्सियो' का बडा प्रचार हुआ। इनमें कहीं कहीं बडे मर्मस्पर्शी भाव प्रकट किये गये है। उर्दू साहित्य को गन्दा करनेवाली 'रेखती' कविता का प्रचार लखनऊ के व्यसनी दरबार में ही अधिक हुआ। अवध के अन्तिम बादशाह वाजिदअली (अख्तर) को भी

कविता का बड़ा शौक़ था। लखनऊ के बाद उत्तरी भारत में उर्दू के कवियों का रामपुर केन्द्र बन गया। अँगरेजी शिक्षा का काफ़ी प्रभाव पड़ने पर उर्दू कविता की गति-विधि भी बदलने लगी। केवल शृंगाररस को छोड़कर इसका भी प्रवाह समाज और देश की ओर हो गया। आजाद और हाली के साथ उर्दू साहित्य में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। कवियों की प्रवृत्ति नये विषयों की ओर हुई और गजलों का स्थान 'मुसद्दस' तथा 'मसनवियों' ने लिया।[1]

उर्दू गद्य की उन्नति पहले-पहल कलकत्ता के 'फोर्ट विलियम कालेज' में हुई। डाक्टर गिलक्राइस्ट ने कई एक योग्य विद्वानों को एकत्र करके कुछ पुस्तकें लिखवाईं। सन् १८३५ से अदालती भाषा हो जाने के कारण उत्तरी भारत में उर्दू का बड़ा प्रचार हो गया। बाद में लखनऊ से भी गद्य-साहित्य निकलना प्रारम्भ हो गया। इसमें मिर्जा रजबअली बेग ने अच्छा नाम पैदा किया। आजाद और गालिब ने भी गद्य की उन्नति में भाग लिया। सर सैयदअहमद ने अखबारी भाषा का प्रचार किया। आजकल अलीगढ, भूपाल और हैदराबाद उर्दू साहित्य के मुख्य केन्द्र हैं। अलीगढ़ में 'मुसलिम विश्वविद्यालय' स्थापित हो जाने से इस ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। हैदराबाद के 'उस्मानियाँ यूनिवर्सिटी' में उर्दू ही शिक्षा का माध्यम है। औरंगाबाद में 'अंजुमन तरक्की उर्दू' अच्छा साहित्य प्रकाशित कर रही है। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि पहले हिन्दी और उर्दू में कोई विशेष भेद न था, परन्तु कुछ काल से दोनों में बड़ा भेद हो गया। अब थोड़े दिनों से दोनों के क्लिष्ट शब्दों को निकालकर साधारण बोलचाल की 'हिन्दुस्तानी' भाषा के प्रचार का प्रयत्न हो रहा है। इलाहाबाद में प्रान्तीय सरकार द्वारा स्थापित 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' इस ओर विशेष ध्यान दे रही है।

बँगला—सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से बँगला में संस्कृत शब्दों का अधिकता से प्रयोग होने लगा। इसी समय में अलाउल नाम के एक मुसलमान

[1] रामबाबू सक्सेना, ए हिस्ट्री ऑफ़ उर्दू लिटरेचर।

ने हिन्दी 'पद्मावत' का अनुवाद किया, जिसमे संस्कृत शब्दो की भरमार है। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ मे पश्चिमी बंगाल मे नवद्वीप के राजा कृष्णचन्द्र का दरबार बंगला के कवियो का मुख्य केन्द्र था। इनमे रामप्रसाद और 'अन्नदामगल' तथा 'विद्यासुन्दर' के रचयिता भारतचन्द्र राय गुणाकर मुख्य थे। भारतचन्द्र की रचनाओ मे संस्कृत शब्दो तथा छन्दो का प्रयोग बड़ी स्वतन्त्रता के साथ किया गया है। पूर्वीय बगाल मे इन्ही दिनो विक्रमपुर के राजा राजवल्लभ के दरबार मे जयनारायण सेन तथा उनकी भतीजी आनन्दमयी का बड़ा नाम था। बगाल के गाँवो मे भी कीर्तन, यात्रा तथा 'कवि-वालाओ' द्वारा ग्राम्य साहित्य की उन्नति होती रही। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे चन्द्रनगर मे ऐंटनी नाम का एक पुर्तगाली बड़ा प्रसिद्ध 'कवि-वाला' था। इन्हीं दिनो करमअली, अलीराज तथा अन्य कई मुसलमानो ने भी सुन्दर गीतो की रचना की।[1]

बँगला गद्य के कुछ नमूने 'शून्यपुराण' और न्याय तथा स्मृति-सम्बन्धी ग्रन्थो मे अवश्य मिलते है, पर वास्तव मे इसका विकास अँगरेजो के आने के बाद से आरम्भ हुआ। श्रीरामपुर के मिशनरियो ने इसकी उन्नति मे बड़ा योग दिया। डाक्टर कैरी तथा मैसी हालहेड ने कई एक पुस्तके निकालीं। सर चार्ल्स विलकिंस ने बँगला अक्षरो के छापने का प्रयत्न किया। 'फोर्ट विलियम कालेज' मे पढाई के लिए प्राय सभी विषयो पर बँगला पुस्तके लिखी गई। हिन्दी, उर्दू तथा बँगला के गद्य-साहित्य की उन्नति मे इस कालेज की उपयोगिता अवश्य स्वीकार करनी पडेगी। 'प्रबोधचन्द्रिका' के रचयिता मृत्युंजय तथा रामराम वसु इस कालेज के मुख्य बँगला अध्यापक थे। इन दिनो गद्य की जो पुस्तके प्रकाशित हुईं, वे साधारण शिक्षा की दृष्टि से लिखी गई थीं, उनकी गणना उच्च साहित्य मे नहीं की जा सकती। इसका प्रारम्भ वास्तव मे राजा राममोहन राय ने किया। परन्तु उनकी भाषा मे फारसी शब्दो की अधिकता रहती थी। पडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इसको संस्कृत

---

[1] दिनेशचन्द्र सेन, हिस्ट्री ऑफ बगाली लैंग्वेज एंड लिटरेचर।

का आश्रय देकर आधुनिक स्वरूप दिया। इतने दिनो में अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से आचार-विचारो में बड़ा परिवर्तन हो गया। समाज-सुधार तथा स्वदेश-भक्ति ने जोर पकड़ा, जिसके साथ साथ साहित्य ने भी राष्ट्रीयता के क्षेत्र में पैर रखा।

'आनन्दमठ' के रचयिता श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के समय से बँगला साहित्य का नया युग प्रारम्भ हुआ। उन्होंने तत्कालीन भाषा के भद्देपन को दूर करके उसे स्वच्छ और उच्च विचारो के प्रकट करने योग्य बनाया। उनके ग्रन्थो का प्राय सभी हिन्दुस्तानी भाषाओं में अनुवाद हो गया है। पद्य में श्री माइकेल मधुसूदन दत्त ने अतुकान्त कविता का प्रचार किया इनका 'मेघनादवध' बड़ा प्रसिद्ध काव्य है। बाद में हेमचन्द्र, नवीन सेन, रंगलाल तथा कामिनी राय की रचनाओं का बड़ा आदर हुआ। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्धि तो भारत के बाहर भी फैल गई है। उनके मुख्य मुख्य ग्रन्थो का कई विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो गया है। साहित्य में इन्हें विख्यात 'नोबेल पुरस्कार' भी मिला है। नाटकलेखकों में श्री द्विजेन्द्रलाल राय का बड़ा नाम है। विज्ञान तथा दर्शन के उच्च और सूक्ष्म विचारों को सुन्दर तथा सरल भाषा में प्रकट करने का यश श्री रामेन्द्र-सुन्दर त्रिवेदी को प्राप्त है। उपन्यास तथा गल्प लिखने में बगालियो को अच्छी सफलता हुई है। देशी भाषाओं में बँगला ने बड़ी उन्नति की है। इसका साहित्य बहुत कुछ मौलिक है। सुसम्पादित पत्र-पत्रिकाओं तथा उच्च कोटि के ग्रन्थो द्वारा इसकी बराबर उन्नति हो रही है।
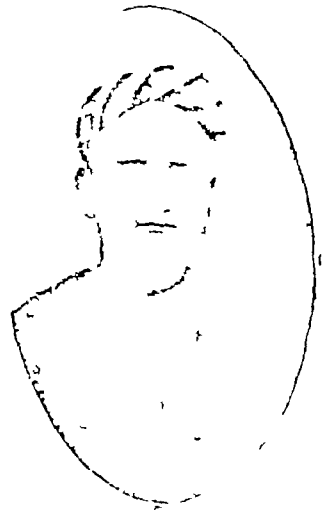
बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

मराठी—अठारहवीं शताब्दी के मराठी साहित्य में मोरोपन्त का नाम सबसे विख्यात है। इनकी रचनाओं में संस्कृत शब्दो का प्रयोग अधिकता

से मिलता है। काव्य की दृष्टि से वे उच्चकोटि की भले ही न मानी जायँ पर वे उच्च विचारों से पूर्ण हैं। मराठी की गणना उन इनी-गिनी भाषाओं में है जिनका बाल्यकाल पद्य में नहीं बल्कि गद्य में प्रारम्भ हुआ। सतारा के राजा प्रतापसिंह के समय तक मल्हार रामराव तथा अन्य लेखकों ने मराठी गद्य साहित्य की परम्परा को जारी रखा। परन्तु अँगरेज पादरियों ने कुछ कोष, व्याकरण तथा साधारण अँगरेजी पुस्तकों के अनुवाद निकाले, जिनमें मराठी साहित्य अपनी प्राचीन परम्परा से बहुत कुछ अलग हो गया। सरकारी अफसरों ने प्राय इस ढंग के साहित्य को आश्रय दिया। श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने 'निबन्धमाला' में बड़े जोरों के साथ मराठी के इस 'अँगरेजी अवतार' की खबर ली और उसके साहित्य को नष्ट भ्रष्ट होने से बचाया। इस समय से वास्तव में मराठी साहित्य का नवीन युग प्रारम्भ हुआ।

नाटक लिखने में पहले विष्णु भावे तथा अण्णा किर्लोस्कर और बाद में कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर, वासुदेवशास्त्री खरे तथा राम गणेश गडकरी ने बड़ी सफलता प्राप्त की। केशवसुत, त्र्यम्बक बापूजी ठोमरे (बालकवि) और नासिक के गोविन्द ने कविता को उच्च कोटि पर पहुँचा दिया। ऐतिहासिक साहित्य में विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे तथा वासुदेवशास्त्री खरे ने बड़ा काम किया। उपन्यासलेखकों में हरिनारायण आपटे तथा नाथमाधव का नाम बहुत प्रसिद्ध है। आपटे के कई एक ऐतहासिक उपन्यासों का हिन्दी में भी अनुवाद हो गया है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का 'गीतारहस्य' चिरस्मरणीय रहेगा। मराठी साहित्य में इसकी गणना 'ज्ञानेश्वरी' तथा 'दासबोध' के साथ की जा सकती है। बँगला की तरह मराठी की भी इस तरफ बड़ी उन्नति हुई। इसका भी आधुनिक साहित्य बहुत कुछ मौलिक है।

गुजराती—अनिश्चित राजनैतिक परिस्थिति के कारण अठारहवीं शताब्दी में गुजराती साहित्य की विशेष उन्नति नहीं हुई। इस काल में कई एक भक्त कवि अवश्य हुए, पर उनकी रचनाओं में अधिकतर 'साम्प्रदायिकता' टपकती है। दयाराम प्राचीन शैली के अन्तिम प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। गुजराती के अतिरिक्त उनकी रचनाएँ व्रजभाषा, मराठी, संस्कृत तथा

उर्दू में भी मिलती है। गुजरात मे उनकी 'गरवी' तथा पदों के गाने की बड़ी चाल है। उनकी भाषा सरल, स्वच्छ तथा भावमयी है। अँगरेजी शिक्षा के साथ आधुनिक गुजराती साहित्य का भी प्रारम्भ हुआ। पहले पढ़ाने के काम की कुछ साधारण पुस्तकें लिखी गईं, पर जब से सन् १८४८ में फोर्ब्स ने 'गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी' स्थापित की तब से गुजराती साहित्य की उन्नति के लिए संगठित रूप से प्रयत्न होने लगा। दलपतराम और नर्मदाशंकर के साथ आधुनिक साहित्य का युग प्रारम्भ हुआ। इन दोनो ने समाज-सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया। नवलराम के शब्दों में दलपतराम की कविताएँ 'चतुराईपूर्ण' तथा 'सभारजिनी' है। इनकी भाषा बड़ी सरल तथा सुन्दर है। नर्मदाशंकर की भाषा बडी जोरदार है, पर कहीं कहीं 'बजारू' शब्दो से मिश्रित है। प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन मे उनके उच्च भाव और कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। गुजराती साहित्य की उन्नति मे पारसियो ने भी भाग लिया। फर्दूनजी मर्जबानजी ने बम्बई में पहला गुजराती छापाखाना स्थापित किया। कहा जाता है कि गुजराती मे अतुकान्त कविता का एक पारसी ने ही पहलेपहल प्रचार किया।

सनद तथा फरमानों और कुछ नीति-सम्बन्धी ग्रन्थों में गुजराती गद्य का प्रयोग अवश्य मिलता है, पर इसका विकास वास्तव मे ब्रिटिश काल के प्रारम्भ में ही हुआ। कुछ पादरियो न इसमें बाइबिल के अनुवाद करने का प्रयत्न किया। बाद मे रणछोड़दास गिरधर भाई ऐसे लोगों ने इसमे प्रारम्भिक शिक्षा योग्य पुस्तको के लिखवाने की ओर ध्यान दिया। पर आधुनिक गद्य के प्रवर्तक वास्तव मे नर्मदाशंकर ही है। उनका 'राज्यरंग' इतिहास तथा साहित्य की दृष्टि से उच्च कोटि का ग्रन्थ है। उनके बाद नवलराम गद्य के सबसे अच्छे लेखक माने जाते है। आलोचना उनका मुख्य विषय था। यो तो नाटक लिखने का प्रारम्भ दलपतराम से ही हो गया था पर इसके उच्च श्रेणी पर पहुँचने का यश रणछोडभाई उदयराम को प्राप्त है। राव-बहादुर नन्दशंकर तुलजाशंकर ने 'करणघेलो' नामक आधुनिक ढंग का पहला उपन्यास लिखा। गोवर्धनराम त्रिपाठी का 'सरस्वतीचन्द्र' गुज-

राती में बड़ा प्रसिद्ध उपन्यास है। इसका कई एक भाषाओं में अनुवाद हो गया है।[1]

तामिल-तेलुगू—इन दोनों भाषाओं की गणना प्राचीन भाषाओं में है। पर इनके भी गद्य का विकास ब्रिटिश काल ही में हुआ। तामिल साहित्य का आधुनिक काल पन्द्रहवीं शताब्दी से माना जाता है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में परणज्योति मुनि, शिवप्रकाश स्वामी, त्रिकुट-राजप्पा तथा एलप्पा नावलर प्रसिद्ध कवि हुए। प्राचीन ग्रन्थों की टीकाओं तथा कुछ जैन ग्रन्थों में तामिल के प्राचीन गद्य का नमूना मिलता है। परन्तु आधुनिक गद्य का लिखना वीर्मे मुनि तथा अरुमुग नावलर ने ही प्रारम्भ किया। वैज्ञानिक साहित्य में सूर्यनारायण शास्त्री ने अच्छी सफलता प्राप्त की। गद्य साहित्य में शेल्वकेशवराय मुदली का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। महामहोपाध्याय स्वामीनाथ शास्त्री ने कई एक प्राचीन ग्रन्थों का सरल भाषा में अनुवाद किया है। तेलुगू में 'नीतिचन्द्रिका' के रचयिता चिन्नयसूरि की लेखनशैली बड़ी उच्च कोटि की मानी जाती है। तेलुगू साहित्य को देशकाल के अनुसार बनाने का यश वीरेशलिंगम् को प्राप्त है। सभी विषयों पर उन्होंने कुछ न कुछ लिखा है। नाटक लिखने में लक्ष्मीनरसिंहम् तथा सुब्बारायडू और वेंकटेश्वर क्वुलु के नाम प्रसिद्ध हैं। 'आन्ध्र साहित्य-परिषत्' की ओर से तेलुगू की उन्नति के लिए बहुत कुछ काम हो रहा है।

विज्ञान—ज्योतिष तथा गणित में तो कुछ काम होता रहा पर भौतिक विज्ञान को भारत हज़ारों वर्ष से भूला हुआ था। ब्रिटिश काल में वैज्ञानिक शिक्षा का कुछ प्रबन्ध हो जाने का फल यह हुआ कि इस ओर फिर ध्यान आकर्षित हो गया। हज़ारों वर्ष पूर्व ऋषियों ने यह बतलाया था कि वृक्षों में भी जीव है और उन्हें भी सुख दुख का अनुभव होता है। अपने सूक्ष्म यंत्रों द्वारा सर जगदीशचन्द्र बोस ने इसको प्रत्यक्ष दिखला दिया। भारत के अन्य कई एक विद्वानों ने भी अपनी वैज्ञानिक योग्यता का परिचय दिया है। पाश्चात्य

---

१ कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी, माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर, २ भाग।

विज्ञान की सहायता से देश को किस तरह सुसम्पन्न बनाया जाय, इस ओर ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है। गणित मे अब भी भारत का नम्बर बढा हुआ है। साधारण शिक्षा होते हुए भी हाल ही मे मदरास के स्वर्गीय श्री रामानुजम् ने अपनी विलक्षण बुद्धि से केम्ब्रिज के गणितज्ञो को चकित कर दिया था।

उपसहार—भारत के भविष्य पर बहुत कुछ ससार का भविष्य निर्भर है। यह सबसे बडा पराधीन देश है। ब्रिटिश साम्राज्य की तो यह 'धुरी' है। परन्तु अब यहाँ स्वतन्त्रता की लहर उठ पडी है, जो दब नहीं सकती। ग्रेट ब्रिटेन को यह देखना चाहिए कि उसके राजनैतिक भविष्य पर असन्तुष्ट तथा दुखी भारत का क्या प्रभाव पड़ सकता है। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि असन्तुष्ट भारत उसके शत्रुओ के लिए बराबर षड्यन्त्र का क्षेत्र बना रहेगा। ऐसी परिस्थिति मे उसे भारत से समझौता कर लेना ही ठीक है। स्वर्गीय लाला लाजपतराय के शब्दो मे "विश्व की शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम और सहानुभूति, अँगरेज जाति का गौरव, मनुष्य-मात्र की उन्नति और संसार के आर्थिक मगल के लिए यह परमावश्यक है कि भारत में शान्ति के साथ प्रजातन्त्र शासन की सस्थाओ का विकास हो।" अँगरेज लोग इस निश्चित बात को जितना ही शीघ्र समझ ले उतना ही अच्छा है।[१]

भारत के सामने राजनैतिक के अतिरिक्त एक और जटिल समस्या है। संस्कृति तथा सभ्यता की दृष्टि से उसके और यूरोप के आदर्श तथा सिद्धान्तो मे बडा अन्तर है। यूरोप के साथ सम्बन्ध हो जाने से इन दिनो भारत के आचार-विचारो में बडा परिवर्तन हो रहा है। यह बात निश्चित है कि भारत अब पुरानी लकीर का फकीर नहीं रह सकता, अवस्था देखकर उसे अपनी व्यवस्था अवश्य बदलनी पडेगी। पर इसके साथ ही यूरोप की वर्तमान परिस्थिति का भी ध्यान रखना पडेगा। महायुद्ध के बाद से वहाँ के कई एक विचारशील विद्वानो को पाश्चात्य सभ्यता के सिद्धान्तों पर सन्देह होने लगा है और उनकी दृष्टि पूर्व की ओर फिर रही है। ऐसी दशा में भारत की आँखे क्या

---

१ लाला लाजपतराय, दुखी भारत, पृ० ४४५।

यूरोप की अवस्था पर पहुँचकर खुलेगी या वह उसकी भूलों से शिक्षा प्राप्त करके संसार का पथप्रदर्शक बनेगा ? अपने उच्च सिद्धान्तों के रहते हुए भी आज भारत निर्बल, दुखी तथा पराधीन है और धन तथा वैभव से सम्पन्न शक्तिशाली यूरोप अपनी अवस्था से असन्तुष्ट तथा भविष्य के लिए चिन्तित है। इसी से स्पष्ट है कि दोनों ने भूलें की है और एक दूसरे के गुणों की दोनों को आवश्यकता है। ऐसी परिस्थिति में पूर्व तथा पश्चिम के परस्पर सहयोग में ही विश्व तथा मानवजाति का हित दिखलाई पड़ता है।

संक्षिप्त विवरण

सन् १४६८ वास्कोडगामा का आगमन।
,, १५०६ एलबुकर्क की नियुक्ति।
,, १५१० गोआ पर पुर्तगालियों का अधिकार।
,, १५१५ एलबुकर्क की मृत्यु।
,, १५८० स्पेन और पुर्तगाल की एकता।
,, १५८८ स्पेन के जहाजी बेडा 'आर्मडा' पर अँगरेजों की विजय।
,, १६०० पहली ईस्ट इण्डिया कम्पनी।
,, १६०२ डच ईस्ट इंडिया कम्पनी।
,, १६०८ हाकिंस का जहाँगीर के दरबार में आगमन।
,, १६१२ सूरत मे अँगरेजों की कोठी।
,, १६१५ सर टामस रो का आगमन।
,, १६२२ हरमुज पर अँगरेजों का अधिकार।
,, १६२३ अम्बोयना का हत्याकाड।
,, १६४० मदरास की नींव।
,, १६६१ बम्बई की प्राप्ति।
,, १६६४ फ्रान्सीसी कम्पनी।
,, १६७४ पाण्डुचेरी की नींव।
,, १६८५ ईस्ट इंडिया कम्पनी का औरंगजेब के साथ झगड़ा।
,, १६६० कलकत्ता की नींव।
,, १६६८ नई ईस्ट इंडिया कम्पनी।
,, १७०२ दोनों कम्पनियों की एकता।
,, १७०८ संयुक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी।

सन् १७२२ हैदरअली का जन्म।
,, १७३२ सादतअली खाँ अवध का सूबेदार।
,, १७३५ ड्यूमा पाण्डुचेरी का गवर्नर।
,, १७४१ अलीवर्दी खाँ बंगाल का सूबेदार।
,, १७४२ डूप्ले पाण्डुचेरी का गवर्नर।
,, १७४६ फ्रांसीसियों के साथ अँगरेजों का पहला युद्ध, मदरास पर फ्रांसीसियों का अधिकार।
,, १७४८ पाण्डुचेरी के आक्रमण में अँगरेजों की असफलता, एलाशपल की सन्धि, निजाम आसफजाह की मृत्यु।
,, १७४६ मदरास अँगरेजों को वापस, कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन की मृत्यु, अम्बर की लड़ाई में चान्दा साहब की विजय।
,, १७५१ फ्रांसीसियों के साथ अँगरेजों का दूसरा युद्ध, चान्दा साहब द्वारा त्रिचनापल्ली का घेरा, अर्काट पर क्लाइव का अधिकार और उसकी रक्षा।
,, १७५२ त्रिचनापल्ली में फ्रांसीसियों की हार, चान्दा साहब की मृत्यु।
,, १७५४ डूप्ले की वापसी, शुजाउद्दौला अवध का नवाब।
,, १७५५ घेरिया पर क्लाइव और वाट्सन का आक्रमण।
,, १७५६ अलीवर्दी खाँ की मृत्यु, सिराजुद्दौला की नवाबी, कलकत्ता पर आक्रमण, कालकोठरी की दुर्घटना, फ्रांसीसियों के साथ तीसरा युद्ध।
,, १७५७ कलकत्ता में अँगरेजों की विजय, चन्द्रनगर पर अँगरेजों का अधिकार, पलासी का युद्ध, सिराजुद्दौला की मृत्यु, २४ परगना की प्राप्ति, मीरजाफर की पहली नवाबी।
,, १७५८ लैली का आगमन, सेंट डेविड के क़िले पर अधिकार, मदरास के आक्रमण में असफलता, उत्तरी सरकार में कर्नल फ़ोर्ड की विजय।
,, १७५६ बिदेरा में डच लोगों की हार, अलीगौहर की बंगाल पर चढ़ाई।

सन् १७६० वाडवाश के युद्ध मे फ्रासीसियो पर अँगरेजों की विजय, क्लाइव की वापसी, वैनसिटार्ट बगाल का गवर्नर, मीरक़ासिम की नवाबी ।

,, १७६१ पानीपत का तीसरा युद्ध, मराठों की पराजय, पेशवा बालाजी की मृत्यु, माधवराव बल्लाल पेशवा, पाडुचेरी पर अँगरेजी अधिकार, हैदरअली मैसूर का शासक ।

,, १७६३ मीरकासिम से झगडा, उदवानाला की लडाई मे उसकी हार, पटना का हत्याकाड, मीरजाफर की दूसरी नवाबी, फ्रासीसी युद्ध का अन्त, पेरिस की सन्धि, चन्द्रनगर तथा पाडुचेरी फ्रासीसियो को वापस ।

,, १७६४ बक्सर के युद्ध मे अँगरेजों की विजय ।

,, १७६५ क्लाइव की दूसरी गवर्नरी, मीरजाफर की मृत्यु, इलाहाबाद की सन्धि, दीवानी-प्रदान ।

,, १७६७ पहला मैसूर युद्ध, हैदर तथा निजाम की त्रिनोमली मे हार, क्लाइव की वापसी, वेरेल्स्ट बगाल का गवर्नर ।

,, १७६८ नैपाल मे गोरखों का राज्य ।

,, १७६९ कार्टियर की गवर्नरी, हैदर के साथ मदरास की सन्धि ।

,, १७७० बगाल तथा विहार में दुर्भिक्ष ।

,, १७७२ हेस्टिंग्ज बगाल का गवर्नर, पेशवा माधवराव की मृत्यु, नारायणराव पेशवा ।

,, १७७३ रेग्यूलेटिंग ऐक्ट ।

,, १७७४ रुहेला-युद्ध, हेस्टिंग्ज बगाल का गवर्नर-जनरल ।

,, १७७५ राघोबा के साथ सूरत की सन्धि, पहले मराठा युद्ध का आरम्भ, महाराजा नन्दकुमार को फासी, शुजाउद्दौला की मृत्यु, आसफुद्दौला अवध का नवाब ।

,, १७७६ पेशवा के साथ पुरन्धर की सन्धि, कर्नल मानसन की मृत्यु ।

,, १७७८ फ्रासीसियो के साथ युद्ध ।

सन् १७७६ मराठों के साथ वडगाव का समझौता।
,, १७८० फ्रांसिस की वापसी, ग्वालियर पर अँगरेज़ों का अधिकार, दूसरा मैसूर युद्ध, कर्नाटक पर हैदर का आक्रमण, कर्नल बेली की दुर्दशा, रणजीतसिंह का जन्म।
,, १७८१ पोर्टोनोवो की लड़ाई में हैदर की हार, बनारस के राजा चेतसिंह का झगड़ा।
,, १७८२ अवध की बेगमों की लूट, मराठों के साथ सालबाई की सन्धि, कर्नल ब्रेथवेट पर टीपू की विजय, हैदर की मृत्यु।
,, १७८३ फ्रांसीसियों के साथ सन्धि।
,, १७८४ माहादजी सिन्धिया का प्रभुत्व, टीपू के साथ मंगलोर की सन्धि, पिट का इण्डिया ऐक्ट।
,, १७८५ हेस्टिंग्ज का इस्तीफा।
,, १७८६ लार्ड कार्नवालिस गवर्नर-जनरल।
,, १७८८ गुलामकादिर की निष्ठुरता।
,, १७९० तीसरा मैसूर युद्ध, मराठा और राजपूतों के बीच पाटन की लड़ाई।
,, १७९१ मराठों के साथ मिरथा की लड़ाई में राजपूतों की हार।
,, १७९२ टीपू के साथ श्रीरंगपट्टन की सन्धि।
,, १७९३ फ्रांस की राज्यक्रान्ति का आरम्भ, बंगाल में इस्तमरारी बन्दोबस्त, कम्पनी का नया आज्ञापत्र।
,, १७९४ माहादजी सिन्धिया की मृत्यु।
,, १७९५ सर जान शोर गवर्नर-जनरल, खर्दा की लड़ाई में निजाम पर मराठों की विजय, सवाई माधवराव पेशवा की मृत्यु, बनारस में इस्तमरारी बन्दोबस्त, अहिल्याबाई की मृत्यु।
,, १७९६ दूसरा बाजीराव पेशवा।
,, १७९८ सादतअली खाँ अवध का नवाब, सर जान शोर की वापसी, लार्ड वेलेज़ली गवर्नर-जनरल, निज़ाम के साथ सन्धि।

सन् १७९९	चौथा मैसूर युद्ध, टीपू की मृत्यु, तंजोर और सूरत का अपहरण, रणजीतसिंह लाहोर का राजा।
,, १८००	नाना फडनवीस की मृत्यु, हैदराबाद की सहायक सन्धि।
,, १८०१	कर्नाटक का अपहरण, अवध के साथ ज्यादती, लखनऊ की सन्धि।
,, १८०२	फ्रांसीसियों के साथ अमीन्स की सन्धि, पूना पर होलकर का अधिकार बाजीराव के साथ बेसीन की सन्धि।
,, १८०३	दूसरा मराठा युद्ध, अलीगढ, दिल्ली, असेई, लासवाडी, अरगाव की लडाइयाँ, भोसला के साथ देवगाव की सन्धि, सिन्धिया के साथ अर्जुनगाव की सन्धि।
,, १८०४	होलकर के साथ युद्ध, मानसन की हार, डीग की लडाई।
,, १८०५	भरतपुर के आक्रमण में असफलता, वेलेजली की वापसी, लार्ड कार्नवालिस दूसरी बार गवर्नर-जनरल, लार्ड कार्नवालिस की मृत्यु, सर जार्ज बार्लो गवर्नर-जनरल, मराठों के साथ सन्धियाँ।
,, १८०६	विल्लोर का उपद्रव।
,, १८०७	लार्ड मिंटो गवर्नर-जनरल।
,, १८०८	फारस और काबुल के साथ सम्बन्ध।
,, १८०९	रणजीतसिंह के साथ अमृतसर की सन्धि, मदरास में सैनिक उपद्रव।
,, १८१०	फ्रांसीसी द्वीपों पर अधिकार।
,, १८११	जावा की विजय।
,, १८१३	कम्पनी का आज्ञापत्र, लार्ड हेस्टिंग्ज गवर्नर-जनरल।
,, १८१४	नेपाल-युद्ध, अवध के नवाब सादतअली की मृत्यु।
,, १८१६	सिगाली की सन्धि।
,, १८१७	पिंडारी और मराठा युद्ध, खडकी, सीतावलदी, नागपुर और महीदपुर की लडाइयों में अँगरेजों की विजय।
,, १८१८	कोरेंगाव और आष्टी की लडाइयाँ, पेशवाई का अन्त।

सन् १८१६ गाजीउद्दीन अवध का पहला बादशाह।
,, १८२० सर टामस मानरो मदरास का गवर्नर।
,, १८२३ लार्ड हेस्टिंग्ज की वापसी, लार्ड एमहर्स्ट गवर्नर-जनरल।
,, १८२४ पहला बर्मा युद्ध, बारिकपुर का विद्रोह।
,, १८२६ भरतपुर किले का पतन, बर्मियों के साथ याण्डबू की सन्धि।
,, १८२७ दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु।
,, १८२८ एमहर्स्ट का इस्तीफा, लार्ड विलियम बेंटिंक गवर्नर-जनरल।
,, १८२९ सती-प्रथा का अन्त, ठगी का दमन, ब्रह्मसमाज की स्थापना।
,, १८३० कचार की जब्ती।
,, १८३१ मैसूर का राजा पदच्युत, रणजीतसिंह के साथ रूपुर में भेंट।
,, १८३३ कम्पनी का आज्ञापत्र।
,, १८३४ कुर्ग का अपहरण।
,, १८३५ अँगरेजी शिक्षा का निर्णय, बेंटिंक की वापसी, दोस्तमुहम्मद काबुल का अमीर।
,, १८३६ लार्ड आकलैंड गवर्नर-जनरल।
,, १८३७ रानी विक्टोरिया को गद्दी, बर्न्स की काबुलयात्रा, उत्तरी भारत का अकाल।
,, १८३८ रणजीतसिंह तथा शाहशुजा के साथ सन्धि, अफगान-युद्ध की घोषणा।
,, १८३९ रणजीतसिंह की मृत्यु, गजनी की विजय, काबुल पर अधिकार।
,, १८४० अफगानियों का विद्रोह।
,, १८४१ बर्न्स और मैकनाटन का वध।
,, १८४२ अकबरखाँ के साथ सन्धि, अँगरेजी सेना की दुर्दशा, आकलैंड की वापसी, लार्ड एलिनबरा गवर्नर-जनरल, जलालाबाद की रक्षा, काबुल की विजय।
,, १८४३ मियानी की लड़ाई, सिन्ध का अपहरण, महाराजपुर और पनियर की लड़ाई में सिन्धिया की हार।

सन् १८४४ लार्ड एलिनबरा की वापसी, हेनरी हार्डिज गवर्नर-जनरल।
" १८४५ पहला सिख युद्ध, मुदकी और फीरोजशहर की लड़ाइयाँ।
" १८४६ अलीवाल और सोब्रॉव की लड़ाइयां, अँगरेजों की विजय, लाहौर की सन्धियाँ।
" १८४८ हार्डिंज की वापसी, लार्ड डलहौजी गवर्नर-जनरल, मूलराज का विद्रोह, दूसरा सिख युद्ध, सतारा के राजाओं का अन्त।
" १८४९ चिलियानवाला और गुजरात की लड़ाइयाँ, पंजाब का अपहरण।
" १८५२ दूसरा बर्मी युद्ध, पीगू पर अधिकार।
" १८५३ भारत में पहली रेल, कम्पनी का अन्तिम आज्ञापत्र।
" १८५६ अवध का अपहरण, डलहौजी की वापसी, लार्ड कैनिंग गवर्नर-जनरल।
" १८५७ सिपाही-विद्रोह, मेरठ, दिल्ली, बरेली, लखनऊ तथा झाँसी में उपद्रव।
" १८५८ विद्रोह की शान्ति, कम्पनी का अन्त, विक्टोरिया का घोषणा-पत्र, लार्ड कैनिंग पहला वाइसराय।
" १८५९ तात्या टोपे को फाँसी।
" १८६१ हाईकोर्टों की स्थापना, इंडियन कौंसिल ऐक्ट।
" १८६२ लार्ड एलगिन वाइसराय, अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह की मृत्यु।
" १८६३ अमीर दोस्तमुहम्मद की मृत्यु।
" १८६४ सर जान लारेन्स वाइसराय।
" १८६८ शेरअली काबुल का अमीर।
" १८६९ लार्ड मेयो वाइसराय, अम्बाला में शेरअली के साथ भेंट, ड्यूक आफ एडिनबरा का आगमन।
" १८७२ लार्ड मेयो का वध, लार्ड नार्थब्रुक वाइसराय।
" १८७५ मल्हारराव गायकवाड पदच्युत, आर्य्यसमाज की स्थापना, युवराज (प्रिंस आफ वेल्स) एडवर्ड की यात्रा।

सन् १८७६ लार्ड लिटन वाइसराय, इँगलैंड के शासकों को 'कैसरे-हिन्द' की उपाधि, दक्षिण में दुर्भिक्ष।
,, १८७७ दिल्ली का दरबार।
,, १८७८ वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट, दूसरे अफगान-युद्ध का आरम्भ।
,, १८८० लार्ड लिटन का इस्तीफा, लार्ड रिपन वाइसराय।
,, १८८१ मैसूर की वापसी, पहली मनुष्य-गणना।
,, १८८२ वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट रद्द।
,, १८८४ लार्ड डफरिन वाइसराय।
,, १८८५ इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना, पजदेह की घटना, तीसरा बर्मी युद्ध।
,, १८८६ बर्मा के राज्य का अन्त।
,, १८८८ लार्ड लैंसडौन वाइसराय।
, १८९१ मनीपुर का उपद्रव।
,, १८९२ दूसरा इंडियन कौंसिल ऐक्ट।
,, १८९४ दूसरा लार्ड एलगिन वाइसराय।
,, १८९५ चितराल पर धावा।
,, १८९६ प्लेग और अकाल।
,, १८९७ तीराह पर आक्रमण।
,, १८९९ लार्ड कर्जन वाइसराय।
,, १९०१ विक्टोरिया की मृत्यु, सातवां एडवर्ड सम्राट्, हबीबुल्ला अफगानिस्तान का अमीर, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त।
,, १९०३ तिब्बत पर धावा, दिल्ली में दरबार।
,, १९०४ यूनिवर्सिटीज ऐक्ट।
,, १९०५ बंग-विच्छेद, स्वदेशी आन्दोलन, दूसरा लार्ड मिंटो वाइसराय।
,, १९०६ मुसलिम लीग।
,, १९०७ कांग्रेस में फूट।
,, १९०८ क्रान्तिकारी दल, बम से हत्याएँ।

सन् १९०९ मार्ले-मिंटो सुधार।
,, १९१० दूसरा लार्ड हार्डिंज वाइसराय।
,, १९११ सम्राट् पाँचवें जार्ज का दिल्ली में राज्याभिषेक, बंग-विच्छेद रद्द।
,, १९१२ बिहार और उड़ीसा का नया प्रान्त।
,, १९१३ दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह।
,, १९१४ यूरोपीय महायुद्ध का आरम्भ।
,, १९१६ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना, लार्ड चेम्सफर्ड वाइसराय, कांग्रेस में एका, हिन्दू-मुसलमानों का निर्वाचन-सम्बन्धी समझौता।
,, १९१७ बगदाद विजय, मेसोपोटामिया कमीशन, पार्लामेंट में भारत-सचिव की विज्ञप्ति।
,, १९१८ माटेग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट, रौलट कमेटी रिपोर्ट, रौलट-ऐक्ट, महायुद्ध का अन्त।
,, १९१९ रौलट-ऐक्ट सत्याग्रह, जलियानवाला बाग का हत्याकांड, हंटर कमेटी की नियुक्ति, सुधार-कानून, अमानुल्ला अफगानिस्तान का बादशाह, तीसरा अफग़ान-युद्ध।
,, १९२० खिलाफत का झगड़ा, लोकमान्य तिलक की मृत्यु, असहयोग आन्दोलन का आरम्भ, लिबरल फेडरेशन।
,, १९२१ लार्ड रीडिंग वाइसराय, प्रिंस ऑफ वेल्स का बहिष्कार, मोपला विद्रोह, चौरीचौरा की दुर्घटना, बारडोली-निर्णय, सविनय-अवज्ञा स्थगित, अकाली आन्दोलन, अमानुल्ला के साथ सन्धि।
,, १९२२ माटेग्यू का इस्तीफा, महात्मा गान्धी को जेल, स्वराज्य दल।
,, १९२४ खिलाफत का अन्त, हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा, कटारपुर और कोहाट की दुर्घटनाएँ, दिल्ली में एकता सम्मेलन।
,, १९२६ लार्ड अरविन वाइसराय, कृषि कमीशन।
,, १९२७ साइमन कमीशन की नियुक्ति।

सन् १९२८ नेहरू कमेटी रिपोर्ट, साइमन कमीशन का बहिष्कार, लाला लाजपतराय की मृत्यु, कलकत्ता में सर्वदल सम्मेलन, ।
,, १९२९ औपनिवेशिक स्वराज्य के सम्बन्ध में लार्ड अरविन की विज्ञप्ति, बाल-विवाह-निषेध कानून, पूर्ण स्वराज्य कांग्रेस का ध्येय ।

बंगाल के गवर्नर-जनरल

,, १७७४ वारेन हेस्टिंग्ज ।
,, १७८५ सर जान मैकफर्सन ।
,, १७८६ लार्ड कार्नवालिस ।
,, १७९३ सर जान शोर ।
,, १७९८ सर अल्यौड क्लार्क *।
,, १७९७ लार्ड वेलेजली ।
,, १८०५ लार्ड कार्नवालिस दूसरी बार, सर जार्ज बार्लो , पहला लार्ड मिंटो ।
,, १८१३ लार्ड हेस्टिंग्ज ।
,, १८२३ जान ऐडम , लार्ड एमहर्स्ट ।
,, १८२८ बटरवर्थ बेली, लार्ड विलियम बटिंक ।

भारत के गवर्नर-जनरल

,, १८३३ लार्ड विलियम बेंटिंक ।
,, १८३५ सर चार्ल्स मेटकाफ ।
,, १८३६ लार्ड आकलेंड ।
,, १८४२ लार्ड एलिनबरा ।
,, १८४४ लार्ड हार्डिंज ।

---

* अस्थायी या स्थानापन्न ।

सन् १८४८ लार्ड डलहौजी।
,, १८५६ लार्ड कैनिंग।

गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय

,, १८५८ लार्ड कैनिंग।
,, १८६२ पहला लार्ड एलगिन।
,, १८६३ सर राबर्ट नेपियर, सर विलियम डेनिसन* ।
,, १८६४ सर जान लारेंस।
,, १८६९ लार्ड मेयो।
,, १८७२ सर जान स्ट्रैची, लार्ड नेपियर, लार्ड नार्थब्रुक।
,, १८७६ लार्ड लिटन।
,, १८८० लार्ड रिपन।
,, १८८४ लार्ड डफ़रिन।
,, १८८८ लार्ड लैंसडौन।
,, १८९४ दूसरा लार्ड एलगिन।
,, १८९९ लार्ड कर्जन।
,, १९०४ लार्ड एमथिल, लार्ड कर्जन दूसरी बार।
,, १९०५ दूसरा लार्ड मिंटो।
,, १९१० दूसरा लार्ड हार्डिंज।
,, १९१६ लार्ड चेम्सफर्ड।
,, १९२१ लार्ड रीडिंग।
(छुट्टी के अवसर पर बंगाल का गवर्नर लार्ड लिटन स्थानापन्न)
,, १९२६ लार्ड अरविन।
(छुट्टी के अवसर पर मदरास का गवर्नर लार्ड गोशेन स्थानापन्न)

---

* अस्थायी या स्थानापन्न।

ख

ग

ढ

त

प

भ

य

र

ल

ल

ह